प्रथम संस्करण : १९५९

मूल्य ८'५० न० पै०

आठ रुपया, पँचास नए पैसे

प्रकाशक :

नरेन्द्रकुमार माहेश्वरी
भारत पब्लिकेशन्स,
बेलनगंज, आगरा।

प्रथम संस्करण : १९५९

मूल्य ८·५० न० पै०
आठ रुपया, पँचास नए पैसे

प्रकाशक :
नरेन्द्रकुमार माहेश्वरी
भारत पब्लिकेशन्स,
बेलनगंज, आगरा।

तथा सहायता प्राप्त कर सकेंगे। यद्यपि इस पुस्तक में वर्णित शिक्षा तथा शिक्षण-सिद्धान्त विख्यात शिक्षा-शास्त्रियों के हैं, तथापि भारतीय पृष्टभूमि में इन सिद्धान्तों के महत्व को स्पष्ट करने की चेष्टा लेखक महोदय ने भरपूर की है। उनका प्रयास अथवा उनकी इच्छा तो तभी पूरी होगी जब हमारे शिक्षक इस पुस्तक से लाभान्वित होकर शिक्षा-क्षेत्र के प्रत्येक अंग में नव जागरण तथा नव दृष्टिकोण भर देने का श्रम करेंगे।

इस पुस्तक को लिखकर लेखक ने समस्त अध्यापक वर्ग की अपरिमित सेवा की है। मैं तो यह भी कहूंगा कि इस पुस्तक की उपयोगिता उन अध्यापकों के लिए भी बहुत है जिन्होंने कोई प्रशिक्षण नहीं प्राप्त किया है। खेद की बात है कि अभी हमारे देश में ऐसे ही शिक्षकों की संख्या प्रशिक्षित अध्यापकों की अपेक्षा अधिक है। प्रशिक्षित अध्यापकों को भी अपने पूर्वार्जित ज्ञान का पुनरावलोकन करने में यह पुस्तक सहायता प्रदान कर सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

पटना ट्रेनिंग कालेज,
पटना—४
२५—३—१९५९

डी० पी० गुप्त,
एम०ए०, एम०एड०, पी-एच०डी०,
डिप-इन-ई०ई०टी० ऐण्ड पी०(लन्दन)
प्रिन्सीपल

इस पुस्तक की रचना में जिन ग्रन्थों से सहायता मिली है उनके रचियाताओं के प्रति लेखक अपना आभार प्रकट करता है। श्री के० जी० सईदेन, शिक्षा-सचिव, शिक्षा-मन्त्रणालय, भारत सरकार, दिल्ली ने समर्पण के सम्बन्ध में लेखक का अनुरोध स्वीकार किया। इसके लिए लेखक सईदेन साहब का बड़ा ही अनुगृहीत है। पुस्तक के प्रकाशन में समुचित सहयोग के लिए लेखक अपने प्रकाशक श्री नरेन्द्र कुमार माहेश्वरी को हृदय से धन्यवाद देता है।

गुरुवार, बसन्त, सम्वत् २०१५,
फरवरी १२, १९५९
कर्मभूमि, महानगर
लखनऊ।

सरयू प्रसाद चौबे

तृतीय खण्ड : शिक्षण योग प्रदर्शक

षष्ठम खण्ड : मनोविज्ञान

सप्तम खंड : विद्यालय संगठन

प्रथम खण्ड :

शिक्षा के कुछ मूल तत्व

को शिक्षा प्राप्त करने और परीक्षा के लिए अपनी पाठ्य-पुस्तक का स्मरण रखने के लिए आवश्यक है कि वह गुरु का अधिक से अधिक आज्ञा-पालक बने।

इसमें कोई भ्रम नहीं कि शिक्षा-क्षेत्र में ज्ञान अपना महत्त्व रखता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शिक्षा से रुचि न रखने वाले विद्यार्थियों में भी इसे भय द्वारा भरा जाय। विद्यार्थी का कर्तव्य है कि वह अपने अनुभव से ही ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करे। अध्यापक को शिक्षा देते समय ध्यान रखना चाहिए कि वह इस ढंग से शिक्षा दे कि विद्यार्थी को प्रस्तुत पाठ के पूर्व का भी ध्यान आ जाय, जिसकी सहायता से वह नवीन अंशों की व्याख्या करेगा। यदि शिक्षक इन सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करता तो विद्यार्थी अशुद्ध या कुछ अंश तक ही अर्थ लगा सकेगा। उसकी शिक्षा अपूर्ण रह जायेगी। शिक्षक का कर्तव्य तो केवल विद्यार्थी का पथ-प्रदर्शन करना और उसे नवीन विषयों का अध्ययन करने के लिए उत्साहित करना है। विद्यार्थियों के मस्तिष्क में ज्ञान का हठात् भरना अनुचित है, इससे शिक्षक अपने उद्देश्य से दूर हटता है। ज्ञान के इच्छुक विद्यार्थी तो स्वयं अपने परिश्रम से ही ज्ञान उपलब्ध कर लेते हैं।

शिक्षा मानसिक विनय के लिए :

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अधिकांश शिक्षकों का शक्ति-मनोविज्ञान[1] में विश्वास था। शक्ति-मनोविज्ञान के अनुसार मस्तिष्क विभिन्न शक्तियों का पुंज है और इन विभिन्न शक्तियों के विकास के लिए विभिन्न विषयों का पढ़ाया जाना आवश्यक है। इस धारणा में विश्वास करने वालों के अनुसार विद्यार्थियों में विनम्रता लाने के लिये शिक्षा देना शिक्षा का एक प्रधान उद्देश्य है। शिक्षा का यह सिद्धान्त बहुत काल तक चलता रहा; किन्तु आगे चल कर रूसो[2], पेस्तालॉजी[3] तथा हरबार्ट[4] आदि विद्वानों ने इसके विरुद्ध आन्दोलन उठाया। शक्ति-मनोविज्ञान में विश्वास करने वालों के अनुसार पाठ्य वस्तु को निश्चित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि पुस्तकें ऐसी हों जिनके अध्ययन से विद्यार्थियों के

---

1. Faculty Psychology. 2. Rousseau. 3. Pestalozzi. 4. Herbart.

काल के समाज की आवश्यकतायें तथा भविष्य के लिये एक योग्य संगठन बनाने का ध्येय रखना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो बालकों के मस्तिष्क की प्रगति ही रुक जायगी या समाज का संगठन नियम के विरुद्ध होगा।

व्यक्ति स्वयं अपने भविष्य का निर्माता होता है, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं अपने लिये सोचे और किसी भी बात के लिए दूसरे पर निर्भर न हो, किन्तु यह तभी संभव है कि जब व्यक्ति को स्वयं सोचने का अवसर प्रदान किया जाय। यदि उसकी स्वाभाविक शक्ति को रोक कर उसे अरुचिकर मार्ग की ओर ले जाया जायगा तो वह अपना व्यक्तित्व खो बैठेगा और सदैव परमुखापेक्षी हो जायगा। उसकी आलोचनात्मक शक्ति नही के बराबर होगी, और वह अंधविश्वासी बन जायगा। वास्तविक शिक्षा वह है जिसे व्यक्ति स्वयं अपने अनुभव से प्राप्त करे। किंडरगार्टन तथा मॉन्तेसरी शिक्षा-पद्धतियाँ बालक की निजी शिक्षा पर ही आधारित हैं। बालको पर हठात् शिक्षा का भार लादना उसके अहित की बात करनी होगी।

प्राय: ऐसा देखा जाता है कि लोग विद्यालय से प्राप्त शिक्षा को ही शिक्षा के अर्थ में प्रयोग करते हैं, किन्तु उनका यह भ्रम है। मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में कुछ न कुछ अनुभव करता है। विद्यालयों की शिक्षण-विधि को आजकल विद्वानों ने आलोचनात्मक दृष्टि से देखा है, क्योंकि इस पद्धति की शिक्षा में बालक के व्यावहारिक गुण पर ध्यान न देकर पुस्तकीय शिक्षा पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से शिक्षित व्यक्ति भी व्यवहारकुशल नही बन पाते और वे अशिक्षित के ही तुल्य होते हैं। इस पद्धति की शिक्षा का एक दोष यह भी है कि बालक का व्यक्तित्व संकुचित हो जाता है। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य ज्ञानार्जन न होकर बालक को व्यवहारशील बनाना होना चाहिए। यही वास्तविक शिक्षा है। ज्ञान वही है जिसे बालक अपने अनुभव से प्राप्त करता है। डिवी ने भी बालक के अनुभव से प्राप्त शिक्षा और स्वाभाविक क्रियाशीलता का समर्थन किया है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिक्षा का कार्य केवल ज्ञानार्जन कराना ही नही है वरन् बालक को अनुभव भी देना है। अतएव शिक्षा का क्षेत्र केवल विद्यालयों की सीमा में ही सीमित नहीं किया जा सकता।

शिक्षक का कार्य बालक का पथ-प्रदर्शन करना है। अध्यापक उसे शिक्षा नहीं देता। यद्यपि ऐसा सुना जाता है कि अमुक अध्यापक विद्यार्थी को पढ़ाता है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं। बालक तो स्वयं अपने अनुभव से शिक्षा प्राप्त करता है। हाँ, अध्यापक का अनुभव बालक से अधिक होता है जिससे बालक लाभ उठा सकता है। शिक्षक का यह सोचना कि वह बालक को पढ़ाता है, उसका भ्रम है। विद्यालय एक ऐसी संस्था है, जहाँ समानता का अधिकार प्रत्येक बालक को प्राप्त रहता है। धनी-गरीब, ऊँच-नीच का भेद-भाव वहाँ नहीं रहता। जो भी आयोजन विद्यालय में होता है उसकी सफलता का उत्तरदायित्व प्रत्येक व्यक्ति या बालक पर समान रूप से रहता है। अतएव सभी विद्यार्थी यथाशक्ति सहयोग देते हैं। ऐसी आयोजनायें बनाते समय सभी बालकों के हित का ध्यान रखना पड़ता है। इन कार्यों के करने में न केवल बालकगण ही शिक्षा प्राप्त करते है, वरन् अध्यापक भी कुछ सीखते हैं। अध्यापक भी विद्यालय का एक सदस्य होता है। ऐसी आयोजनाओं से बालक तथा अध्यापक दोनों के व्यवहार में सुधार होता रहता है।

सारांश

शिक्षा के उद्देश्य के बारे में एकमत का होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इसके निर्धारण में व्यक्ति अथवा समाज के जीवन-दर्शन का प्रभाव पड़ता है और इस जीवन-दर्शन में विभिन्नता एकदम स्वाभाविक है।

पहले शिक्षा का तात्पर्य बालक को ज्ञान देना तथा उसे मानसिक विनय देना समझा जाता था। परन्तु अब ये दोनों दृष्टिकोण अपर्याप्त समझे जाते हैं। अब बालक का स्वाभाविक विकास और अनुभव ही वास्तविक शिक्षा का प्रतीक माना जाता है।

शिक्षा दो प्रकार की हो सकती है :—१—अविधिक और २—सविधिक

अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) शिक्षा से आप क्या समझते हैं। शिक्षा के प्राचीन और आधुनिक तात्पर्य में क्या अन्तर है ?

(२) "बालक का स्वाभाविक विकास और अनुभव ही शिक्षा है"— इस कथन की समीक्षा कीजिए।

इन ध्येयों पर दृष्टिपात करने से शिक्षा के दो ध्येय ही प्रधान रूप से ज्ञात होते है, व्यक्तिगत और सामाजिक, देखने में ये दोनों एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नही है। नीचे हम इन्हीं पर प्रकाश डालेंगे।

शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य :

भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति वैयक्तिक सिद्धान्त पर ही आधारित थी। प्राचीन यूनान के सोफिस्ट भी इसी सिद्धान्त के अनुयायी रहे है। वे लोग शिक्षा को साधन मानकर व्यक्ति में सत्यं शिवं सुन्दरं की उन्नति करना अपना ध्येय रखते थे। उनके अनुसार शिक्षा का ध्येय व्यक्ति को उन्नति की चरमावस्था पर पहुँचाने से था। रूसो, पेस्तालॉजी तथा फ्रोबेल भी इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। मध्ययुग में ईसाई शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का ध्येय कठोर नियमों का पालन कराके व्यक्ति को पाप से रहित करना था।

शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य को मानने वाले निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं :—

१. समाज का निर्माण व्यक्ति अपने लाभ के लिये ही करता है। अतएव व्यक्ति ही प्रधान तत्व है। शिक्षा का ध्येय मनुष्य की उन्नति के बीच आई हुई कठिनाइयों को दूर करना है। शिक्षा मनुष्य की उन्नति की एक प्रक्रिया है और अध्यापक का कार्य इस प्रक्रिया को सुचारु रूप से चलाना है।

२. सम्पूर्ण समाज से मान्यता प्राप्त बातें सर्वदा के लिए स्थिर और अपरिवर्तनशील होती हैं।

३. सम्पूर्ण समाज से मान्य बातें व्यक्ति के हृदय में वर्तमान रहती हैं जो उन्नति के शिखर पर पहुँचना चाहती हैं।

शिक्षा में पाठ्य-वस्तु का निर्धारण इस प्रकार करना चाहिए कि उसे पढ़कर विद्यार्थी उन्नति कर सके, क्योंकि किसी भी शास्त्र का अध्ययन व्यक्तित्व का विकास करना होता है। व्यक्ति की रुचियों में विभिन्नता पाई जाती है, अतएव सभी के लिए एक ही पाठ-वस्तु का निर्धारण करना उनकी उन्नति में बाधा डालना है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि सबके लिये पृथक्-

व्यवहार का वह अनुकरण करता है। बच्चा अनुकरण करने में दक्ष होता है। इस प्रकार शिक्षा से व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है। शिक्षा के सामूहिक ध्येय के अनुयायी बालक की किसी जन्म-जात सम्भावनाओं में विश्वास नहीं करते। सभी मनुष्यों के व्यवहार में कुछ समानतायें पाई जाती है क्योंकि यही एक तत्व है, जो व्यक्ति को समाज में रहने के योग्य बनाता है। बालक अपने सभी प्रकार के विचारों को अर्जित करता है। शिक्षा का ध्येय मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाने का होता है। शिक्षा को साधन बनाकर मनुष्य अपने को ऐसे साँचे में ढाल लेता है कि वह समाज में रह कर सुखी जीवन व्यतीत कर सके। व्यक्ति सुखी तभी बन सकता है जब कि सामाजिक उत्तरदायित्व का पूर्ण रूप से वह पालन कर सके। शिक्षा का कार्य मनुष्य के कार्यों में सहयोग देना है।

शिक्षा के सामूहिक ध्येय के अनुसार पाठ्य-वस्तु का निर्वाचन सामाजिक स्रोत से होना चाहिए। जो वस्तु समाज के लिए उपयोगी है वही व्यक्ति के लिए भी है। अतएव उन्हीं बातों को पाठ्य-वस्तु में रखना चाहिए। स्कूल भी एक छोटा सा समाज है। उसमें शिक्षा प्राप्त करके छात्र अपने जीवन में उतना ही सफल हो सकेगा जितना कि वह विद्यालय में सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व करेगा। समाज में होने वाली और स्कूल में होने वाली क्रिया-शीलताओं में कोई भेद नहीं होना चाहिए। बालक के लिए समाज भी एक पुस्तक है जिसका उसे विशेष अध्ययन करना पड़ता है।

उपर्युक्त बातों से हम देखते है कि शिक्षा के वैयक्तिक और सामाजिक ध्येय में अन्तर स्पष्ट दिखाई दे रहा है। वैयक्तिक सिद्धान्त बालक को स्वतंत्र छोड़ना चाहता है, किन्तु सामाजिक सिद्धान्त उसको समाज की सीमा में बाँधना चाहता है, प्रथम सिद्धान्त के अनुयायियों के अनुसार पाठ्य-वस्तु का निर्वाचन बालक की रुचि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग-अलग होना चाहिए। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार समाज की आवश्यकतानुसार सबके लिए एक ही पाठ्य-वस्तु हो सकती है। प्रथम सिद्धान्त बालक की जन्मजात् सम्भावनाओं पर विश्वास करता है, किन्तु दूसरा सिद्धान्त इसका विरोधी है।

बिना समाज भी नहीं हो सकता। व्यक्ति की देन से ही समाज का क्रमानुसार विकास होता रहता है। समाज भी व्यक्ति को शिक्षा देता है, उसे सामाजिक गुणों से परिचित करता है। बालक का जन्म, पालन-पोषण और मृत्यु समाज में ही होती है। यदि इस आदर्श को ध्यान में रखकर देखा जाय तो दोनों में विरोध नहीं है। एक की उन्नति दूसरे की उन्नति है। आधुनिक काल में आदर्श स्थिति की प्राप्ति अभी तक नहीं हो सकी है। अतएव दोनों में विरोध होना स्वाभाविक ही है। व्यक्ति और समाज को एक दूसरे के लिए जीवित रहना है। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए हमें यह सोचना होगा कि व्यक्ति और समाज अन्तर्गत व्यक्ति को दोनों में किसकी अधिक आवश्यकता है। हम यह कह सकते है कि समाज का सर्वतोन्मुखी विकास करना शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति में व्यक्ति और समाज दोनों का हित समान रूप से दिखाई देता हैं। उपर्युक्त दो ध्येयों के अतिरिक्त शिक्षा के कुछ अन्य ध्येय भी बताये जाते हैं। किन्तु ये ध्येय इन्हीं दो ध्येयों पर ही आधारित है।

सारांश

शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य : भारत की शिक्षा-प्रणाली इसी मार्ग का अनुसरण करती है। शिक्षा का ध्येय व्यक्ति का विकास करना है। मनुष्य अपने लाभ के लिए ही समाज की रचना करता है। शिक्षा व्यक्ति के विकास की एक प्रक्रिया है। सभी छात्रों के लिए एक समान पाठ्य-वस्तु का निर्वाचन करना हितकर नहीं। शिक्षा के तत्वों का निश्चय बालकों की इच्छा पर निर्भर होना चाहिए। बालक की शिक्षा उसके अनुभव से होती है।

शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य : शिक्षा का उद्देश्य भविष्य के जीवन को सुखी बनाना, सामाजिक उत्तरदायित्वों को सम्भालने के योग्य बनाना और सामाजिक गुणों का विकास करना है। वाह्य वस्तु का निर्वाचन सामाजिक आवश्यकता के अनुकूल होना चाहिए। विद्यालय एक सीमित समाज है।

शिक्षा-प्रणाली पर इन दोनों उद्देश्यों का प्रभाव पड़ता है। वैयक्तिक ध्येय के अनुसार शिक्षा को बाल-केन्द्रित कर देना चाहिए। सामाजिक ध्येय के प्रभाव

३

विकास तथा शिक्षा[1]

मानव जीवन विभिन्न भागों में बाँटा गया है। सामान्यतः शैशव पाँच वर्ष तक, बाल्यकाल बारह वर्ष तक तथा कैशोर इक्कीस वर्ष तक माना जाता है। परन्तु परिपक्वावस्था और वृद्धावस्था का कोई निश्चित काल नहीं है। वस्तुत: ये काल व्यक्तिगत स्वास्थ्य पर निर्भर होते हैं।

शैशव[2]

विभिन्न विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि शैशव शारीरिक तथा मानसिक विकास के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ; फ्रॉयड का विश्वास है कि मनुष्य चार या पाँच वर्ष के अन्दर ही जो कुछ बनने को रहता है बन जाता है। यद्यपि मनुष्य मानसिक तथा शारीरिक विकास कुछ आयु तक निरन्तर करता रहता है परन्तु जिस तीव्रता से विकास शैशव में होता है उसकी तुलना अन्य किसी भी अवस्था से नहीं की जा सकती।

यह देखा गया है कि बालक तथा बालिका एक ही गति से विकास नहीं करते। कभी बालक आगे बढ़ जाता है तो कभी बालिका। उदाहरण के लिए, पाँच वर्ष के अन्तर्गत बालक अधिक विकास करता है, परन्तु दस वर्ष से पन्द्रह वर्ष के अन्तर्गत बालिका का विकास अधिक होता है। बालक पन्द्रह वर्ष के उपरान्त फिर आगे बढ़ जाता है। प्राय: यह देखा गया है कि मस्तिष्क की तोल सात वर्ष तक पूरी हो जाती है, फिर उसके बाद उसका विकास नहीं होता।

मानसिक विकास तथा शैशव[3]

मॉन्तेसरी तथा फ्रोबेल का मत है कि इस काल में मानसिक विकास सबसे अधिक होता है। भूख, प्यास, भोजन तथा शौच आदि शारीरिक

---

1 Child Development and Education.
2 Infancy. 3 Mental Development and Infancy.

स्वार्थी बन जायगा। अतः माता पिता को मनोवैज्ञानिक रीति से बालक का पालन-पोषण करना चाहिए। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास[1] के लिए यह आवश्यक है कि शैशव से ही बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास की ओर ध्यान दिया जाय।

अनुकरण[2] और आविष्कार[3] बालक को सीखने में सहायता करते हैं, परन्तु प्रारम्भ में वह अपनी बुद्धि तथा सामाजिक वातावरण के कारण सीखना प्रारम्भ कर देता है। अंगों के विकास के साथ ही वह उनका प्रयोग सीख जाता है और इस प्रकार इन्द्रियों का अनुभव तथा अपनी गति में सामंजस्य पाता है। रूसो का मत है कि हमारे हाथ, पाँव और आँखें प्रारम्भिक गुरु हैं। ढाई वर्ष का हो जाने पर बालक कुछ भाषा का प्रयोग सीख लेता है और अपनी आवश्यकता के अनुसार इच्छाओं को प्रकट कर लेता है। पहचानने, याद करने, तथा सोचने की शक्ति साधारणतः पाँच वर्ष के पूर्व ही आ जाती है। कोहलर ने यह सिद्ध कर दिया है कि बालक अपनी अन्तर्दृष्टि के आधार पर समस्याओं को सुलझा सकता है। कुछ बालकों में तर्क करने की शक्ति भी होती है।

जितने गुण बालक आगे चलकर ग्रहण करता है उनका बीजारोपण शैशव में ही हो जाता है। लगभग पाँच वर्ष के उपरान्त उसके व्यवहार में एक विनय[4] आने लगती है। अब वह केवल अपनी मूलप्रवृत्तियों[5] का ही प्राणी न रह कर वह अपने द्वारा सोचे हुए मार्ग पर चलने को तत्पर रहता है। उसमें अपनेपन की भावना उत्पन्न हो जाती है। अपनी माँ से वह प्रेम करने लगता है, और इसके बदले में वह प्रेम की आशा करता है। इतना ही नहीं, वह अपने मनोभावों पर नियंत्रण करना भी सीखने लगता है।

शैशव में शिक्षा

निहित गुणों के विकसित करने की क्रिया ही शिक्षा है। बालक शक्ति तथा गुणों का भण्डार है। परन्तु यदि उसकी शक्ति तथा गुणों का विकास न किया

1. Development of Personality. 2. Imitation. 3. Invention. 4. Discipline. 5. Instinct.

शिशु का नाड़ी-मण्डल फूल के समान कोमल होता है। शान्त वीणा के तारों को लेश-मात्र छूने से कम्पन तथा ध्वनि उत्पन्न हो उठती है। ठीक उसी प्रकार बच्चों का नाड़ी-मण्डल उच्च ध्वनि अथवा कर्कश स्वर आदि से झंकृत हो उठता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि बालक का वातावरण शान्त हो, वहाँ अधिक ध्वनि या शोरगुल न हो। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि अत्यधिक लाड़ प्यार के कारण लोग बच्चों को बुरी तरह उछालने तथा हँसाने का प्रयत्न करते हैं। यह प्यार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उचित नहीं। बालक स्नेह तथा प्यार का भूखा अवश्य है पर सीमा के भीतर। अतः मनोवैज्ञानिक नहीं तो मानुषिक ढंग से ही यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसके मानसिक तथा शारीरिक विकास में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। इस दिशा में उचित ध्यान देना नितान्त आवश्यक है।

बालक के विकास में इस बात का सर्वोपर ध्यान रखना चाहिए कि उसकी मूलप्रवृत्तियाँ बिना बाधा के समुचित रूप से विकास करती रहें। यदि बालक खेलना चाहता है तो उसे रोकना न चाहिए, क्योंकि उसकी विभिन्न वृत्तियाँ विकास चाहती हैं और उन्हें अवसर मिलना ही चाहिए। यदि प्रारम्भ ही से सगीत की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया जाय तो अच्छा होगा। ऐसा करने से बालक में संगीत की रुचि के अतिरिक्त आत्मिक तथा मानसिक प्रेरणा का संचार होगा। साथ ही, उसके खिलौने इस प्रकार के हों जिनसे वह न केवल अपना मन ही बहला सके, वरन् कुछ क्रियायें भी करता रहे। यदि उससे कुछ गलती हुई है या उसने कोई मूल्यवान वस्तु तोड़ दी है तो दण्ड देते समय उसकी भावनाओं का ध्यान रखना चाहिए। दण्ड इस प्रकार का हो कि क्रोध भी शान्त हो जाय और बालक को समुचित सावधानी भी मिल जाय।

बालक का पालन-पोषण एक कला है जिसे सीखना पड़ता है। यही कारण है कि कुछ इने-गिने लोग ही बालकों को उचित तथा मनोवैज्ञानिक रीति से पाल पाते हैं। अधिकतर देखा गया है कि शिक्षा के अभाव से माँ-बाप बालक को अनुचित स्नेह तथा लाड़ प्यार दे डालते हैं, क्योंकि वह उनकी आँखों का तारा है या उनके जीवन का एक मात्र सहारा है। पर क्या कारण है कि वही बालक आगे चलकर मनमानी करता है? माता-पिता की सेवा का

मानसिक विकास के लिए मातृ-भाषा का ज्ञान बहुत ही उपयोगी होता है। कई साधनों के द्वारा बालक के ध्यान को आकर्षित किया जा सकता है। उसकी सारी शिक्षा इस ढंग की हो कि वह आवश्यक बातें सीख भी जाय और उसे आनन्द भी मिले। इस दिशा में किण्डरगार्टन के ढंग की शिक्षा सफल सिद्ध हुई है। इस विधि में क्रीड़ा, खिलौनों, तथा तस्वीरों के द्वारा उसके सहज स्वभाव को जीत लिया जाता है और फिर वह वही आनन्द शिक्षा में लेता है जो उसे अपने साथियों तथा माँ-बाप से उपलब्ध होता है। छोटी छोटी कहानियाँ, गीत, तथा संगीतमय भजन आदि बालक सहज ही सीख लेते हैं, क्योंकि उनमें उनकी रुचि बनी रहती है।

पढ़ाई के साथ ही बालक खेलना भी अधिक पसन्द करते हैं। वे चाहते है कि उनकी उम्र के साथी एकत्रित हों जिससे वे जी भर कर खेल सकें। अत: माता-पिता को यह समझना चाहिए कि खेल के लिए हठ करना एक उचित तथा स्वाभाविक बात है। अतः उन्हें खेलने से कभी भी बालकों को रोकना न चाहिए। केवल यह ध्यान रखना चाहिए कि उनका बालक अच्छी संगत के बालकों के साथ ही खेलने जाय, अन्यथा खेलने के उद्देश्य में सफल न होकर बालक रहे-सहे गुण को भी खो देगा। यदि अच्छी संगत मिल गई तो बालक बहुत कुछ अन्य बालकों से सीख लेगा। टोली तथा अपने साथ के बालकों के सम्पर्क में बालक सामाजिकता का प्रथम पाठ पढ़ता है।

प्रारम्भ से ही बालक को उचित वातावरण मिलना चाहिए। वातावरण इस प्रकार का हो कि बालक की विचार-शक्ति, तथा जिज्ञासा को प्रोत्साहन मिले। क्या कारण है कि कलाकार का पुत्र भी कला की ओर आकर्षित होता है ?.यह वातावरण का प्रभाव है। प्रकृति, कला तथा संगीत के वातावरण में पला हुआ बालक न केवल सौन्दर्य के प्रति रुचि ही रखता है, वरन् उसकी भावनाओं में इन सबके लिए प्रेम भी उत्पन्न हो जाता है और अवसर पाते ही वह सुगमतापूर्वक इनको सीख जाता है। उचित वातावरण व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का आधार है।

स्नैली हाल के अनुसार खेल द्वारा बालक अपने पूर्वजों द्वारा अपनाये हुए पथ का अनुकरण करता है। इस सिद्धान्त को जाति स्वभाव पुनरावर्त्तन सिद्धान्त[1] कहते हैं। कार्लग्रस का मत है कि इसी-काल ही में बालक अपने भावी जीवन की तैयारी प्रारम्भ कर देता है और खेल द्वारा ही यह सम्भव होता है। इस सिद्धान्त को पूर्वाभिनय का सिद्धान्त[2] कहते हैं। यह तो रहा विभिन्न मनोवैज्ञानिकों का मत, परन्तु यह सभी मानते हैं कि खेल के माध्यम से अनेक शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं। आत्माभिमान या आत्महीनता का भाव खेल के द्वारा स्पष्ट होता रहता है। यदि विजय आत्मभिमान का सन्देश लाती है तो हार आत्महीनता का।

पूर्व बाल्यकाल में विभिन्न खेल :

आयु के साथ ही खेल का रूप परिवर्तित होता जाता है। यह देखा जाता है कि कोई बालक एक ही प्रकार का खेल खेलना पसन्द नहीं करता। यदि प्रारम्भ में वह विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियायें करता रहता है, जैसे धूल फेंकना तथा गेंद उछालना, आदि, तो आगे चलकर वह खेल में कल्पना को स्थान देता है और अपनी रुचि के अनुकूल किसी एक ही क्रिया में मस्त रहता है। फिर उसमें आयु के साथ सामाजिकता की भावना जागृत हो उठती है और वह अपनी आयु के बालकों के समूह में रहना पसन्द करता है। कल्पना के देश से अब वह वास्तविकता के संसार में आ जाता है। विभिन्न वस्तुओं से उसका प्रेम हो जाता है, वह उनके सौन्दर्य, आकार तथा रूप से आकर्षित हो उनके सत्य को जानने का प्रयत्न करता है। अतः पूर्व बाल्यकाल के खेलों में तीन वस्तुओं की प्रधानता रखनी चाहिए, और वह है निर्माण, कौशल तथा स्वतंत्र गति। विशेष ध्यान यह रहना चाहिए कि प्रत्येक अवस्था में बालक किसी न किसी क्रियाशीलता में मग्न रहे।

उत्तर बाल्यकाल[3] में विभिन्न खेल :

इस काल में कल्पना के साथ ही तर्क भी बढ़ जाता है। बालक वस्तुओं की उपयोगिता पर अधिक ध्यान रखता है। बुद्धि तीव्र होने के कारण वह

1. Recapitulatory Theory. 2. Anticipatory Theory.
3. Later Childhood.

वातावरण पर कुछ नियन्त्रण हो जाता है। २—उसमें संवेगात्मक विकास प्रारम्भ हो जाता है। ३—माता पिता की ओर से वह उदासीन परन्तु अपनी संगत में रुचि प्रारम्भ कर देता है। ४—उसका ध्यान विभिन्न क्रियाओं की ओर बढ़ जाता है और वह निर्माण में आनन्द प्राप्त करता है। ५—कल्पना से वह वास्तविकता के संसार में प्रवेश करता है। अतः इन बातों को ध्यान में रखते हुए ही बाल्यकाल की शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। अतः यह आवश्यक है कि बालक को अधिक पुस्तकीय ज्ञान न देकर व्यावहारिक ज्ञान देना अधिक लाभ प्रद होगा। रचनात्मक क्रियाओं[1] की ओर उसका ध्यान आकर्षित करना चाहिए। इस काल में भाषा तथा अंकगणित का अध्ययन भी उपयोगी होगा।

किशोरावस्था[2]

शारीरिक विकास :

इस अवस्था में लगभग प्रत्येक शक्ति का विकास द्रुति गति से प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिए यह अवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अब बालकों में शारीरिक विकास द्रुत गति पकड़ लेता है, उनकी आवाज कर्कश हो जाती है, उनमें काम-भावना[3] जागृत हो जाती है तथा जननेन्द्रियों[4] का पूर्ण विकास हो जाता है। बालिकाओं में शरीर और नाड़ी-मण्डल में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। बालिकाओं में बालकों की अपेक्षा परिपक्वता[5] अधिक शीघ्र आती है। विभिन्न शारीरिक परिवर्तन होने के कारण कैशोर में स्वास्थ्य के बिगड़ जाने का भी भय लगा रहता है और यह देखा गया है कि बालक इस अवस्था में कुरूप तथा कमजोर हो जाते हैं। बालिकाओं में रक्ति-हीनता प्रारम्भ हो सकती है।

मानसिक विकास :

इस अवस्था में बालक अधिक मानसिक कार्य न करके रचनात्मक अथवा शारीरिक कार्य करना अधिक पसन्द करता है। उसमें नवीन भावनायें जागृत हो जाती हैं। वह अपने आप उलझा सा प्रतीत होता है। उसके संवेगात्मक

---

1. Constructive Activities. 2. Adolescence.
3. Sex Instinct. 4. Reproductive organs. 5. Maturity.

क्योंकि शारीरिक विकास न होने के कारण मानसिक विकास में भी बाधा पड़ती है।

प्रत्येक अवस्था में शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह शारीरिक तथा मानसिक विकास की प्रत्येक मांग पूरी कर सके। उदाहरण के लिए, इस अवस्था में बालक में तीन प्रमुख गुण उत्पन्न हो जाते हैं:—जिज्ञासा, उत्साह तथा उत्तरदायित्व सम्भालने की भावना। शारीरिक दृष्टिकोण से वह क्रियाशील शिक्षा चाहता है। अत: विषय इस प्रकार के हों तथा उनका अध्ययन इस ढंग से कराया जाय कि उनकी रुचि जीत ली जाय। यदि भूगोल पढ़ाना है तो उन्हें प्रकृति की सहायता से पढ़ाना चाहिए। छोटी-छोटी यात्राओं के द्वारा उनको विषय की ओर आकर्षित करना चाहिए। इस अवस्था में स्काउटिंग अत्यन्त उपयोगी है, इससे बालकों में सेवा तथा उत्तरदायित्व की भावनाओं को आधार मिलता है। साहित्यिक, रचनात्मक तथा वैज्ञानिक सभी प्रकार के विषय पढ़ाने चाहिए जिससे बालक रुचि के अनुसार अध्ययन कर सकें।

सारांश

शैशव काल में मानसिक विकास :

भावनाओं का विकास, सीखने की शक्ति का विकास, अपनी गति पर कुछ अधिकार तथा तर्क शक्ति का जन्म।

दूसरे वर्ष तक चलना तथा दौड़ना, ढाई वर्ष में बातचीत। पांच वर्ष के अन्दर पहचानना, याद करना, सोचना तथा स्वप्न देखना। साथ ही, दो वर्ष के भीतर भय, क्रोध, घृणा, आश्चर्य, प्रेम-भाव, आत्महीनता तथा आत्माभिमान का जन्म। सहानुभूति तथा विनय की भावना जागृत होना।

शैशव की शिक्षा :

गुणों के विकास करने की क्रिया ही शिक्षा है। शुद्ध वातावरण तथा उचित भोजन नितान्त आवश्यक।

बच्चे का अधिक प्यार, उछालना तथा झुलाना आदि नाड़ी मंडल के लिए हानिकारक।

प्रारम्भिक शिक्षा में संगीत का महत्त्व तथा स्थान, स्वतन्त्रता का आभास तथा इच्छा की पूर्ति।

विषयों के अध्ययन में प्रकृति का स्थान । स्काउटिंग तथा यात्राओं का महत्त्व । सभी प्रकार के विषयों का अध्ययन आवश्यक शिक्षा बालक की रुचि के अनुकूल ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. बालक के मानसिक तथा शारीरिक विकास को ध्यान में रखते हुए एक नवीन शिक्षा योजना की रूप रेखा बनाइये ।

२. शैशव के विकास में शिक्षा क्या महत्त्व रखती है ?

३. कैशोर के विकास से सम्बन्धित किस प्रकार की शिक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होगी ?

४. कैशोर तथा संवेगात्मक विकास पर एक छोटा निबन्ध लिखिए ।

५. वातावरण तथा शिक्षा का क्या सम्बन्ध है ? बाल्यकाल में किस प्रकार का वातावरण अधिक अनुकूल होगा ?

प्रकृतिवाद और शिक्षा :

प्रकृतिवादी दर्शन के आधार पर ही रूसो[1] द्वारा प्रकृतिवादी शिक्षा-प्रणाली का निर्माण किया गया है। इस प्रणाली के अनुसार बालक की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उसका विकास किया जाता है। आदर्शवाद की भाँति इसमें केवल जीवन की आध्यात्मिकता पर ध्यान नहीं दिया जाता। यही कारण है कि प्रकृतिवादी शिक्षा को बाल मनोविकास के अनुकूल बनाने में रूसो को विशेष सफलता प्राप्त हुई और यह व्यापक पद्धति हो गई। इसमें कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव पर बल दिया जाता है। फलतः काल्पनिक तथा मौखिक शिक्षा को इस पद्धति में कोई स्थान नहीं दिया जाता। किसी वस्तु को आधार मान कर भाषा का ज्ञान प्रदान किया जाता है। बच्चों की प्रकृति के विपरीत उनपर किसी प्रकार का अनुचित नियन्त्रण नहीं किया जाता। इस विधि में खेल द्वारा शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। इस पद्धति के अन्तर्गत बालकों को नैतिक शिक्षा नहीं मिल पाती। इसकी यह दुर्बलता है।

प्रयोगवादी दर्शन और शिक्षा :

प्रयोगवाद के अनुसार जो उपयोगी है वही सत्य हो सकता है। सत्य और झूठ की परख वैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा की जाती है। प्रयोगवाद, आदर्शवाद और प्रकृतिवाद के तुलनात्मक विचार इस प्रकार हैं :—

आदर्शवाद मानव की सार्वभौमिकता पर विश्वास करता है। वह एक ऐसे चेतन की कल्पना करता है जो समस्त प्राणियों को सूत्रबद्ध किए हुए है। मनुष्य को ईश्वर प्रदत्त एक ऐसा तत्व मिला है जिसके अनुसार वह अपने भविष्य का स्वतंत्रता पूर्वक निर्माण करता है। वह तत्व है बुद्धि। इसी बुद्धि के द्वारा ही परम पिता परमेश्वर के आलोक का आभास प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन आदर्शों को ही मान्य समझ कर उन्हीं का अनुसरण करना आदर्शवादियों का सिद्धान्त है। ये आदर्शवाद परिस्थितियों और स्थान के प्रभाव से अछूते रहकर ईश्वर में केन्द्रस्थ हैं। मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य है उन्हें प्राप्त करना।

---

1. Rousseau.

यथार्थवाद और यथार्थवादी शिक्षा :

यथार्थवादी शिक्षा का मूल उद्देश्य समाज को सुसम्पन्न बनाना है। इसकी शिक्षा-प्रणाली अनुभव, प्रयोग, वातावरण, जीवन की यथार्थता, तथा निरीक्षण प्रधान होती है। यदि हम इसे पारिभाषिक रूप देने के लिए पुनरुत्थान की प्रतिक्रिया कहें तो अत्युक्ति न होगी। इसे अधिक स्पष्ट करने हेतु अन्य दार्शनिक वादों से इसकी तुलना इस प्रकार की जा सकती है।

आदर्शवादी शिक्षा मन तथा उसकी क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास पर बल देती है जबकि यथार्थवाद इन्द्रियों, अनुभव तथा वातावरण को आधार मान कर जीवन की आर्थिक सफलता का बोध कराता है।

प्रकृतिवादी तथा यथार्थवादी शिक्षा में पर्याप्त समानता है, क्योंकि दोनों प्रकार की शिक्षा प्रदान करने के माध्यम ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं। परन्तु प्रकृतिवादी शिक्षा द्वारा बालकों को उस प्रकार अनुशासित और नियन्त्रित नहीं किया जाता जिस प्रकार यथार्थवादी शिक्षा द्वारा।

इसी प्रकार प्रयोगवाद में प्रत्येक नियम की ; चाहे वह आध्यात्मिक हो या नैतिक सर्वप्रथम अनुभव तथा प्रयोग द्वारा परख की जाती है, जबकि यथार्थवाद इस पर विश्वास नहीं करता। उसका प्रमुख ध्येय जीवन की आर्थिक सफलता की उपलब्धि होता है।

सारांश

शिक्षा का जो स्थान मानव जीवन में है वही स्थान दर्शन का शिक्षा में है। शिक्षा क्षेत्र में (१) आदर्शवाद (२) प्रकृतिवाद (३) प्रयोगवाद तथा (४) यथार्थवाद। ये भिन्न-भिन्न रूप में अपना प्रभाव शिक्षा पर डालते हैं।

आदर्शवादी शिक्षा :

विचार ही सत्य है। आध्यात्मिकता ही सब कुछ है।

प्रकृतिवादी शिक्षा :

बालक की प्रकृति के अनुसार उसका विकास किया जाता है। कल्पना को कोई स्थान नहीं दिया जाता। बालक के नैतिक विकास में यह समुचित योग नहीं दे पाती ।

५

विकास अथवा शिक्षा में वंशानुक्रम और वातावरण का महत्त्व[1]

वंशानुक्रम :

मनोविज्ञान में इस शब्द के दो अर्थ होते हैं : १—वंशानुक्रम बीज-कोषों[2] का वह वितरण है जिनसे शारीरिक बनावट तथा योग्यता निर्धारित होती है। यही कारण है कि पुत्र माता या पिता के सदृश होता है। २—वंशानुक्रम वह क्रिया है जिससे प्राणी अपने-पूर्वजों के समान ही उत्पन्न होता है।

वातावरण :

अधिकतर वातावरण का अर्थ उन परिस्थितियों से माना जाता है जिनमें मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करता है। परन्तु मनोविज्ञान में इसका अर्थ बड़ा विस्तृत है। मनोवैज्ञानिकों ने वातावरण को सामाजिक वंशानुक्रम की संज्ञा दी है। अत: वातावरण से उन सभी बातों का अभिप्राय है जो मनुष्य के विकास पर किसी भी प्रकार प्रभाव डालती हैं। वातावरण को दो मुख्य भागों में बाँटा गया है : प्राकृतिक तथा सामाजिक। नीचे इन भागों की ओर संकेत किया जायगा।

प्राकृतिक वातावरण का महत्त्व :

इस वातावरण से अभिप्राय उन सभी प्राकृतिक दशाओं से है जो मनुष्य पर प्रभाव डालती हैं। क्या कारण है कि अमेरिका या इङ्गलैण्ड के निवासी गोरे वर्ण के तथा अफ्रीका के निवासी काले होते हैं ? या ठण्डे देश के निवासी क्यों अधिक कार्य कर सकते हैं पर गर्म देश के निवासी उतने क्रियाशील नहीं होते। १—ऐसा प्राय: जलवायु के कारण होता है। २—स्मरण रखना चाहिए कि प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव केवल क्रिया या चर्म तक

---

1. The place of heredity and environment in the development or education of the child. 2. Germ-cells.

कुटुम्ब और रक्त सम्बन्ध का महत्त्व[1] :

अधिकतर यह देखा गया है कि एक ही परिवार तथा रक्त-सम्बन्ध की सन्तान किन्हीं एक दिशा में विशेषज्ञ हो जाते हैं और जब तक यह डोर बनी रहती है इस परिवार के सदस्यों में वह गुण विद्यमान रहता है। उन्नीसवीं शताब्दी में गाल्टन[2] नामक वैज्ञानिक ने लगभग ९७७ सुप्रसिद्ध व्यक्तियों के रक्त-सम्बन्धियों का अध्ययन किया और यह पता लगाया कि उनमें से ५३५ व्यक्ति सुप्रसिद्ध थे। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति के विकास में वंशानुक्रम का बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार कार्ल पियर्सन, गाडर्ड तथा विनशिप आदि ने विभिन्न कुटुम्बों का अध्ययन किया और यह सिद्ध किया कि वंशानुक्रम तथा रक्त-सम्बन्ध का प्रभाव बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। पर इन अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकालना कि मनुष्य के विकास पर केवल वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है, नितान्त भूल होगी। वातावरण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि वंशानुक्रम। उचित वातावरण न केवल विकास में सहायक ही है, परन्तु उसके बिना विकास असम्भव है। एक ही कुटुम्ब का एक बालक उचित वातावरण पाकर राष्ट्र का गौरव बनता है, जबकि दूसरे बालक के बारे में कोई जानता भी नहीं, क्योंकि उसे वे बातें उपलब्ध न हो सकीं जो उसकी सहायता करती। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वातावरण और वंशानुक्रम दोनों समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

वंशानुक्रम के नियम[3]

बीज-कोष की सनातनता[4] :

एक कहावत प्रसिद्ध है कि बालक उतना ही प्राचीन है जितना कि उसके पूर्वज। उसमें वे सभी लक्षण तथा गुण विद्यमान रहते हैं जो उसके पूर्वजों में थे। इस प्रकार पिता सन्तान की उत्पत्ति ही नहीं वरन् बीज-कोष की संरक्षता भी करता है। इस सिद्धान्त के जन्मदाता वीजमैन[5] हैं। इनका मत है कि बीज

---

1. The Importance of family and blood-relationship. 2. Sir Francis Galton. 3. Laws of Heredity. 4. The continuity of Germ plasm. 5. Weismann.

उसने चूहों पर प्रयोग किया । यह देखा गया कि एक ही चूहे की सन्तान पहली पीढ़ी के चूहों की अपेक्षा किसी 'परीक्षण विशेष' में कम गलती करती है । हैरसिन ने अपना प्रयोग फतिङ्गों पर किया और यह देखा कि एक जाति के फतिङ्ग जो फैक्ट्री के पास घास पर रहते थे, अधिक काले होते थे, जब कि उसी जाति के फतिङ्ग जो खुले मैदान की घास पर अपना निर्वाह करते थे दूसरे रंग के होते थे । इस प्रकार वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के क्रम में जीरैफ़, चूहे तथा फतिङ्गों ने जो गुण अर्जित किया उसे उनकी सन्तान ने संक्रमित किया । इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सन्तान केवल उन्हीं अर्जित गुणों को संक्रमित करती है जिन्हें उसके पूर्वज अपने को वातावरण में व्यवस्थित करने के क्रम में प्राप्त करते हैं ।

डार्विन का सिद्धान्त[1] :

डार्विन यह मानते हुए भी कि प्राणी अपने को वातावरण के अनुकूल परिवर्तित कर लेता है, एक नए सिद्धान्त का जन्मदाता है । डार्विन का मत है कि विकास शक्ति पर निर्भर न होकर प्रकृति पर निर्भर है । उसकी धारणा है कि केवल वही जीवित रह सकता है जो जीवित रहने के योग्य अथवा शक्तिशाली है । निर्बल और क्षीण प्राणी स्वत: नष्ट हो जाता है; जो वातावरण से युद्ध तथा संघर्ष कर सकते हैं वही केवल जीवित रह सकते हैं ।

डार्विन के मत के अनुसार तथा नीतिशास्त्र में यह परिणाम निकाला गया है कि निर्बल प्राणियों को जीने का अधिकार ही नहीं है । परन्तु इस विवाद को हम यहाँ नहीं उठायेंगे । यहाँ तो केवल यही देखना है कि इस सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ा । डार्विन के अनुसार अर्जित गुणों का संक्रमण दो प्रकार का होता है : १–क्रमिक[2] तथा, २–अक्रमिक[3] । उसका विश्वास है कि बीज-कोष प्रत्येक अवयव के आकार, गुण तथा रूप की रचना में सहायता करता है । यह मत वर्तमान युग में मान्य नहीं । उसका सिद्धान्त भी आधाररहित सिद्ध किया जा चुका है ।

---

1. The Darwin Theory. 2. Continuous.
3. Discontinuous.

है। इसका मुख्य कारण यह है कि वंशानुक्रम में व्यक्त[1] और सुप्त[2] दो प्रकार के गुण होते हैं और परिस्थितियों के अनुसार ये परिवर्तित होते रहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सन्तान के गुणों का स्रोत न केवल माता पिता ही हैं, वरन पूर्वज भी होते हैं। यद्यपि यह मानना ठीक ही होगा कि अधिक प्रभाव माता-पिता का ही पड़ता है। मेण्डलवाद से भी यह बात पुष्टि होती है कि गुणों का श्रोत पूर्वज भी होते हैं। नीचे हम इसी की ओर संकेत करेंगे।

मेण्डल का सिद्धान्त[3] :

मेण्डल का सिद्धान्त यह है कि प्रकृति केवल शुद्ध गुण वाली सन्तति को बढ़ाती रहती है। मटर पर प्रयोग करने के पश्चात् मण्डल इस परिणाम पर पहुँचा कि प्रकृति "जाति" के स्वभाव की रक्षा करना चाहती है। केवल विशुद्ध गुण वाले जीव की ही वृद्धि होती है और संका जाति की वृद्धि नहीं होती। मेण्डल के सिद्धान्त को 'प्रधान प्रकार की ओर प्रत्यागमन का सिद्धान्त' भी कहते हैं।

शिक्षा, वातावरण तथा वंशानुक्रम में पारस्परिक सम्बन्ध

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह कहा जा चुका है कि प्राणी के विकास में वातावरण तथा वंशानुक्रम दोनों महत्व रखते हैं। प्रकृति की कुछ ऐसी आश्चर्यजनक तथा अद्भुत कला है कि इस विषय में ठीक निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव सा प्रतीत होता है। एक ही माता-पिता के एक समान बालक नहीं होते, और एक सा वातावरण पाने पर भी एक ही माता-पिता की सन्तानों का समान विकास नहीं होता। यही कारण है कि संसार में कोई भी दो व्यक्ति एक समान नहीं। नाँक, मुँह, पैर, तथा हाथ आदि तो कुछ अर्थ में समान भी हो सकते हैं, पर गुणों तथा स्वभाव में अन्तर होता है। एक सी शिक्षा, एक सा वातावरण, एक ही माता-पिता, फिर भी सन्तान में भिन्नता ! यह न भूलना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति का वंशानुक्रम और वातावरण भिन्न-भिन्न होता है। अपने वैयक्तिक वातावरण तथा वंशानुक्रम के अनुसार ही व्यक्ति

1. Dominant. 2. Submissive. 3. Mendalism.

भिन्नता का नियम तथा प्रत्यागमन :

वंशानुक्रमीय गुणों के वाहक वंश-सूत्र । मानसिक तथा शारीरिक स्थिति का मिश्रण सदा एक सा नहीं । फलत: सन्तान में भिन्नता । असमानता भी वंशानुक्रम के सिद्धान्त का समर्थक, वंशानुक्रमीय गुणों का सम्बन्ध माता-पिता के अतिरिक्त पूर्वजों से भी । व्यक्त और सुप्त दो प्रकार के गुण ।

मेण्डल का सिद्धान्त :

शुद्ध गुण वाली सन्तति को प्रोत्साहन । प्रकृति सामान्यता की ओर । प्रकृति द्वारा जाति स्वभाव की रक्षा ।

वंशानुक्रम, वातावरण तथा शिक्षा :

वातावरण तथा वंशानुक्रम दोनों शिक्षा के क्षेत्र में समान रूप से महत्त्वपूर्ण । शिक्षा वातावरण सुधारने में सहायक । प्रत्येक व्यक्ति में भिन्नता ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. वातावरण से क्या अभिप्राय है ? वातावरण किस प्रकार से विकास में महत्त्वपूर्ण है ?

२. लेमार्क का क्या मत है ? डार्विन तथा लेमार्क के सिद्धान्तों की तुलना कीजिए ।

३. वंशानुक्रम के मुख्य नियमों पर एक छोटा निबन्ध लिखिए ।

४. मेण्डल का क्या सिद्धान्त है ? तुम इससे कहाँ तक सहमत हो ?

५. "वंशानुक्रम, वातावरण तथा शिक्षा एक त्रिभुजाकर आधार है, जिस पर मानव विकास आधारित है ।" इस कथन की पुष्टि कीजिए ।

भिन्न-भिन्न होता है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज की संस्कृति एक सी नहीं होती। समाज और संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझना यहाँ आवश्यक है। नीचे हम इसी को समझेंगे।

संस्कृति और समाज :

सांस्कृतिक मानव-विज्ञान के आधार पर समाज और संस्कृति में बहुत अन्तर है, परन्तु सामान्यतया इनका अन्तर इसलिए स्पष्ट नहीं हो पाता क्योंकि एक ही स्थान पर दोनों शब्दों का प्रयोग प्रायः किया जा सकता है। समाज का निर्माण व्यक्तियों से होता है तो संस्कृति का व्यवहारों से। यही कारण है कि संस्कृति के लिए व्यवहार-प्रणालियाँ महत्त्वपूर्ण हैं और समाज के लिए संगठन। इस प्रकार संस्कृति की परिभाषा में कहा जा सकता है कि सामाजिक जीवन की व्यवहार-प्रणाली अथवा शैली सम्बन्धित समाज की संस्कृति है। समान उद्देश्यों और मान्यताओं[1] को स्थान देने वाले उस व्यक्ति-समूह को समाज कहेंगे जिनमें आपसी चेतना विद्यमान हो। समाज में जीवन-मान्यताओं का विशेष महत्व होता है। इन मान्यताओं के निर्धारण तथा इनके पोषण की व्यवस्था का आधार संस्कृति और शिक्षा होती है। अतः विद्यालय तथा समाज के सम्बन्ध को स्पष्ट करना आवश्यक है।

समाज और विद्यालय :

बालक पर जन्म से ही उसके सामाजिक वातावरण का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है समाज में प्रचलित व्यावहारिक बातों का वह अध्ययन करता जाता है। वह सीखता है कि बड़ों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए तथा समाज के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य और अधिकार हैं। सर्वप्रथम यह शिक्षा बालक को उसके अभिभावकों द्वारा मिलती है; तत्पश्चात् विद्यालय में इसका वृहद् और विस्तृत रूप बालक के समक्ष आता है। विद्यालय का उद्देश्य बालकों का सर्वांगीण विकास करना है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति का बौद्धिक, नैतिक तथा शारीरिक विकास समाज के हित की दृष्टि से किया जाता है। इस प्रकार शिक्षा द्वारा व्यक्ति को इस योग्य

---

1. Values. 2. Sub-culture.

परतन्त्रता काल में उन संस्कृतियों पर इस प्रकार आवरण डाला गया कि आज हम उनके विकास की कहानियाँ सुन कर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। अँग्रेजी शासनकाल में राज्य-सत्ता को सुदृढ़ करने हेतु शिक्षा के माध्यम द्वारा अँग्रेजी संस्कृति के भी प्रचार का प्रयास किया गया और भारतीय संस्कृति की बिल्कुल उपेक्षा की गई। इसके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति काल-क्वलित होती गई तथा शिक्षा विदेशी संस्कृति के कोष में पलने लगी। भारतीय संस्कृति के प्रति किये अँग्रेजी शासन के अत्याचारों का वर्णन विषय के बाहर हो जावेगा। संक्षेप में यह जान लेना ठीक होगा, कि अँग्रेजों ने भारतीय संस्कृति के पतन और अपनी संस्कृति के बीजारोपण का ऐसा सफल प्रयत्न किया कि भारत-वासियों में अपनी संस्कृति के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई और वे विदेशी संस्कृति का अनुसरण करते हुए अपने को गौरवान्वित समझने लगे। शिक्षा का पाठ्य-क्रम इसका साक्षी है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश-नायकों का ध्यान सर्वप्रथम इस ओर गया और अपनी संस्कृति को पुनर्जीवन प्रदान करने के प्रयास में शिक्षा के पाठ्य-क्रम को यथेष्ट रूप में परिवर्तित और परिवर्धित किया गया। इस परिवर्तन में संस्कृति के साथ-साथ उप-संस्कृतियों को भी यथोचित स्थान प्रदान किया गया। भारत कृषि-प्रधान देश है, और यहाँ की अधिकांश जनता ग्रामों में बसी है। यह हम पहिले ही बता चुके हैं कि व्यवसाय तथा जीवन-यापन की व्यवस्था के आधार पर ही उप-संस्कृतियों का निर्माण होता है। अतः इन्हीं उप-संस्कृतियों को ध्यान में रखते हुए ग्रामीण बच्चों के लिए क्षिक्षा के पाठ्य-क्रम में कृषि की शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई। साथ ही साथ नगरों के बालकों को भी उनके सांस्कृतिक वातावरण की शिक्षा का माध्यम बनाने की सुविधा प्रदान करके उप-सांस्कृतिक विभिन्नता के प्रश्न को सरल किया गया। साथ ही साथ इन उप-संस्कृतियों से ऊपर भारतीय संस्कृति को भी दृष्टिगत रक्खा गया और उप-संस्कृतियों के माध्यम द्वारा भारतीय संस्कृति को उन्नत बनाने का प्रयास किया गया। संस्कृति के विकास के लिए आवश्यक है कि शिक्षकों को शिक्षा और संस्कृति का सम्बन्ध स्पष्ट रूप में ज्ञात हो। यदि वह अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं तथा समस्याओं से पूर्णतया परिचित

उप-संस्कृति तथा शिक्षा :

सामाजिक प्रगति सम्बन्धी विचार, व्यवसाय, जीवन-यापन की विधि, आय आदि की भिन्नता भिन्न-भिन्न उप-संस्कृतियों का निर्माण करती है। उप-संस्कृतियों की भिन्नता शिक्षा में दुरूहता उत्पन्न कर देती है।

भारतीय संस्कृति और शिक्षा :

प्राचीन सभ्यता उत्कर्ष पर थी। अंग्रेजों द्वारा भारतीय सभ्यता का हनन। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रगति। कृषि शिक्षा-योजना का निर्माण। उप-संस्कृति द्वारा संस्कृति का विकास। विश्व संस्कृति के प्रति अनुराग।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. किसी देश की संस्कृति का क्या अर्थ है ?
२. समाज तथा संस्कृति का अन्तर स्पष्ट कीजिए।
३. समाज तथा संस्कृति के उत्थान में शिक्षालय का क्या स्थान है।
४. उप-संस्कृनि का शिक्षा में क्या महत्त्व है ?
५. भारत की सभ्यता तथा संस्कृति पर प्रकाश डालिए ?

रूप में यह हमारे स्वभाव तथा क्रियाओं पर सदैव प्रभाव डाला करती है। मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन भी हो सकता है, पर यह परिवर्तन दूसरे प्रकार का होता है।

५. एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि प्रत्येक प्रवृत्ति का कोई न कोई प्रयोजन[1] अवश्य होता हैं। बिना किसी प्रयोजन के यह प्रेरित नहीं करती। अतः मूलप्रवृत्तियों की एक विशेषता सप्रयोजनता[2] है।

६. प्रत्येक मूलप्रवृत्ति की पृष्ठभूमि में किसी न किसी संवेग[3] की प्रेरणा अवश्य होती है। इस प्रकार मूलप्रवृत्ति द्वारा प्रेरित क्रिया में ज्ञानात्मक[4], संवेगात्मक[5] तथा क्रियात्मक[6] अंग अवश्य विद्यमान रहता है। यह कथन असत्य न होगा कि संवेग ही मूलप्रवृत्ति के मुख्य आधार है।

७. एक विशेषता यह भी है कि मूलप्रवृत्ति द्वारा उत्साहित क्रिया बीते हुए अनुभव से लाभ उठाती है। यह विशेषता स्वाभाविक ही है।

ऊपर के विवरण के आधार पर मूलप्रवृत्तियों के बारे में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य है। इसके जानने से बहुत कुछ मूलप्रवृत्तियों का मूल रूप ज्ञात हो जायगा।

१. ये आदतों से भिन्न हैं।
२. ये शोधनशील होती हैं।
३. इनसे संचालित क्रिया में व्यक्तिगत भेद नहीं होता।
४. ये वंशानुक्रमीय तथा प्रकृति-प्रदत्त होती हैं।
५. प्रत्येक में प्रयोजन निहित हैं।
६. ज्ञानात्मक, संवेगात्मक तथा क्रियात्मक अंग होना आवश्यक।
७. अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता।
८. पशुओं की अपेक्षा मनुष्य की मूलप्रवृत्तियाँ अधिक परिवर्तनशील।
९. मनुष्य में पशुओं की अपेक्षा इनका विकास देर से होता है।
१०. बुद्धि तथा चेतना का क्रियाओं में विद्यमान होना।

---

1. Purpose. 2. Purposiveness. 3. Emotion. 4. Cognitive. 5. Affective. 6. Conative.

होता है। इस आकर्षण के फलस्वरूप वह एक विशेष प्रकार के भावों और क्रियात्मक प्रवृत्ति का अनुभव करता है। इन अनुभूति के परिणाम स्वरूप उपस्थित वस्तु से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार की क्रिया में वह संग्लन हो जाता है।"

विभिन्न प्रकार की मूलप्रवृत्तियाँ :

कर्कपैट्रिक ने पाँच प्रकार की मूलप्रवृत्तियों का नाम लिया है : १—आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति, २—सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति, ३—सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति, ४—परिस्थितियों के अनुकूल करने की प्रवृत्ति, और ५—आदर्श पालन की प्रवृत्ति। ड्रेवर केवल दो ही प्रकार की मूलप्रवृत्तियाँ मानता है। १—प्रतीकारात्मक[1] और २—रुच्यात्मक[2]। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक के अनुसार प्रवृत्तियाँ केवल सामाजिक और वैयक्तिक नामक दो वर्ग में बाँटी जा सकती हैं। अन्य मनोवैज्ञानिक उडवर्थ के अनुसार मूलप्रवृत्तियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

१. शरीर रक्षा से सम्बन्धित प्रतिक्रिया; जैसे भूख, प्यास नींद आदि।

२. अन्य व्यक्तियों से सम्बन्धित प्रतिक्रिया; जैसे पुत्र कामना तथा सामूहिक जीवन आदि।

३. खेल सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ; जैसे चलना, दौड़ना, आत्म-गौरव तथा आत्महीनता का भाव।

मैग्डूगल का वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण है। इस वर्गीकरण की विशेषता यह है कि उसने प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के साथ एक संवेग को भी जोड़ा है।

मूलप्रवृत्ति	संवेग
१. पलायन[3]	भय
२. युयुत्सा[4]	क्रोध
३. निवृत्ति[5]	घृणा
४. पुत्र कामना[6]	वात्सल्य, स्नेह

1. Reactive. 2. Appetitive. 3. Escape–fear. 4. Combat–Anger. 5. Repulsion—Disgust. 6. Parental—Tender emotion, love.

सन्देह नहीं कि दोनों का स्रोत मस्तिष्क ही है और दोनों ही प्रकृतिदत्त होती हैं। पर मैग्डूगल को दोनों में मौलिक भेद दिखलाई पड़ता है। इनका मत है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के साथ एक संवेग का सम्बन्ध आवश्यक है, पर स्वाभाविक प्रवृत्ति के साथ यह बात आवश्यक नहीं। दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि मूलप्रवृत्ति केवल एक परिस्थिति विशेष में ही क्रियाशील होती है।

ड्रेवर तथा रीवर, मैग्डूगल के मत से सहमत नहीं। ये दोनों विद्वान् यह मानने को तैयार नहीं कि प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के लिए संवेग का होना आवश्यक है। इनका विश्वास है कि मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया बिना संवेग के भी हो सकती है। सिद्धान्त के दृष्टिकोण से ड्रेवर तथा रीवर का मत भी सही हो सकता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से मैग्डूगल का विश्वास ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन का महत्त्व :

यह परिवर्तन चार बातों द्वारा ही सम्भव है :—

१. अवदमन[1]
२. विलयन[2]
३. मार्गान्तरीकरण[3]
४. शोधन[4]

अवदमन : मूलप्रवृत्ति को रोकने या नियंत्रण करने की चेष्टा हानिकर ही सिद्ध होती है। यह मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव का विशेष अंग है और इसलिए यह धारणा कि इसको नष्ट किया जा सकता है सर्वथा गलत है। किसी न किसी रूप में बाढ़ के पानी के समान यह फूट निकलती है। सामाजिक बन्धन अथवा परम्परायें व्यर्थ ही इस पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करती हैं पर इस नियन्त्रण का परिणाम सदा विपरीत ही होता है। किसी न किसी प्रकार मूल-प्रवृत्यात्मक रुचियाँ अपनी सन्तुष्टि के लिए मार्ग ढूंढ ही लेती हैं।

परन्तु यह समझना कि मूलप्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखना व्यर्थ है, भूल होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि इन पर एकदम कड़ा नियंत्रण कभी न

1. Repression. 2. Inhibition. 3. Redriection. 4. Sublimation.

मूलप्रवृत्तियों को पूर्णतया शोधित नहीं किया जा सकता। शोधन की भी एक सीमा होती है और यदि इस सीमा का उल्लंघन किया गया तो शोधन का ध्येय पूरा न होगा। प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनमें दो प्रकार की शक्तियाँ निहित है, एक वह जिसका रूपान्तर हो सकता है, और दूसरी वह जिसका प्रकाश अनजान में हो ही जाता है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह है कि वह मनुष्य को इस योग्य कर दे कि वह इस प्रवृत्ति का महत्त्व भली-भांति समझ सके जिससे वह उनका उपयोग शोधित रूप में करे।

मूलप्रवृत्ति और शिक्षा :

शिक्षा के क्षेत्र में मूलप्रवृत्ति का महत्त्व देखकर कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि सारी शिक्षा मूलप्रवृत्तियों पर ही आधारित होनी चाहिए। इस सिद्धान्त को 'मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाशीलता का सिद्धान्त' कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मूलप्रवृत्तियों के प्रकाशन में कोई बाधा न डालनी चाहिए, क्योंकि वह किसी न किसी लाभ ही के लिए हैं। पर यह धारणा ठीक नहीं, क्योंकि प्रवृत्तियों पर नियंत्रण उतना ही आवश्यक है जितना कि नये घोड़े के लिए कोड़ा। नियंत्रण से चरित्र-बल बढ़ता है और यही तो सारी शिक्षा का मूल मन्त्र है।

प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के पूर्ण रूप से विकसित होने का एक निश्चित समय है। अतः यदि उससे लाभ उठाना है तो उसी निश्चित समय पर उसका उपयोग करना चाहिए। वर्तमान शिक्षा की नवीन प्रणालियों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है। मान्तेसरी, डिवी तथा किण्डरगार्टेन प्रणालियों में बालक की मूलप्रवृत्तियों से उचित समय पर लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाता है। माता-पिता को भी बालक की आयु देखकर मनोवैज्ञानिक ढंग से उसकी जिज्ञासा सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए।

बालक का विकास अध्यापक के हाथ में है। यदि शिक्षक को मूल-प्रवृत्तियों के महत्त्व का ज्ञान नहीं है और वह मनोवैज्ञानिक ढंग से नहीं पढाता, तो चाहे वह कितना ही योग्य शिक्षक क्यों न हो, वह बालक के लिए कुछ न कर पायेगा। बालक की मूलप्रवृत्तियों का सुधार करके उसके जीवन में

२. विलयन : विरोधी प्रवृत्तियों को साथ ही उत्साहित या जागृत करना विरोध, निरोध से अधिक उपयोगी, यह उपाय अधिक अच्छा नहीं।

३. मार्गान्तरीकरण : इसके द्वारा प्रकाशन में परिवर्तन, सामाजिक तथा व्यक्तिगत दोनों हित।

४. शोधन : शोधन ही शिक्षा का मुख्य कर्त्तव्य, इसके द्वारा स्वरूप और प्रकाशन-पद्धति दोनों में परिवर्तन सम्भव, शोधन द्वारा सामाजिक तथा व्यक्तिगत कल्याण।

परन्तु पूर्ण शोधन सम्भव नहीं। सीमा के अन्दर ही शोधन उपयोगी, सीमा के बाहर हानिकर।

शिक्षा के क्षेत्र में

मनोवैज्ञानिक ढंग से मूलप्रवृत्तियों पर विजय पाना आवश्यक, बालक की शिक्षा इन्हीं पर आधारित हो। सुधार तथा शोधन के हेतु सदा सचेष्ट रहना। निश्चित काल ही में अधिक लाभ की आशा।

बालक की सफलता, शान्ति तथा आनन्द मनोवैज्ञानिक तथा मूलप्रवृत्तियों पर आधारित शिक्षा द्वारा ही सम्भव। बालक की प्रवृत्तियों का शोधन ही शिक्षक का कर्त्तव्य।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. मूलप्रवृत्तियों की परिभाषा देते हुए उनके स्वभाव पर प्रकाश डालिए।
२. मूलप्रवृत्तियों का वर्गीकरण जैसा मैग्डूगल ने किया है क्यों अधिक महत्त्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक है?
३. मूलप्रवृत्तियों का शोधन तथा शिक्षा के विषय पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिए।
४. सहज-क्रिया और सामान्य स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा मूलप्रवृत्तियों में क्या अन्तर है?
५. 'मूलप्रवृत्तियों का शोधन सफलता तथा महानता का आधार है'; इस कथन की पुष्टि कीजिए।

किया जाय कि देश की वर्तमान आवश्यकता तथा जाति का आदर्श समझा जा सके। केवल वही मनुष्य पाठ्य-वस्तु के संगठन में सहयोग दे सकते हैं जो इन सब बातों से परिचित हों। स्पष्ट है कि इतने महत्वपूर्ण प्रश्न को उपेक्षा की दृष्टि से देखना राष्ट्र के साथ अन्याय करना होगा, किन्तु पाठ्य-वस्तु का निर्धारण करते समय केवल देश की आवश्यकता और जाति के आदर्शों को ही ध्यान में नहीं रखना चाहिए। पाठ्य-वस्तु का निर्धारण करने वाले को विषयों के निर्वाचन की कसौटी का ज्ञान होना चाहिए। पाठ्य-वस्तु का संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि विद्यार्थी उसे पढ़कर अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। पाठ्य-वस्तु के निर्वाचन के लिए एक कसौटी का होना अत्यन्त आवश्यक है। नीचे हम इसी कसौटी की ओर संकेत करेंगे।

पाठ्यक्रम के संगठन के सिद्धान्त

पाठ्यक्रम के संगठन का दायित्व स्कूल पर : विद्यालय में अध्यापक तथा विद्यार्थियों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। विद्यार्थियों की रुचि के विषय में अध्यापक अधिक जानकार होता है, अतएव आवश्यक है कि पाठ्यक्रम का संगठन करना अध्यापकों पर छोड़ दिया जाय। सभी स्कूलों को एक उचित स्तर तक लाने के लिए मोटे-मोटे सिद्धान्तों का निर्धारण अधिकारी वर्ग कर सकता है। इतना कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक बालक के लिए अलग २ पाठ्यक्रम हो, क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है। हाँ स्कूलों को अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतन्त्र होना चाहिए। हमारे देश में पाठ्यक्रम के संगठन की पद्धति इससे भिन्न है जिसके फलस्वरूप अध्यापक की मौलिकता को बहुत ही ठेस लगती है। सरकार का कार्य तो केवल रूप-रेखा ही निर्धारित करना होना चाहिए।

अन्य पाठ्य विषयों के सम्बन्ध : पाठ्यक्रम निश्चित करने के पूर्व अन्य विषयों से उसका सम्बन्ध जान लेना चाहिए इससे बालक का अधिक से अधिक हित सम्भव हो सकेगा। एक कक्षा की पढ़ाई दूसरी कक्षा की पढ़ाई से सम्बन्धित होनी चाहिए। पाठ्यक्रम का शीघ्र-शीघ्र बदलना हानिकारक होता है। अतः अध्यापक का कर्त्तव्य है कि सभी विषयों में वह एक समन्वय स्थापित करे।

की शिक्षा दी जा सकती है। आलोचनात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तर्क-शास्त्र की शिक्षा अत्यन्त ही उपयोगी सिद्ध होगी । अतः यह आवश्यक नहीं कि तार्किक-शक्ति उत्पन्न करने के लिए गणित की ही शिक्षा दी जाय । हाँ इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि जीवन में गणित की आवश्यकता कुछ न कुछ प्रत्येक व्यक्ति को पड़ती है। अतएव थोड़ी बहुत इसकी शिक्षा प्रत्येक मानव प्राणी के लिए आवश्यक है।

कल्पना-शक्ति के विकास के लिए साहित्य :

कुछ विद्वानों का कथन है कि कल्पना-शक्ति के विकास के लिए साहित्य की शिक्षा दी जानी चाहिए, किन्तु साहित्य की शिक्षा का उद्देश्य केवल कल्पना-शक्ति का विकास करना नहीं है। कल्पना-शक्ति तो ईश्वर प्रदत्त होती है और यह शक्ति तो अन्य विषय की शिक्षा से भी विकसित की जा सकती है। साहित्य की शिक्षा द्वारा तो इतनी ही चेष्टा की जाती है कि इस शक्ति का प्रयोग पूरे कार्यों में न किया जाय। व्यक्तित्व का विकास अच्छी रुचियों पर ही निर्भर है। ऐसी दशा में इतिहास और साहित्य की शिक्षा कल्पना-शक्ति के विकास के लिए नहीं, वरन् ईश्वर प्रदत्त कल्पना-शक्ति को बुरे मार्गों पर जाने से बचाने के लिए है।

निरीक्षण शक्ति की उन्नति के लिए विज्ञान :

कुछ विद्वानों का कथन है कि निरीक्षण-शक्ति की उन्नति के लिए विज्ञान की शिक्षा देना अत्यन्त ही हितकर होगा, किन्तु उनका यह तर्क ठीक नहीं। यह निश्चय नहीं है कि वैज्ञानिक प्रत्येक वस्तु को अन्य लोगों से अधिक-तीव्र दृष्टि से देखे। ऐसा देखा जाता है कि जिस विषय में जिसकी रुचि अधिक होती है उसे वह अधिक ध्यान से देखता है। हाँ एक अनभिज्ञ व्यक्ति की अपेक्षा उस विषय का ज्ञान रखने वाला मनुष्य उस विषय का अच्छी प्रकार निरीक्षण कर सकता है। निरीक्षण शक्ति के विकास के लिए व्यक्ति की रुचि में विकास करना चाहिए।

ज्ञान के लिए ज्ञान देना :

शिक्षा-शास्त्रियों ने पाठ्यक्रम के कई रूप बताये हैं जैसे साहित्यिक और वैज्ञानिक। साहित्यिक विभाग में भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल और धर्म

बहुरुचि का विकास : शिक्षा का लक्ष्य रुचि का विकास करना है। रुचि के विकास से बालक में उदारता की भावना आती है, और इसी के आधार पर उसमें अच्छे २ गुण आते हैं। रुचि के विकास से ही मानव किसी निर्णय पर पहुँचने में समर्थ हो सकता है। बालक को अपने विषयों की शिक्षा देने का ध्येय उसे विषयों का ज्ञाता बनाना नहीं होता, वरन् ऐसी शिक्षा इसलिए दी जाती है कि विभिन्न विषयों का उसे कुछ परिचय अवश्य हो जाय और पुन: जिस विषय में उसकी रुचि हो उसकी विधिवत् शिक्षा प्राप्त कर सके। यदि ऐसा नहीं होगा तो रुचि न होने पर भी बालक को किसी निश्चित विषय की शिक्षा प्राप्त करनी होगी। इसका अर्थ यह होगा कि उसकी शिक्षा अपूर्ण रह जायगी।

ऐसा देखा जाता है कि बाल्यकाल में विद्यार्थियों को समुचित अवसर नहीं मिलता। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी मूलप्रवृत्ति अविकसित रह जाती है। यह सभी लोगों का अनुभव है कि बड़े होने पर पढ़ने में कितनी असुविधा होती है। इसी तरह बालक को समुचित अवसर नहीं मिलता तो उसकी शक्तियाँ अवांछित दिशा की ओर केन्द्रित हो जाती हैं। सभी विषयों का उसे ज्ञान हो जाने से अपनी रुचि का निर्धारण करते समय केवल मनोवैज्ञानिक बातों का ही ध्यान नहीं रखना चाहिए। वरन् सामाजिक बातों का भी ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि समाजहित की अवहेलना नही की जा सकती।

पाठ्यक्रम में बालक और समाज की आवश्यकताओं का समन्वय :

इतना तो सबको स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन-यापन करने के लिए कुछ न कुछ करना पड़ता है, किन्तु यह न समझना चाहिए कि शिक्षा का ध्येय किसी विषय की केवल शिक्षा दे देनी है। ऐसे उद्देश्यों से संचालित होकर शिक्षा देना समाज के लिए हानिकारक होगा और शिक्षा-पद्धति दोषपूर्ण हो जायगी जैसा कि हम वर्तमान काल में देखते हैं। पाठ्यक्रम का संगठन करते समय हमें समाज तथा विद्यार्थियों को अपने उद्देश्य का केन्द्र बनाना चाहिए। हमें सर्वप्रथम बालकों की रुचि और तत्पश्चात् उनके समाज की आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिए। बालक जन्म काल से ही समाज

सत्य और सेवा-भाव में है। ऐसा कार्य करने वाले लोग धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं किन्तु प्रश्न यह है कि बालकों को धार्मिक शिक्षा कैसे दी जाय। क्या भूगोल, इतिहास, भाषा, गणित तथा विज्ञान की तरह से इसके लिए भी निश्चित घन्टा बनाया जाय? किन्तु ऐसा करना भी सम्भव नहीं, क्योंकि गणतन्त्र राज्य में धर्म-निर्पेक्ष राज्य होता है। सरकारी सहायता प्राप्त किसी भी संस्था में धर्म से सम्बन्धित वाद-विवाद करना ठीक नहीं है। सरकार का कर्त्तव्य है कि प्रत्येक धर्म को समान दृष्टि से देखे। किसी भी धर्म विशेष की शिक्षा नहीं दी जा सकती किन्तु सोचा जाय तो प्रत्येक घन्टे में प्रसंगानुसार धर्म की शिक्षा दी जाती है। अच्छा होगा कि सभी धर्मों के सार तत्त्व को लेकर एक पुस्तिका तैयार की जाय और उसकी शिक्षा विद्यार्थियों को दी जाय।

स्वास्थ्य पर ध्यान : अच्छा स्वास्थ्य ही सच्चा धन है। निर्बल पुरुष विश्व में कुछ भी नहीं कर सकता। अतएव बालकों के स्वास्थ्य का भी ध्यान रखना आवश्यक है। ऐसा कोई समय विद्यालय के समय में अवश्य होना चाहिए जिसमें उनको स्वास्थ्य से सम्बन्धित शिक्षा दी जा सके। छोटे-छोटे बालकों को खेल सिखलाना चाहिए और बड़े लड़कों से व्यायाम कराना ठीक होता है। अभी तक इसके लिए विद्यालयों में अपर्याप्त कार्य किया जाता है। जीवन में सफलता की कुंजी अच्छा स्वास्थ्य ही है। अत: विद्यालयों में इसके लिए अधिक से अधिक कार्य करना चाहिए।

पाठ्यक्रम से सभी प्रकार की उन्नति : पाठ्यक्रम का संगठन ऐसा न हो कि अध्यापक उसे किसी तरह से समाप्त करने की चिन्ता में पड़ा रहे, इससे विद्यार्थियों का हित न हो सकेगा। इसके साथ ही पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए कि प्राथमिक शिक्षा का माध्यमिक से और माध्यमिक शिक्षा का उच्चतर शिक्षा से सम्बन्ध हो। विद्यालय का उद्देश्य विद्यार्थियों को अपनी शक्ति के अनुसार जीवित रह सकने की शिक्षा देना है। शिक्षा का उद्देश्य शरीर, मस्तिष्क और आत्मा की समान रूप से उन्नति करना है। स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम से सभी प्रकार की उन्नति सम्भव होनी चाहिए।

योग्य नागरिक बनाना : आज का बालक कल का नागरिक है, अतएव पाठ्यक्रम का संगठन इस प्रकार किया जाय कि बालक योग्य नागरिक बन

६. किसी विषय से किसी विशेष मानसिक शक्ति का विकास नहीं
७. मानसिक-शक्ति का विकास विधि पर निर्भर
८- पाठ्यक्रम का स्वरूप विस्तृत
९. पाठ्यक्रम में बालक और समाज की आवश्यकताओं का समन्वय
१०. अपने तथा दूसरे सामाजिक आदर्शों का ज्ञान देना
११. बहुरुचि का विकास
१२. ज्ञानयं ज्ञानम्
१३. पाठ्यक्रम के संगठन का दायित्व स्कूल पर
१४. शारीर, मस्तिष्क और आत्मा के विकास पर ध्यान

पाठ्यक्रम मनुष्य की तीन प्रधान प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि हो
योग्य नागरिक बनाना,
अवकाश का सदुपयोग सिखलाना,
रचनात्मक-शक्ति का विकास करना।

१५. क्रियाशीलता के लिए अवसर देना
क्या सीखता है, कैसे सीखता है ? अधिक महत्त्व पूर्ण
१६. स्वास्थ्य पर ध्यान
१७. धार्मिक शिक्षा पर ध्यान
१८. शारीरिक परिश्रम के लिए आदर उत्पन्न करना
१९. गाँव और शहर के पाठ्यक्रम में भेद

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. पाठ्यक्रम के संगठन के सिद्धान्तों की संक्षेप में चर्चा करो।
२. मानसिक विनय से क्या समझते हो ? किसी विशेष मानसिक-शक्ति के विकास के लिए किसी विशिष्ट विषय का पढ़ाना सिद्धान्ततः क्यों गलत है ?
३. जनतन्त्रात्मक गुणों का बालकों में विकास करने के लिए हमें पाठ्यक्रम के संगठन में किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए ?

शिक्षा एवं दीक्षा का प्रबन्ध किया जाय। शिक्षा द्वारा ही हम समाज के स्वर्णिम-विहान की कल्पना अथवा अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शिक्षा ही समाज की रीढ़ है और व्यक्ति तथा समाज के लिए तब तक इसकी अवश्यकता बनी रहेगी जब तक व्यक्ति तथा समाज की अक्षुणता संसार से नष्ट नहीं होगी।

डिवी द्वारा शिक्षा की व्यापकता का प्रतिपादन :

व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध में शिक्षा के महत्त्व और उसकी व्यापकता से किसी सीमा तक हम परिचित हो चुके हैं। इस सम्बन्ध में शिक्षा-शास्त्री डिवी के निम्नलिखित विचार शिक्षा को और अधिक व्यापकता प्रदान करते हैं। उसका कहना है कि मानव अपने विवेकात्मक तत्वों के आधार पर ही पशु से श्रेष्ठ समझा जाता है और इन मानवीय तत्वों का श्रोत आदान-प्रदान है जो शिक्षा के माध्यम से किया जाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतः समाज के रीति, रिवाज, विचार तथा परम्परा आदि से परिचित होना उसके लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। इस आवश्यकता की पूर्ति शिक्षा द्वारा की जाती है। अतएव यह स्पष्ट है कि व्यक्ति, उसके व्यक्तित्व तथा समाज का विकास शिक्षा पर ही आधारित है।

यह भली भाँति ज्ञात हो जाने के पश्चात् कि व्यक्ति और समाज के लिए शिक्षा कितनी उपयोगी और आवश्यक है, हमें शिक्षा द्वारा प्राप्त लाभों पर संक्षेप में विचार करना है। शिक्षा का साधारण रूप पढ़ना-लिखना है। इसके द्वारा हम अपने को समाज के अनुकूल बना कर समाज के विकास में सहायक हो सकते हैं। पढ़ना-लिखना सीखकर कोई भी व्यक्ति पूर्वजों के अर्जित ज्ञान जो लिपिवद्ध हो चुके हैं उनसे अवगत होकर अपने अतीत के आधार पर उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकता है। प्राचीन संस्कृति, सभ्यता तथा परम्परा से परिचित होकर हम समाज के वर्तमान रीति-रिवाजों को परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप प्रदान कर सकते हैं। इस प्रकार शिक्षा का सामान्य लक्ष्य व्यक्ति में ज्ञानार्जन की शक्ति उत्पन्न करना हुआ। इसके अतिरिक्त शिक्षा के सामाजिक लाभों से परिचित होने के लिये इसके प्रमुख तीन प्रकार निश्चित किये जा सकते हैं। (१) आर्थिक लाभ, (२) सामाजिक लाभ, (३) नैतिक लाभ।

है कि समाज अपनी इकाई को अपने अनुकूल बनाने हेतु समुचित शिक्षा की व्यवस्था करता है, जिससे व्यक्ति सुशिक्षित होकर समाज को उन्नतशील बना सके, और व्यक्ति इसके बदले में समाज के प्रति निष्ठावान बना रहता है। आदर्श समाज उसी को कहा जा सकता है जिसके प्रत्येक सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त हों। उनके सुख-सुविधा की उचित व्यवस्था हो अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति सुखी और सम्पन्न हो। यह तभी सम्भव है जब समाज का प्रत्येक सदस्य समाज के प्रति सद्भावना रखता हो, उसकी उन्नति में उचित योग प्रदान करके ऐसी परिस्थितियों को जन्म दे सकता हो जो समाज के लिये मंगलमय हों। सदस्यों में ऐसी क्षमता उत्पन्न करने के लिये समुचित शिक्षा की आवश्यकता है। सदस्यों में मंगलमय सामाजिक भावना के उत्पन्न करने का एकमात्र साधन शिक्षा है।

आदर्श समाज की स्थापना के लिए शिक्षा, व्यक्ति तथा समाज में गहन सम्बन्ध का होना आवश्यक है, क्योंकि समाज के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व का विकास इस सीमा तक होना चाहिये कि वह समाज हित के सम्मुख अपने निजी स्वार्थ को ठुकराने की क्षमता रख सकें। व्यक्ति के व्यक्तित्व को इस रूप में विकसित करना शिक्षा का कर्त्तव्य है। अतः शिक्षा द्वारा व्यक्ति और व्यक्ति से समाज को विकसित करके राष्ट्र तथा विश्व को सुसम्पन्न और समृद्ध-शाली बनाकर स्वर्ग का सुख धरती पर प्राप्त किया जा सकता है।

सारांश

वर्तमान काल में शिक्षा का एक निश्चित लक्ष्य है। इसकी पूर्ति का उत्तरदायित्व समाज पर है।

व्यक्ति और समाज में शिक्षा का योग :

शिक्षा व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को दृढ़ करती हुई सर्वदा समाज की गति का अनुसरण करती है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व को इस प्रकार विकसित किया जा सकता है कि वह समाज के मंगल के लिये अपना सर्वस्व स्वाहा करने पर कटिबद्ध हो जाता है।

१०

सह सम्बन्ध तथा समन्वय-प्रणाली[1]

१. आवश्यकता[2]

प्रत्येक युग में मानव समाज में पंडितों और ज्ञानी पुरुषों का सम्मान हुआ है और होता रहेगा । इसलिए प्रत्येक युग में मानव समाज द्वारा व्यक्ति को शिक्षित बनाकर ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था रही है । ज्ञान के अभाव में मनुष्य समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पाता । अतः इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिये आज भी पाठशालाओं में अनेक प्रकार के विषय बालकों को पढ़ाये जाते हैं । यद्यपि देखने में ये विषय भिन्न दिखाई पड़ते हैं, किन्तु यदि विचार किया जाय तो वे एक ही ज्ञान रूपी शरीर के अंग-प्रत्यग मात्र हैं । कुछ विभिन्न विषयों की शिक्षा एक ही साथ सहज रूप से अधिक सुगमता से दी जा सकती है । उदाहरण के लिए, हिन्दी और अंग्रेजी पढ़ने वाले विद्यार्थी को यदि एक ही साथ हिन्दी और अंग्रेजी भाषा का व्याकरण पढ़ाया जाय तो बालक उसे सुगमता से समझ जायगा । मान लीजिये, हमें बालकों को हिन्दी में 'शब्द निरुक्ति' पढ़ानी है, तो हमें संज्ञा से भेद, वचन, लिंग, पुरुष तथा कारक इत्यादि का वर्णन करना पड़ेगा । यदि इसी समय हम अंग्रेजी में संज्ञा की शब्द निरुक्ति[3] बालकों को बतला दें तो थोड़े ही समय में बालक उसे ग्रहण कर लेंगे और पुन: अंग्रेजी में शब्द निरुक्ति सीखने में उनका समय व्यर्थ न जायेगा । इसी भाँति यदि किसी देश का इतिहास पढ़ाते साथ उसकी भौगोलिक स्थिति का वर्णन कर दिया जाय तो छात्रों को उस देश की ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थिति की जानकारी एक साथ हो जायगी ।

---

1. Corralation of studies. 2. Need. 3. Noun-Parsing.

की रुचि उत्पन्न कर सकें। कहना न होगा कि शिक्षा में सह-सम्बन्ध एवं समन्वय की विशेष आवश्यकता है।

सह-सम्बन्ध तथा समन्वय पर हरबार्ट के विचार

प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हरबार्ट का मत है कि मानव जीवन में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य आदर्श चरित्र का सृजन चरित्र-संगठन के लिए बालकों में बहुमुंखी रुचि का उत्पन्न करना आवश्यक है। बहुमुंखी रुचि का तात्पर्य यह है कि छात्र विभिन्न विषयों का अध्ययन इस प्रकार करे कि अध्ययन के सभी विषय एक ही ज्ञान की प्राप्ति के साधन प्रतीत हों। हरबार्ट का मत है कि बालकों की रुचियों में सह-सम्बन्ध और समन्वय स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम उनकी एक रुचि का विकास करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को सभी विषयों से प्रेम होना चाहिए और प्रत्येक को किसी एक विषय में निपुण होना चाहिये। अनेक विषयों की पुस्तकों को बालकों के सामने इस प्रकार रखना चाहिये कि वे सब उन्हें एक ही विषय की पुस्तक समझ सकें। उपर्युक्त विचार बालक के अन्दर शिक्षा में समन्वय के द्वारा ही सम्भव हो सकते हैं। अतएव शिक्षक के लिये आवश्यक है कि वह विभिन्न विषयों के पारस्परिक सम्बन्धों की जानकारी रक्खे जिससे वह बालकों में समन्वयात्मक बहुमुंखी रुचि उत्पन्न कर आदर्श चरित्र का निर्माण कर सके।

समन्वय के अभाव में शिक्षा-प्रणाली में कुछ त्रुटियाँ

मनोवैज्ञानिक आधार पर हम शिक्षा के निम्नलिखित तीन अंग मानते हैं: (१) ज्ञानात्मक[1], (२) रागात्मक[2] (३) क्रियात्मक[3]। आधुनिक युग में शिक्षा के इन तीनों अंगों की ओर समन्वयात्मक रूप से ध्यान नहीं दिया जाता। बहुधा समाज में सर्वत्र शिक्षा के ज्ञानात्मक पहलू पर ही विशेष बल दिया जाता है और कतिपय लोग यह समझते हैं कि रागात्मक एवं क्रियात्मक शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो स्वयं अपने आप व्यावहारिक जीवन से आती है। परन्तु यह विचार ठीक नहीं। व्यक्ति को पूर्ण रूप से शिक्षित बनाने के लिये शिक्षा के अंगों का विकास सम्यक् रूप से अपेक्षित है।

1. Knowing. 2. Feeling. 3. Willing.

हैं। इसे समझ लेने के बाद वे सभी विषयों का महत्त्व समान रूप से समझने लगेंगे और सभी अध्यापकों में समानता का विचार उत्पन्न होगा। परन्तु खेद है कि गणित और विज्ञान इत्यादि के अध्यापक अपने को हस्तकला एवं व्यायाम शिक्षा के अध्यापकों से श्रेष्ठ मानते हैं। उनके इस प्रकार सोचने का बहुत कुछ दायित्व सरकार पर भी है; क्योंकि वह सभी विषयों के अध्यापकों को समान वेतन नहीं देती। अत: स्वाभाविक है कि उच्च वेतन पाने वाले अध्यापक अपने को निम्न वेतन पाने वाले अध्यापकों से उच्च समझें। सरकार को चाहिए कि वह सभी विषयों के अध्यापकों को समान वेतन दे जिससे विद्यार्थियों के अन्दर ज्ञान की ऐकता उत्पन्न हो और वे उसकी प्राप्ति के लिये सभी विषयों का अध्ययन समान रुचि से करें।

विषयों का केन्द्रीकरण

सह-सम्बन्ध और शिक्षा समन्वय के लिए हरवार्ट के कथनानुसार किसी एक विषय को प्रधान मानकर अन्य विषयों का शिक्षण उसी के सहारे करना चाहिये। हरवार्ट ने इस दृष्टि से इतिहास को प्रधान स्थान दिया था। इतिहास को एक व्यापक विषय मानकर उसने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि साहित्य, चित्रकला और गणित इत्यादि के विषय किस भाँति इतिहास से सम्बन्धित किये जा सकते हैं। उसके विचार में साहित्य की जानकारी करने के लिये ऐतिहासिक नाटक, काव्य और उपन्यास चुने जा सकते हैं। बालकों के आदर्श-चरित्र-निर्माण के लिए ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ाये जा सकते हैं। चित्रकला एवं शिल्प-कला का ज्ञान कराने के लिये दुर्ग, भवन तथा अस्त्र-शस्त्र बनाने की शिक्षा बालकों को दी जा सकती है। ऐतिहासिक आक्रमणों के वर्णन द्वारा कुछ प्रदेशों की भौगोलिक दशा का भी ज्ञान उन्हें कराया जा सकता है। इसी तरह ऐतिहासिक सेना तथा इमारत के व्यय सम्बन्धी बातों के आधार पर गणित की शिक्षा दी जा सकती है।

हरवार्ट के अनुयायिओं ने तो इतिहास को यहाँ तक प्रधानता दी है कि उसके साथ विज्ञान की शिक्षा का भी समन्वय सम्भव बतलाया है। उदाहरणार्थ, किसी सामुद्रिक युद्ध के वर्णन में हवाओं, तूफानों तथा कुतुबनुमा आदि का वैज्ञानिक ज्ञान देना असम्भव न होगा। पर केन्द्रीकरण की इतनी दूर तक

प्रारम्भिक कक्षाओं में समन्वयात्मक शिक्षा-प्रणाली सबसे अधिक सुविधा-जनक सिद्ध हुई है। इसका कारण यह है कि बाल्यावस्था में बालक की बुद्धि इतनी अधिक मात्रा में विकसित नहीं होती कि वह संसार की विभिन्न वस्तुओं की पूर्ण-रूपेण जानकारी सरलता से कर सके। उसे मानव एवं प्रकृति में अन्तर का ज्ञान बहुत कम होता है। अतएव बालक, रुचि एवं वातावरण को देखते हुए उसकी शिक्षा का कार्य आरम्भ करना चाहिए। बालकों के समक्ष बहुधा मानवीय वातावरण की हीं कोई शिक्षा आरम्भ करनी चाहिए। इसकी जानकारी प्राप्त करने के बाद वे धीरे-धीरे अन्य विषयों की जानकारी कर लेंगे और धीरे-धीरे उन्हें विश्व की सभी चीजों का ज्ञान हो जायगा।

यद्यपि शिक्षा में समन्वय का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है तथापि प्रत्येक शिक्षक के लिये इस प्रणाली को कार्यान्वित करना सम्भव नहीं। इसके लिए शिक्षक को पाठ्यक्रम के सभी विषयों से परिचित होना आवश्यक है। यदि अध्यापक सभी विषयों की जानकारी नहीं रखता तो वह मुख्य विषय के साथ अन्य विषयों का सम्बन्ध नहीं स्थापित्त कर सकता। अध्यापक को बालकों की बौद्धिक एवं नैतिक शिक्षा का विशेष ध्यान रखना चाहिए। आधुनिक युग में मूर्ख साधु एवं धूर्त विद्वान की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान समय में सामाजिक जीवन के खोखलेपन का एकमात्र कारण हमारी नैतिक शिक्षा का अभाव है। अतः यदि अध्यापक शिक्षा में समन्वयात्मक प्रणाली प्रयोग न कर सके तो बालकों के नैतिक विकास का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, अन्यथा शिक्षा लाभप्रद न सिद्ध होगी।

सारांश

शिक्षा मानव जीवन की उन्नति की आधार शिला है। अतः इसका रूप ऐसा होना चाहिए कि जिससे थोड़े ही समय में मनुष्य विभिन्न विषयों की जानकारी प्राप्त कर सके। अतः सभी विषयों के अध्यापनार्थ शिक्षा में सहा-सम्बन्ध एवं समन्वय की बड़ी आवश्यकता है। इस प्रणाली के द्वारा बालकों को थोड़े ही समय में पर्याप्त शिक्षा दी जा सकती है।

११

मनोवैज्ञानिक आधार पर शिक्षा-सिद्धान्त

आधुनिक युग को विज्ञान का युग कहा जाता है, क्योंकि वर्तमान युग में मानव के प्रत्येक क्षेत्र की प्रगति का आधार विज्ञान ही निश्चित करता है। इस नवीन युग में मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षा-सिद्धान्तों का नवीन एवं परिष्कृत स्वरूप भी निर्धारित हुआ है। इस स्वरूप की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है :—

शिक्षा का केन्द्र बालक :

प्राचीन शिक्षा-सिद्धान्तों में पाठ्यक्रम को आधार मान कर शिक्षा प्रदान की जाती थी। पाठ्यक्रम का निर्माण सामान्य बुद्धि के बालक को माध्यम मान कर किया जाता था। इस प्रकार कक्षा के तीव्र एवं मन्द बुद्धि के बालकों की बुद्धि का विकास एवं कठिनाइयों का निराकरण नहीं हो पाता था। फलतः कुशाग्र बुद्धि के बालक का बुद्धि-विकास अवरुद्ध हो जाता था जिससे बालक का उत्साह मर जाता था और मन्द बुद्धि के बालक में परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने के कारण शिक्षा के प्रति अरुचि पैदा हो जाती थी। मन्द बुद्धि का बालक यह जानता था कि उसे परीक्षा में उत्तीर्ण होने योग्य बनाने का अवसर नहीं प्रदान किया जा सकता है। यही भावना उसे अनैतिकता की ओर अग्रसर करके व्यक्ति तथा समाज का अहित करने की प्रेरणा उत्पन्न कर देती थी।

इसके विपरीत आजकल बालक को केन्द्र मान कर शिक्षा प्रदान करने से कक्षा के सभी बालकों का वांछित विकास समुचित रूप में होता रहता है। इसके लिये अध्यापक बालक के निकट सम्पर्क में आकर अपने व्यक्तित्व से उन्हें प्रभावित करता है और उनकी कठिनाइयों से अवगत होकर उनका निराकरण करता है। फलतः सभी बालकों को उनकी क्षमता के अनुसार

करता है। शारीरिक विकास व्यक्ति को पहलवान भले ही बना सकता है किन्तु व्यक्ति में मानवता सम्बन्धी श्रद्धा, सहानुभूति, प्रेम तथा अन्य सामाजिक गुणों का सृजन नहीं कर सकता। अतः मनुष्य में आवश्यक सामाजिक गुणों के सृजन हेतु उसके मानसिक विकास पर यथेष्ठ ध्यान देना शिक्षा के लिये आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। वर्तमान शिक्षा की यह माँग है।

शारीरिक तथा मानसिक विकास के अतिरिक्त बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए बालक का नैतिक विकास होना आवश्यक है। यदि बालक का मानसिक एवं शारीरिक विकास उचित रूप में हुआ हो और उसे नैतिकता की शिक्षा न प्रदान की गई हो तो वह समाज और राष्ट्र के लिए बड़ा ही घातक सिद्ध हो सकता है। चोरी करना, झूठ बोलना, हिंसा तथा इसी प्रकार के अन्य असामाजिक कृत्यों के करने में वह किंचित मात्र भी नहीं हिचकेगा तथा बुद्धिमान और सबल होने के कारण उसे इन कुकृत्यों से रोकने में बड़ी असुविधा भी होगी। अतः शारीरिक तथा मानसिक विकास के साथ-साथ बालक का नैतिक विकास करके उसे सद्चरित्र, परोपकारी, सहनशील तथा उदार बना कर उसके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाना बहुत आवश्यक है।

स्वावलम्बन की शिक्षा :

व्यक्ति के जीवन में स्वावलम्बन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा की नवीन पद्धतियों में इस पर विशेष बल दिया जाता है। विद्यार्थी को शिक्षा से प्रोत्साहन मिलता है। उसी प्रोत्साहन के आधार पर वह अपनी कल्पनाओं के अनुसार कार्य करता है। शिक्षक केवल निरीक्षण द्वारा उस कार्य की त्रुटियों से विद्यार्थी को अवगत कराकर उससे निराकरण की चेष्टा करता है। इस प्रकार विद्यार्थी में स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न होती है। बालक को स्वावलम्बी बनाने के ही ध्येय से उसे उसकी रुचि के अनुसार विभिन्न प्रकार की कलाओं की शिक्षा दी जाती है। कला की शिक्षा में बालक अपने विचारों को व्यक्त करने में पूर्ण स्वतंत्र होता है। उसे अपने मौलिक विचारों तथा भावों को अपनी रुचि के अनुकूल विभिन्न रंगों तथा रेखाओं के सहारे चित्रित करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार वह चित्रांकन मूलतः

-पद्धति का यह महान दोष था कि बालक के शैक्षिक तथा सामाजिक वातावरण में बड़ा अन्तर रहता था। इसी से शिक्षा अधिक उपयोगी नहीं बन सकी थी। अतः नवीन शिक्षा-प्रणाली में ग्रामोपयोगी शिक्षा तथा कृषि को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। बालक की रुचि के अनुसार शिक्षा जितनी ही अधिक उपयोगी होगी उतने ही अधिक उत्साह पूर्वक वह उसे ग्रहण करेगा। अतः शिक्षा जन-जीवन तथा उसके वातावरण से इस प्रकार सम्बन्धित हो कि शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक बालक जीवन संग्राम में सफलता प्राप्त कर सके।

विनय की शिक्षा :

प्राचीन शिक्षा-पद्धति में विनय को अनुशासन कहा जाता था तथा इसे परिष्कृत दण्ड का रूप प्रदान किया था जो सर्वथा गलत है। तत्कालीन शिक्षा-मर्मज्ञों का विचार था कि अनुशासन अर्थात् दण्ड के बिना शिक्षा प्राप्त करना असम्भव है। बालक की किसी विषय की ग्राह्य सम्बन्धी क्षमता की दुर्बलता का कारण उसकी अनुशासन हीनता मानी जाती थी जब कि शिक्षा के इस मनोवैज्ञानिक युग में उक्त दुर्बलता का प्रमुख कारण शिक्षा-प्रणाली का दोषयुक्त होना माना जाता है। नवीन शिक्षा-प्रणाली में अध्यापक की योग्यता द्वारा विद्यार्थी को यह अवसर ही नहीं मिल पाता कि वह विनय भंग करने का विचार कर सके। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की रोचकता उन्हें इन बातों पर विचार करने का अवसर ही नहीं प्रदान करती। अनुशासन की स्थापना का साधन प्रेम माना गया है न कि दण्ड।

समता तथा सद्‌भावना की शिक्षा :

वर्तमान वैज्ञानिक युग में विभिन्न देशों की दूरी तथा रस्म-रिवाजों में उतना अन्तर नहीं रह गया है जितना कि पहिले था। यही कारण है कि एक देश की परिस्थिति तथा उसकी घटना से दूसरा देश प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। अतः वर्तमान शिक्षा का लक्ष्य प्राणिमात्र में सद्‌भावना, समता तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना करना हो गया है। परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व सभी के लिए समता तथा एक दूसरे के प्रति सद्‌भावना का होना

महत्व प्रदान करके शिक्षा को बाल केन्द्रित किया गया। स्वावलम्बन, अनुशासन तथा सामाजिकता पर विशेष बल दिया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. शिक्षा-सिद्धान्त के नवीन रूप पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट कीजिए कि इस प्रणाली में अनुशासन की क्या स्थिति है ?

२. शिक्षा 'बालक केन्द्रित की गई' का क्या अर्थ है ?

ंगटन ने कुत्ते तथा बिल्ली पर अनेक परीक्षण करके यह सिद्ध कर दिया है कि जेम्स-लैङ्ग का सिद्धान्त आधार रहित है और संवेग तथा संवेदना से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। सत्य तो यह है कि संवेग की स्वतंत्र सत्ता होती है। वह संवेदना पर आधारित नहीं होता।

संवेग की निम्नलिखित विशेषतायें हैं

वैयक्तिकता का गुण[1]

संवेग सदा व्यक्ति के मनो-भावों पर निर्भर रहता है। अतः यह आवश्यक नहीं कि एक ही परिस्थिति में दो व्यक्तियों की भावना का संचार एक सा ही हो। क्या कारण है कि एक व्यक्ति दीन अथवा दुखी को देखकर एकदम उदासीन रहता है जब कि दूसरा उसे अपना मानकर रो उठता है ? इस प्रकार वाह्य परिस्थितियों पर संवेग की क्रियाशीलता सदा निर्भर नहीं रहती। यह व्यक्तिगत भावनाओं द्वारा बहुत हद तक नियन्त्रत होता है।

संवेग तथा भाव का सम्बन्ध :

भाव संवेग का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। संवेग के अन्तर्गत न केवल भाव, वरन् संवेगात्मक प्रवृति और शारीरिक अवयवों के परिवर्तन भी आते हैं। पर भाव संवेग का केन्द्र माना जाता है। भाव का आधार मानसिक स्थिति या अवस्था है। यह ध्यान रखना चाहिये कि भाव तथा संवेदना में भेद है। भाव तो केवल एक मानसिक अनुभव है जिसका स्रोत संवेग है।

व्यापकता का गुण :

संवेगों की व्यापकता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्राणी संवेग का अनुभव करता है, कोई कम मात्रा में तो कोई अधिक मात्रा में, पर आभास सबको होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के सवेग अधिक प्रबल होते हैं। संवेग पर नियन्त्रण कर लेना साधना तथा योग है। इसके प्रभाव का सभी अनुभव करते हैं। कवि या चित्रकार प्रकृति की वस्तुओं तक में अपने संवेग की छाया देखते हैं। इस प्रकार संवेग व्यापक होते हैं।

---

1. Personalness.

में सहायक हो सकता है जिसमें प्रत्येक बालक को समुचित विकसित करने का अवसर मिलता रहे। शोधन के द्वारा मार्गान्तरीकरण करके बालक के संवेग को सद्मार्ग की ओर मोड़ना उसके लिए हितकर होगा। संवेगों का शोधन बहुत आवश्यक है। वास्तव में शिक्षा का यही अभिप्राय तथा लक्ष्य है।

संवेग को वश में करने के लिए सबसे अच्छा उपाय अध्यवसाय है। क्या कारण है कि परीक्षा के दिनों विद्यार्थी संलग्न दिखलाई पड़ते हैं? मुख्य कारण यह है कि उनके अध्यवसाय ने उनके विचारों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। अतः किसी अन्य प्रकार का विचार टिक ही नहीं सकता। विचारों को प्रोत्साहन देकर भाव प्रधानता को समाप्त किया जा सकता है। इस कथन का यह भी अर्थ नहीं कि संवेगों को सदा के लिए नष्ट कर दिया जाय। प्रथम बात यह है कि यह असम्भव है। दूसरे, बात यह कि ऐसा करना अमनोवैज्ञानिक है। समय-समय पर संवेगों को पूर्ण अवसर मिलना ही चाहिए। यह उपाय रेचन कहलाता है। अरस्तू का मत था कि दुखान्त घटना देखने या अनुभव करने से भय तथा सहानुभूति की प्रवृत्तियों का रेचन द्वारा शोधन हो जाता है।

शिक्षक तथा संवेग का सम्बन्ध :

संवेग, शिक्षक के हाथ में वह अस्त्र है जिसकी सहायता से वह अपने कार्य पर विजय प्राप्त करता है। यदि उसे यह ज्ञान नहीं कि शिक्षण-विधि में संवेग का क्या महत्त्व है तो वह उस सिपाही के समान है जो अस्त्र होते हुए भी हार जाता है। यह सब कुछ होते हुए भी अध्यापक कभी-कभी न केवल अमनोवैज्ञानिक व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं, वरन् बड़ा ही अमानुषिक वर्ताव रखते हैं जिसका मूल्य छात्रों को चुकाना पड़ता है। अतः बालकों के संवेगात्मक विकास पर ध्यान रखते हुए उन्हें अपनी शिक्षण-विधि इस प्रकार प्रारम्भ करनी चाहिए कि बालक न केवल विषय के प्रति रुचि ही उत्पन्न करले, वरन् उसे उचित ज्ञान भी प्राप्त हो जाय। डाँटने, पीटने तथा धमकी से छात्रों के मानसिक विकास में बाधा पड़ती है और उनका शिक्षा तथा जीवन के प्रति बड़ा ही निराशापूर्ण तथा उदासीन दृष्टिकोण बन जाता है। परिस्थिति को

१३

विशिष्ट बालक और शिक्षा

विद्यालयों में भिन्न-भिन्न वातावरण तथा पारिवारिक समस्याओं और परिस्थितियों में पले हुए विभिन्न रुचि, बुद्धि तथा स्वभाव के बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं। विद्यालय का पाठ्यक्रम सामान्य बालक को माध्यम मानकर तैयार किया जाता है। इस प्रकार असाधारण अथवा मन्द-बुद्धि के बालकों के उचित विकास का प्रश्न विद्यालय के लिए एक समस्या हो जाती है। असाधारण बुद्धि के बालकों को "प्रतिभावान" तथा मन्द-बुद्धि वाले को "पिछड़ा हुआ" बालक कहा जा सकता है। इस अध्याय में विद्यालय की इसी तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याओं पर विचार किया जायगा।

प्रतिभावान बालक :

विद्यालय का पाठ्यक्रम और बालकों के लिए प्रस्तुत की गई पाठ्य-वस्तु का निर्माण सामान्य श्रेणी के बुद्धि वाले बालक के अनुसार किया जाता है। अत: जो बालक निर्धारित पाट्य-वस्तु को निश्चित समय के पूर्व ही सीख लेते है उसे प्रतिभावान बालक कहा जा सकता है। ऐसे बालकों की बुद्धि-परीक्षा लेकर बुद्धि-लब्धि के अनुसार, साधारण बालकों से अलग इनके समुचित विकास हेतु आवश्यक प्रबन्ध करना चाहिए। यदि इन्हें विकास का उपयुक्त अवसर मिल जायगा तो इनसे समाज को बड़े लाभ की आशा की जा सकती है।

टरमैन, हेलेनडेविस तथा वाल्डविन आदि शिक्षा-शास्त्रियों के अन्वेषणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रतिभावन बालकों का स्वास्थ्य सामान्य बालकों से अच्छा होता है। हॉलिगवर्थ तथा टेलर ने भी इस धारणा का समर्थन किया है। हैरियट के मतानुसार प्रतिभावन बालक उदार प्रवृत्ति का होता है।

उत्पन्न हो सकता है, जिससे उनके सामाजिक गुणों के ह्रास होने की सम्भावना है। अतः यह विधि ठीक नहीं है।

मन्द-बुद्धि अथवा पिछड़े हुए बालक[1]

पिछड़े हुए बालक कक्षा की एक समस्या तथा सामान्य एवं प्रतिभावान बालकों के मार्ग के कांटे के समान होते हैं। उन्हें किसी विषय का ज्ञान कराने के लिए जब अध्यापक उस विषय की शिक्षा बार-बार देता है तो सामान्य तथा कुशाग्र बुद्धि के बालकों के लिए विषय अरुचिकर हो जाता है। साथ ही साथ मन्द-बुद्धि वाले बालकों की भावना में हीनता आने के कारण उनका भी समुचित विकास नहीं हो पाता। अध्यापक के लिये आवश्यक है कि विद्यालय में प्रवेश करने के पूर्व ही बालकों की वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा लेकर उनका उचित वर्गीकरण कर ले तथा समय-समय पर ज्ञान-परीक्षा भी करता रहे। कक्षा में बालकों के पिछड़े होने के वाह्य तथा आन्तरिक दो कारण हो सकते हैं। वाह्य कारण उनकी पारिवारिक परिस्थिति तथा वातावरण से तथा आन्तरिक कारण ज्ञानेन्द्रियों की निर्बलता एवं व्यतिक्रमता तथा बुद्धि की हीनता से सम्बन्धित होते हैं। आन्तरिक कारणों का आधार प्रायः प्राकृतिक होता है, परन्तु वाह्य कारणों के जानने के लिए बालक के परिवार, रहन-सहन तथा वातावरण का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इससे वंशानुक्रमागत आये दोषों का भी पता चल जायगा। निर्बलता उत्पन्न करने वाले कारणों के अनुसार पिछड़े हुए बालकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित करके विभिन्न रूप में उनकी शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है।

१. मन्द-बुद्धि बालक :

इस प्रकार के बालकों के लिए अतिरिक्त कक्षा तथा स्कूल खोल कर उनकी बुद्धि के अनुसार शिक्षा प्रदान करके उसे विकसित किया जा सकता है। परन्तु यह पद्धति उनमें हीनता की भावना उत्पन्न कर देगी। अच्छा होगा यदि एक घन्टे में हर कक्षा में एक ही विषय पढ़ाया जाय जिससे अपनी योग्यतानुसार बालक भिन्न-भिन्न कक्षा में उस विषय की शिक्षा प्राप्त कर सके।

---

1. The Backward children.

चाहिए तथा उसे होठ की गति से परिचित होने का अभ्यास कराना चाहिए। इसी प्रकार अन्य प्रकार के दोषों का भी निराकरण किया जा सकता है।

सारांश

विद्यालयों में प्रायः प्रतिभावान, अकाल प्रौढ़, सामान्य तथा मन्द बुद्धि के बालक होते हैं। इनके उचित विकास के लिये विद्यालय को विभिन्न प्रकार की सुविधायें प्रदान करनी चाहिए।

प्रतिभावान् बालक :

सामान्य बालकों की अपेक्षाकृत इनके बौद्धिक जिज्ञासा, तर्क-शक्ति तथा मौलिकता का प्राबल्य होता है। बुद्धि परीक्षा द्वारा इनकी योग्यता का पता लगा कर निम्नांकित विधियों के अनुसार इनका समुचित विकास किया जा सकता है।

१. समय के पूर्व एक कक्षा से दूसरी कक्षा में तरक्की[1] देकर।

२. पाठ्यवस्तु को विस्तृत करके।

३. वैयक्तिक विधि से, तथा।

४. वर्गीकरण की पद्धति द्वारा शिक्षा प्रदान करके।

लोगों की ऐसी धारणा है कि बालिकाओं का मानसिक विकास बालकों की अपेक्षाकृत कम होता है, गलत है।

अकाल प्रौढ़ बालक :

इस श्रेणी में ऐसे बालक आते हैं जो परिस्थिति विशेष के कारण प्रतिभावान मान लिये जाते हैं, और वे स्वयं भी इसके लिये स्वांग रचते और प्रयत्न भी करते हैं कि उन्हें प्रतिभावान् माना जाय। बुद्धि-परीक्षा के आधार पर इनको उचित श्रेणी में रख कर आवश्यक शिक्षा व्यवस्था करनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो अकाल प्रौढ़ता बालक के लिए हानिकर सिद्ध होने के साथ-ही साथ विद्यालय के समक्ष एक विकट परिस्थिति उत्पन्न कर सकती है।

---

1. Promotion.

१४
वैयक्तिक भेद तथा शिक्षा[1]

वैयक्तिक भेद

आजकल के मनोवैज्ञानिकों ने वैयक्तिक भेद पर बहुत बल दिया है। संसार में कोई भी दो व्यक्ति समान नही मिल सकते। कोई सुन्दर है, तो कोई भद्दा; कोई गोरा, कोई काला, कोई लम्बा तो कोई बौना, कहने का तात्पर्य यह है कि निर्माणकर्त्ता ने जितने व्यक्तियों का निर्माण किया है सभी के सांचे विभिन्न हैं। इस विभिन्नता का व्यक्ति की मनोवृत्ति पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, जैसा कि मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों से सिद्ध हो चुका है। शारीरिक आकृति का वैयक्तिक भेद पर प्रभाव अवश्य पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति में मूलप्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं; परन्तु उनकी क्रियाशीलता समान नहीं होती। किसी में युयुत्सा की प्रवृत्ति अधिक है तो किसी में जिज्ञासा की प्रवृत्ति। इस प्रकार व्यक्ति के स्वभाव में अन्तर पाया जाता है। किसी का चहरा सदा प्रफुल्लित रहता है तो किसी की मुहर्रमी सूरत। किसी का स्वभाव कोमल है तो किसी का कठोर। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई दो व्यक्ति समान नहीं हैं।

वैयक्तिक भेद के कई कारण होते हैं। प्रथम कारण वंशानुक्रम को माना जाता है। व्यक्ति की बुद्धि तथा शारीरिक स्वास्थ्य पर वंशानुक्रम का बहुत प्रभाव पड़ता है। दूसरा कारण वातावरण है। व्यक्ति को जैसा वातावरण मिलता है वैसा ही वह बनता है। भारतीय समाज में जन्म लेने वाला बालक अंग्रेजी समाज के बालक से भिन्न होगा। इसी प्रकार उच्च तथा नीच जाति का भी प्रभाव पड़ता है।

1. Individual Differences and Education.

भारत की शिक्षा-प्रणाली में ऐसा करना कठिन है। पैंतीस चालीस की कक्षा में प्रत्येक बालक पर ध्यान नहीं दिया जा सकता।

स्पष्ट है कि शिक्षा-प्रणाली में बालक के वैयक्तिक भेद पर ध्यान देना आवश्यक है। कक्षा-शिक्षण के लाभों को दृष्टि में रखकर भी हम वैयक्तिक भेदों की उपेक्षा नहीं कर सकते। बालकों का वर्गीकरण उनकी योग्यतानुसार करना आवश्यक है। मन्द बुद्धि तथा तीव्र बुद्धि वाले बालकों की शिक्षा एक साथ नहीं हो सकती। वर्गीकरण करते समय हमें मानसिक योग्यता के साथ-साथ बालक की शारीरिक अवस्था, संवेगात्मक प्रवृत्ति तथा सामाजिक वातावरण पर भी ध्यान देना होगा। परन्तु यह वर्गीकरण सम्भव नहीं जान पड़ता। फिर भी योग्यतानुसार वर्गीकरण करने से ही शिक्षा से अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सकता है। सीखने की योग्यतानुसार पाठ्य वस्तु और शिक्षा विधि का आयोजन करना चाहिए।

वैयक्तिक शिक्षण की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अमेरिका में वैयक्तिक शिक्षण के उद्देश्य को डाल्टन प्लान, प्रोजेक्ट मेथड, कॉन्ट्रैक्ट प्लान तथा एक्टीविटी प्रोग्राम द्वारा पूरा करने की कोशिश की गई है। इन प्रणालियों द्वारा शिक्षक का कार्य बहुत कम रह जाता है। वह केवल निर्देश देता है। बालक अपनी रुचि और आवश्यकतानुसार अपनी शिक्षा स्वयं ही पाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में शरीर-सम्बन्धी वैयक्तिक भेद पर भी ध्यान देना आवश्यक है। बालकों की डाक्टरी परीक्षा नियमानुसार होनी चाहिए। शक्तिहीन बालक को कम कार्य देना चाहिए। बालक की स्वच्छन्दता तथा उसके व्यवहार पर भी ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा उसे सामाजिक गुणों से अवगत कराना शिक्षा का उद्देश्य है।

आज भारत स्वतंत्र है। आज के बालक ही कल के नागरिक होंगे, जिनको भारत की बागडोर संभालना है। अत: समुचित शिक्षा के प्रबन्ध की बहुत आवश्यकता है। प्रत्येक बालक को अपने विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। बालक की शारीरिक, मानसिक, नैतिक व सामाजिक उन्नति उसके वैयक्तिक भेद के अनुसार होती है। अत: शिक्षा में

डाल्टन प्लान, प्रॉजेक्ट मेथड, कॉन्ट्रैक्ट तथा एक्टीविटी प्रोग्राम द्वारा वैयक्तिक शिक्षण ।

शारीरिक भेद पर भी ध्यान देना आवश्यक, कुशल नेतृत्व से सामाजिक गुणों का स्वतः विकास ।

बालक की सामाजिक, नैतिक सभी आचरण-सम्बन्धी, शिक्षा देना ही अच्छी शिक्षा का उद्देश्य, दस वर्ष तक के लड़के लड़कियों को एक साथ शिक्षा ।

सम्भावना के विकास का एक विशिष्ट काल, उचित समय पर उसे विकसित करना, वैयक्तिक भेद के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. व्यक्तिगत भेदों से क्या तात्पर्य है ? शिक्षा के क्षेत्र में इसकी व्यवस्था क्यों आवश्यक है ?

२. भारतीय वर्तमान शिक्षा प्रणाली में वैयक्तिक भिन्नता पर अधिक ध्यान क्यों नहीं दिया जा सकता ?

था। फलतः उस समय की शिक्षा का ऐसा रूप था जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति में उक्त गुणों का सृजन हो सके।

प्राचीन काल

१. वैदिक शिक्षा

प्राचीन शिक्षा का रूप आज की शिक्षा-व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न था। उस समय शिक्षा एक महान तपस्या थी। अध्यापक वेतन-भोगी नहीं थे। अध्यापन-कार्य को धार्मिक रूप तथा विशेष महत्त्व प्राप्त था। अतः गुरु का जीवन धर्म से ओत-प्रोत तथा त्यागी के आदर्श का होता था। उस समय की शिक्षा में गुरु-सम्मान का प्रमुख स्थान था। गुरु की आज्ञा शिष्य के लिए प्रत्येक परिस्थित में शिरोधार्य होती थी। शिष्य गुरु की कृपा के लिए सदैव लालायित रहते थे। शिष्य बनने के पूर्व उन्हें प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वे गुरू के हवन की आग सर्वदा प्रज्वलित किये रहेंगे। गुरु की समस्त इच्छाओं की पूर्ति का भार शिष्यों पर होता था। शिष्य भिक्षा एकत्रित करते थे। जीवन की आवश्यकतायें उस समय प्रायः सीमित सी थीं। फिर भी उन सभी की व्यवस्था का भार शिष्यों पर ही था। गुरु की कृपा-दृष्टि जिस शिष्य पर विशेष रूप में होती थी वह अपने को धन्य मानता था। गुरु जी की बातों को बिना किसी प्रतिवाद के मान लेना तथा उनकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करना शिष्य-धर्म था। गुरु की आज्ञा सर्वश्रेष्ठ होती थी जिसका पालन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करना होता था। इसका ज्वलन्त उदाहरण मर्यादा पुरूषोत्तम रामचन्द्र का विश्वामित्र जी की आज्ञानुसार, धनुष का तोड़ना है।

इन गुरुओं के प्रत्येक विद्यार्थियों में समानता की भावना व्याप्त थी। यहाँ राजा रंक का प्रश्न ही नहीं उठता था। सभी समान भाव से तपश्चर्या में लीन रहते थे। इस तपस्या के जीवन का उद्देश्य था 'मनुष्य का महत्त्व' जो कि आज की शिक्षा में अप्राप्य है। फलतः जनता में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। शिष्य रूप में यदि सुदामा ने गुरु के हवन की लकड़ियाँ इकट्ठी की तो राजपुत्र श्रीकृष्ण भी उनके साथ-साथ रहे। आवश्यकता आविष्कार की

लता प्रगट होने लगी। फलतः गुरुओं ने अपने शिष्यों में से अन्य विद्यार्थियों के लिए सहायक गुरु निर्वाचित करना प्रारम्भ कर दिया। यहीं से सहायक गुरुओं की पद्धति का प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

प्राचीन युग की आवश्यकतानुसार उस समय की शिक्षा के पाठ्यक्रम में चारों वेदों, पुराणों, राशि, दैव, तिथि, वाकोवाक्य, कल्प, छन्द, एकायन, ब्रह्म-विद्या, देव-विद्या, भूत-विद्या, नक्षत्र-विद्या, काव्य तथा वस्त्र विद्या आदि को समाविष्ट किया गया और इनसे सम्बन्धित, साहित्य का अपरिमित रूप में सृजन हुआ जो कि पाणिनि, पतंजलि तथा कात्यायन आदि महापुरुषों के सतत प्रयास का प्रमाण है। फलतः पाणिनि द्वारा निर्धारित संस्कृति शिक्षा की रूपरेखा को परिवर्तित करना आज भी कठिन ही नहीं अपितु असम्भव सा है।

प्राचीन शिक्षाविज्ञों ने वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ शिक्षा की प्रणाली को भेद पूर्ण बना ही लिया था परन्तु वे इतने से ही सन्तुष्ट न हो सके। उनके द्वारा प्रत्येक वर्ण के विद्यार्थियों के शिक्षा के विषय भी भिन्न भिन्न निर्धारित किये गये। जैसे, जिन विषयों की शिक्षा ब्राह्मणों को दी जाती थी उनकी शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी क्षत्रिय नहीं थे और जिन विषयों की शिक्षा क्षत्रियों को प्रदान की जाती थी उन विषयों की शिक्षा वैश्यों को नहीं दी जा सकती थी। विषय भिन्नता के साथ-साथ वर्णानुसार इन विषयों के महत्त्व में भी भिन्नता विद्यमान थी। क्रमशः क्षत्रियों एवं वैश्यों के शैक्षिक विषय ब्राह्मणों के शैक्षिक विषयों की अपेक्षा निम्न कोटि के होते थे। ऐसी व्यवस्था का मूल कारण ब्राह्मणत्व की रक्षा करना था परन्तु इसके परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था स्वाभावतया भंग हो गई। फलतः इस ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति द्वारा प्राचीन युग की पुनीत शिक्षा की प्रगति का पथ अवरुद्ध हो गया और उसकी अवनति होने लगी।

२. बौद्धिक शिक्षा

बौद्धिक एवं ब्राह्मणों की शिक्षा की अवनति के पश्चात् भारतीय शिक्षा के इतिहास के दूसरे युग का निर्माण बौद्ध धर्म के विकास के साथ-साथ बौद्धिक शिक्षा के रूप में हुआ। बौद्धिक तथा ब्राह्मणों की शिक्षा में जो त्रुटियाँ थीं

बौद्धिक शिक्षा तत्कालीन समाज के सम्पर्क में रह कर विशेष रूप में जन जीवन से सम्बन्धित रही। कलाओं की भी सम्यक् उन्नति का प्रयास किया गया। शिक्षा के मुख्य विषय, शिल्पकला, संस्कृत, चिकित्सा और दर्शन थे। बौद्ध विहारों का निर्माण भिक्षुओं के रहने के लिए किया गया था, परन्तु समाज की आवश्यकतानुसार वे विद्यालय का भी कार्य करते थे। इस प्रकार समाज और विद्यालय का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। विद्यार्थियों की परीक्षा विद्वानों द्वारा ली जाती थी। जब विद्यार्थी के उत्तरों से वे सन्तुष्ट हो जाते थे तभी विद्यार्थियों को शिक्षित घोषित करते थे। शिक्षित विद्यार्थी राजा के पास जाकर अपनी विद्वता का परिचय देता था। इसके फलस्वरूप राजा उन्हें राज्य कार्य सौंपता था।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बौद्धि शिक्षा द्वारा इसके पूर्व प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के अनेक दोषों का निराकरण हुआ और भेद-भाव, जातिवाद तथा वर्गवाद की दलदल में फँसी हुई मृत प्राय शिक्षा का पुनुरुत्थान हुआ। देश में शिक्षकों, कुशल शासकों एवं चिकित्सकों की वृद्धि हुई। जन-मन में व्याप्त भेद-भाव तथा विचारों की संकीर्णता का नाश हुआ। देश की राजनीतिक परिस्थित ने अंगड़ाई ली। भारत की सत्ता कई छोटे-छोटे राज्यों में छिन्न-भिन्न हो गई। इन राज्यों में भी वैमनस्य फैल गया। परस्पर युद्ध करके राजाओं ने अपनी शक्तियाँ क्षीण कर डालीं। आपस की डाह तथा वैमनस्य ने विदेशियों को आमंत्रित किया। यहीं से भारत की परतन्त्रता प्रारम्भ हुई। फलतः भारत की राजधानी दिल्ली के वक्षस्थल पर यवनों के झन्डे फहराने लगे। इस राजनीतिक उथल-पुथल के अशांत वातावरण में हमारी पुनीत् बौद्ध शिक्षा भी काल कवलित हुये बिना बच न सकी। राजनीतिक परिवर्तन के साथ ही साथ शिक्षा व्यवस्था को भी नवीन रूप धारण करना पड़ा। यवनों को इस बात का भली प्रकार अनुभव हो गया था कि उन्हें सफल शासक बनने के लिए सर्वप्रथम भारतीय बनना अनिवार्य है। विदेशी बनकर भारत को जीता जा सकता है, परन्तु उसका शासन नहीं किया जा सकता। अतः भारतीय बनने के लिए, पूर्णरूपेण भारत से परिचित होना आवश्यक था। इसी दृष्टिकोण से यवन सत्ता के आधीन भारतीय शिक्षा ने अपने इतिहास का तीसरा अध्याय प्रारम्भ किया।

शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दुओं को इस ओर आकर्षित करने का प्रमुख कारण फारसी भाषा का राज-भाषा होना था। अकबर के राज्य-काल के पूर्व तक इस ओर हिन्दुओं ने विशेष ध्यान नहीं दिया था। परन्तु अकबर के शासन-काल में उसकी नीति के फलस्वरूप जातीय भेद-भाव में किसी सीमा तक कमी आ गई और मदरसों के द्वार हिन्दुओं के लिए भी उसी प्रकार खुल गये जैसे मुसलमानों के लिए। हिन्दू भी फारसी तथा अरबी की शिक्षा प्राप्त करने लगे। उन्हें भी सरकारी नौकरियाँ मिलने लगीं। यवनों ने संस्कृत की शिक्षा ग्रहण की। इस प्रकार भाषा के आदान-प्रदान से हिन्दू तथा मुसलमान संस्कृति पर परस्पर गहरा प्रभाव पड़ा। संस्कृत के ग्रन्थों को फारसी तथा अरबी में अनूदित किया गया। जातीय भेद-भाव बहुत कुछ दूर हो गया।

अकबर के शासन काल में शिक्षा व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया गया। अकबर स्वयं महान विद्या एवं कला प्रेमी शासक था। शिक्षा के प्रति उसकी रुचि के प्रमाण आइने अकबरी में मिलते हैं। अकबर के मतानुसार बालकों को सर्वप्रथम दो दिन में अक्षर लिखना सिखाया जाना चाहिए, तत्पश्चात् एक सप्ताह में शब्द रचना और इसके बाद कवितायें कन्ठाग्र कराई जानी चाहिए। ये कवितायें प्रार्थना के रूप में होती थीं। इस प्रकार अकबर-कालीन शिक्षा-व्यवस्था का प्रारम्भिक लक्ष्य विद्यार्थियों को अक्षर ज्ञान कराना, शब्दों का अर्थ बताना, कवितायें तथा साधारण ज्ञान की शिक्षा देना था। अकबर का मन्तव्य शिक्षा को व्यावहारिक एवं प्रायोगिक बनाना था। इसी आधार पर गणित, कृषि, संगीत दर्शन, चिकित्सा तथा धर्म की शिक्षा प्रदान करने हेतु समुचित व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार प्रारम्भिक विदेशी शिक्षा में एक महान, क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ।

अकबर के निधन पर प्रचलित परिपाटी के अनुसार उसके पुत्र सलीम ने जहाँगीर के नाम से भारत के शासन की डोर अपने हाथ में ली। अकबर के ही शासन-काल में शिक्षा प्रगति की ओर अग्रसर हो चुकी थी। जहाँगीर को अच्छी शिक्षा मिली थी। फलतः जहाँगीर के शासन-काल में उसकी साहित्य, संगीत तथा कला की रुचियों को कार्यान्वित होने का अवसर मिला और

प्रचलन सम्बन्धी औरंगजेब की अनूठी सूझ उसकी सूक्ष्म दूरदर्शिता की परिचायक है। औरंगजेब द्वारा की गई उत्तर विषयों की शिक्षा व्यवस्था ने इस युग की शिक्षा में एक नया पृष्ठ जोड़ दिया। इस युग की शिक्षा का दृष्टिकोण बहुत कुछ धार्मिक था। इस धार्मिक संकीर्णता के फलस्वरूप अरबी तथा फारसी की जटिल शिक्षा को ग्रहण करना, देश, काल तथा उसकी परिस्थितियों के अनुसार, अनिवार्य हो जाना ही इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष था। अरबी भाषा के व्याकरण की शिक्षा प्राप्ति करने में लगभग बारह वर्ष का समय नष्ट होता था जबकि इस काल में कई विषयों का ज्ञान सुविधापूर्वक प्राप्त किया जा सकता था।

औरंगजेब के शासन-काल के पश्चात् जिस प्रकार मुसलमानी शासन की नींव उखड़ने लगी उसी प्रकार शिक्षा में भी पुन: परिवर्तन होना अवश्यम्भावी हो गया। इस प्रकार भारत में अंग्रेजी सत्ता के आरूढ़ होने के साथ-ही-साथ शिक्षा के इतिहास में भी नवीन अध्याय का समावेश हुआ। भारत में अंग्रेजी राज्य का भारतीय शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा तथा शासन द्वारा शिक्षा व्यवस्था में क्या परिवर्तन, परिवर्धन एवं परिमार्जन हुआ इस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

सारांश

वैदिक काल

प्राचीन शिक्षा का रूप आज की शिक्षा से बिल्कुल भिन्न था। आज अध्यापन कार्य एक प्रकार से जीविकोपार्जन का साधन हो गया है जबकि प्राचीन काल में अध्यापन एक पुनीत दान था। गुरु का जीवन धर्म से ओत-प्रोत त्याग का आदर्श होता था। शिक्षा एक महान तपस्या थी। प्रत्येक शिष्य समान भाव से सदैव इस तपश्चर्या में लीन रहता था। इस तपस्वी जीवन का उद्देश्य था मानव का महत्त्व। गुरु सर्वश्रेष्ठ होता था। उसकी प्रत्येक आज्ञाओं का पालन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करने के लिए शिष्य बिना किसी प्रतिवाद के सदैव तत्पर रहते थे। शिष्य रूप में राजा रंग सभी समान थे। गुरु की जीवन आवश्यकतायें सीमित होती थीं, फिर भी उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना

के दोषों का लगभग पूर्णतया निराकरण हुआ । इसके पश्चात् भारत की राजनीतिक स्थिति में महान परिवर्तन हुआ । भारत भूमि पर विदेशी राज्य स्थापित हुआ । फलतः इस अशान्तिपूर्ण वातावरण में प्राचीन शिक्षा व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई ।

मध्यकाल में मुस्लिम शिक्षा

यवन काल के प्रथम चरण में शिक्षा का रूप प्रायः धार्मिक रहा । मस्जिद के भवन में ही हाफिजों द्वारा उनके बच्चों को अरबी, फारसी तथा कुरान की शिक्षा धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ सकने के लिए दी जाती थी । मकतबों से कुछ स्तर की शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण हुआ । उन्हें मदरसों की संज्ञा दी गई । इनमें फारसी तथा अरबी के अतिरिक्त नीति, गणित, कानून तथा दर्शन की भी शिक्षा दी जाती थी । कुछ समय तक यह शिक्षा केवल मुसलमानों को ही दी जाती थी, परन्तु अकबर के शासन-काल में हिन्दुओं को भी फारसी तथा अरबी की शिक्षा दी जाने लगी और उन्हें भी राज्य-कार्य में उचित स्थान एवं पद प्राप्त होने लगे । अकबर साहित्य, संगीत तथा कला-प्रेमी शासक था । अतः इसके शासन-काल में शिक्षा की आशातीत प्रगति हुई । दो दिन तक बालक को अक्षर लिखना सिखाना चाहिए । तत्पश्चात् एक सप्ताह तक शब्द रचना और इसके उपरान्त कवितायें अर्थात् प्रार्थनायें कण्ठाग्र कराई जायें । इसके पश्चात् जहाँगीर के शासन-काल में शिक्षा की अत्यधिक उन्नति हुई । उसका काल उच्च शिक्षा की दृष्टिकोण से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । शिक्षा की प्रगति यहाँ तक हो गई कि शाहजहाँ का लड़का संस्कृत का पंडित कहा जा सकता था और उसकी लड़की फारसी की कवियत्री थी । औरंगजेब यद्यपि साहित्य का महान पुजारी और शिक्षा-प्रेमी था, परन्तु उसने शिक्षा को धर्म-वृत्ति में रखकर उसकी प्रगति को अवरुद्ध कर दिया । औरंगजेब द्वारा सैनिक शिक्षा का प्रबन्ध किया गया । दर्शन, नीति, फारसी, तथा अरबी के अतिरिक्त भूगोल एवं इतिहास की शिक्षा दी जाती थी । परन्तु सबके मूल में धर्म एवं शासन की उन्नति का ध्येय निहित था ।

१६

भारत में अंग्रेजी शिक्षा का रूप

साहित्य समाज का दर्पण है। समाज की प्रत्येक गति-विधि उसके द्वारा सृजित साहित्य में दृष्टिगोचर होती है। साहित्य का सृजन मूलतः शिक्षा पर आधारित है। शिक्षा की स्थिति के अनुसार ही साहित्य का सृजन होता है। अतः स्पष्ट है कि समाज से शिक्षा और शिक्षा से साहित्य का निर्माण होता है। समाज की उन्नति और अवनति बहुत कुछ देश की आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक स्थिति पर आधारित है। समाज के निर्माण में राजनीतिक स्थिति का मत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव शासन व्यवस्था, समाज, शिक्षा और साहित्य सर्वत्र एक दूसरे का अनुसरण करते हैं। प्राचीन भारत की वैदिक, ब्राह्मणीय, बौद्धिक एवं मुसलमानी शिक्षा पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। भारत में अंग्रेजों द्वारा स्थापित की गई ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय से भारतीय शिक्षा ने पुनः नवीन रूप धारण किया। यह तो सर्वविदित है कि अंग्रेजों का आगमन भारत में व्यापारी के रूप में हुआ, परन्तु वे अपनी नीति, निपुणता द्वारा भारतीय शासकों की उदारता का अनुचित लाभ उठाकर भारत के शासक बन बैठे।

कम्पनी द्वारा सन् १८१८ ई० में भारतीय शिक्षा तथा साहित्य की प्रगति पर खर्च करने के लिए १ लाभ रुपये का बजट[1] निश्चित किया गया। इस धन के व्यय करने के पूर्व कम्पनी द्वारा तत्कालीन भारतीय शिक्षा की सूक्ष्म छानबीन एवं पर्यवेक्षण कराया गया। इस पड़ताल के फलस्वरूप हमें यह ज्ञात हुआ कि भारत की प्राचीन शिक्षा पर विदेशीय शिक्षा का क्या और कहाँ तक प्रभाव पड़ा। भारत की प्राचीन तथा बौद्धिक शिक्षा इस समय भी जीवित थी। इस समय ये शिक्षा केन्द्र टोल के रूप में विद्यमान थे। इनके प्रधान केन्द्र

1· Budget.

कम्पनी ने १८३५ ई० से ३८ ई० तक के ४ वर्ष का समय दिया। सन् १८३८ में मि० एडम द्वारा प्रस्तुत किये गए विवरण[1] से पता चलता है कि इन मदरसों की पढ़ाई का वही स्तर था जो मध्यकालीन यूरोपीय विश्वविद्यालयों का था। इनमें इतिहास, भूगोल, अरबी तथा फारसी के अतिरिक्त व्याकरण की शिक्षा भी विधिवत् दी जाती थी। इन सभी विषयों की शिक्षा-पद्धति का मूल आधार राजनीतिक तथा धार्मिक था। इतिहास को विशेष महत्त्व दिया जाता था। इन विषयों की शिक्षा इस दृष्टिकोण से दी जाती थी जिससे बालकों में शासन करने की प्रवृत्ति का उद्भव हो। उनमें अपनी जाति तथा धर्म के प्रति सम्मान एवं अन्य धर्मों एवं जातियों के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न हो। संगीत की शिक्षा की व्यवस्था मदरसों में नहीं थी। इसका मूल कारण, यवन धर्म में संगीत को कोई स्थान न प्राप्त होना था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मठों एवं टोलों की शिक्षा का मूल ध्येय पारलौकिक था जबकि यवन शिक्षा धर्म के कोण में पल कर भी सांसारिक एवं जातीय स्वार्थपरता से परिपूर्ण थी। अंग्रेजों ने हिन्दू तथा यवनों की इस भेद पूर्ण शिक्षा की जानकारी से अनुचित लाभ उठाने के लिए हिन्दू तथा मुसलमानों में परस्पर फूट के बीजारोपण करने की नीति को अपनाना अपने हित के लिए श्रेयस्कर समझा।

भारतीय गाँवों की शिक्षा :

इस काल में भारतीय गावों तथा नगरों में भी पाठशालायें थीं। ये पाठशालायें या तो पेड़ों के नीचे अथवा जमीदारों की दालानों[1] में लगती थीं। इन पाठशालाओं में सभी जाति के विद्यार्थी प्रवेश पा सकते थे। किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। गुरु वेतन भोगी नहीं होते थे। उन्हें केवल दक्षिणा मिलती थी। बालकों की संख्या लगभग २० होती थी।

पाठशाला की शिक्षा और उसके उद्देश्य :

पाठशाला का समय प्रात:काल से दिन में १० बजे तक, पुनः अपरान्ह के पश्चात् ३ बजे से ६ बजे सायंकाल तक का होता था। इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य जीविकोपार्जन के साधन को प्राप्त करना होता था। इस प्रकार

1. Report. 1. Verandah.

तिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में प्राचीन शिक्षा के रूप का यह स्थायित्व सर्वदा प्रशंसनीय है। भारत उस समय विदेशीय सत्ता के अधीन था। उसकी संस्कृति, शिक्षा तथा धर्म को प्रोत्साहन मिलना तो दूर रहा, कुछ कट्टर मुसलमान शासकों द्वारा उनके अवरोध सम्बन्धी प्रत्येक सम्भव उपाय भी किये जा चुके थे। जजिया:कर[1] इसका ज्वलन्त उदाहरण है। फिर भी भारतीय शिक्षा अपने प्राचीन गुणों को किसी न किसी रूप में संजोये रही। यह शिक्षा वैयक्तिक थी और मानीटर-पद्धति का प्रतिपादन करती थी। स्कूल स्वावलम्बी होते थे। गुरुओं का बड़ा सम्मान होता था। नैतिकता तथा आचरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसमें वर्गगत, समाजगत तथा सम्प्रदायगत भेद-भावों की संकीर्णता नहीं थी। यही कारण था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी इस शिक्षा की इन अमूल्य विशेषताओं को कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार किया। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा किए गए इस पड़ताल से आशा की जाती थी कि भारतीय शिक्षा का पुनरुद्धार होने की सम्भावना है, परन्तु फल ठीक इसके विपरीत रहा और वहीं से इसकी रही-सही मौलिकता का विनाश काल प्रारम्भ हो गया।

भारतीय शिक्षा की अवनति :

यद्यपि यवन भी भारत के लिए विदेशी थे और उनका शासन भारत-भूमि पर विदेशी शासन की संज्ञा से विभूषित था फिर भी वे भारत को अपना देश समझते थे। भारत का नमक खाकर हराम करना उनके आदर्श के विपरीत था। यह बात अवश्य थी कि कुछ बादशाह अपने धर्म के पक्षपाती थे, परन्तु अंग्रेजों की भाँति उनकी धारणा यह नहीं थी कि भारत को जीर्ण-शीर्ण बना दिया जाय। एक भारतीय को जितना प्रिय उसका भारतवर्ष था, एक मुसलमान को भी उसके हिन्दुस्तान से उतनी ही मुहब्बत थी। यदि हिन्दुओं में 'सुजलाम् सुफलाम् शस्य श्यामलम्' के भाव हिलोरे लेते थे तो "हम बुल-बुले हैं इसके यह है चमन हमारा' मुसलमानों के दिली जज़्बात थे। यही कारण था कि हिन्दू शिक्षा एवं संस्कृति किसी न किसी रूप में उस समय

1. A kind of tax which was imposed only on Hindus.

विद्यालयों में अध्यापक के रूप में और अंग्रेजी साहित्य के अच्छे ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद करके भारत में उन आचार-विचारों को फैलायेंगे जो उन्होंने स्वयं अंग्रेजी के अध्ययन से सीखा है। ५. अतः आप (गवर्नर जनरल) कृपया यह घोषणा करें कि जो भारतीय अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करेगा उसे (क) सम्मान दिया जायगा, (ख) उसे सभी आवश्यक आर्थिक सुविधायें दी जाँयगी और (ग) यह कार्य अंग्रेजी सरकार की महान सेवा समझी जायगी।"

उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि ईस्ट इन्डिया कम्पनी का मूल ध्येय इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था द्वारा भारत में एक नवीन वर्ग का निर्माण करना था जो सर्वदा अंग्रेजों के साथ रहे।

लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति

मैकाले की शिक्षा-नीति का मूल ध्येय भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार करके भारतवासियों की प्राचीन संस्कृति का अपहरण करना था। वह प्रत्येक भारतवासी को हिन्दुस्तानी अंग्रेज बनाना चाहता था। उसके द्वारा २ फरवरी सन् १८३५ ई० को अपनाई गयी शिक्षा-नीति का मूल ध्येय उसी के शब्दों में निम्नलिखित है। "हम यह चाहते हैं कि भारतीय केवल रंग में तो भारतीय रहें, किन्तु खान-पान, रहन-सहन, तथा आचार-विचार आदि सब बातों में वे पूर्ण रूप से अंग्रेज बन जायें।" मैकाले की इस शिक्षा-नीति का आशय भारत में अंग्रेजी-सत्ता का दृढ़तर बनाना ही नहीं, अपितु ईसाई धर्म का प्रचार करना भी था।

वुड नीति-पत्र[1]

सर चार्ल्स वुड द्वारा भारतीय शिक्षा की सार्वभौमिकता पर ध्यान दिया गया और १८५७ ई० में उसके द्वारा एक नीति-पत्र प्रस्तुत किया गया जिसे 'मैग्ना कार्टा आफ एजूकेशन' की संज्ञा दी गई है। इसमें अंग्रेजी राज्य की भारतीय शिक्षा की नीति का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। इसकी प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :—

1. Wood's Despatch of 1857.

४. प्रारम्भिक शिक्षा पर सर्वाधिक ध्यान दिया जावे।

५. विद्यालयों की शिक्षा-पद्धति को सोष्ठवपूर्ण एवं सुन्दर बनाने के लिए अध्यापकों को दीक्षा प्रदान की जाय। इसके लिए अध्यापकों के दीक्षा विद्यालय और दीक्षा महाविद्यालय स्थापित किये जावें।

६. जनता द्वारा संचालित संस्थाओं पर वांछित ध्यान दिया जाय। इन्हें राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। इस आर्थिक सहायता-पद्धति का आधार धार्मिक तथा वर्गगत भेद-भाव से परे और लौकिक होना चाहिए। इसके पश्चात् सर विलयम हंटर की अध्यक्षता में सन् १८८६ ई० में एक शिक्षा आयोग नियुक्त किया गया।

हंटर आयोग[1] तथा शिक्षा-सम्बन्धी उसके सुझाव

हंटर आयोग द्वारा मार्च १८८३ ई० में प्रस्तुत किए गए शिक्षा के विवरण से अंग्रेजी शिक्षा नीति का महत्त्वपूर्ण स्वरूप हमारे सामने आता है। इस आयोग ने भारतीय शिक्षा का सर्वांगीण विवरण अपनी आख्या में दिया है। इस आयोग ने भारत की स्वदेशीय शिक्षा के प्रति पर्याप्त उदारता प्रदर्शित की। भारतीय साहित्य तथा भाषाओं की शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालयों को शासन द्वारा मान्यता प्रदान किये जाने की सिफारिश की। आयोग का मत था कि इस प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं को जिला-परिषद् तथा नगरपालिका के अन्तर्गत कर दिया जावे। इनकी देख-रेख व्यवस्था तथा आर्थिक सहायता इन्हीं स्थानीय बोर्डों द्वारा प्रदान की जावे।

प्राइमरी शिक्षा व्यवस्था पर हंटर-आयोग के सुझाव :

हंटर आयोग ने प्राइमरी शिक्षा-व्यवस्था के प्रति निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये :

१. इन पाठशालाओं को आर्थिक सहायता उनके परीक्षा फल के आधार पर दी जावे।

२. इन स्कूलों में प्रयुक्त किये गये फर्नीचर तथा इनका भवन साधारण श्रेणी का हो।

---

2. Hunter Commission.

की पूरी शक्ति प्रारम्भिक शिक्षा-व्यवस्था को सुव्यवस्थित और विकसित करने में लगाई जा सके।

भारतीय विश्वविद्यालय

सन् १८४५ ई० कलकत्ता कौन्सिल आफ एजूकेशन के विद्यालयों की स्थापना-सम्बन्धी प्रस्ताव को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। १८५४ ई० में वुड नीति पत्र के आधार पर लंदन विश्वविद्यालय को आदर्श मानकर बम्बई कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। सन् १९०२ ई० में विश्वविद्यालयों की शिक्षा के पर्यवेक्षण के लिए एक आयोग बनाया गया। इस आयोग के निम्नलिखित सुझाव विश्वविद्यालयों के विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं :

१. विश्वविद्यालयों का पुनर्संगठन किया जाय।

२. इन विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध संस्थाओं के समय-समय पर निरीक्षण किये जाँय और यह देखा जाय कि निर्धारित नियमों का उनमें पालन हो रहा है या नहीं।

३. विद्यार्थियों की रहन सहन, निवास तथा अध्ययन-सम्बन्धी अन्य परिस्थितियों पर यथोचित ध्यान दिया जाय।

४. विश्वविद्यालयों में अध्यापन कार्य करने की सीमा निश्चित हो।

५. परीक्षा-प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन और संशोधन किया जाय।

सैडलर कमीशन :

विश्वविद्यालयों की शिक्षा पर्यवेक्षण के सम्बन्ध में स्थापित किये गये १९०२ के कमीशन की आख्या के आधार पर उक्त शिक्षा व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन किये गये। परन्तु ये परिवर्तन सर्वथा अनुचित थे। फलत ये संशोधन एवं परिवर्तन शिक्षित वर्ग और भारत की जागरूक जनता के असंतोष के कारण मात्र रह गये। सन् १९१७ ई० में सैडेलर[1] की अध्यक्षता में एक नवीन शिक्षा-आयोग नियुक्त किया गया जिसने माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये।

---

1. Sir Michael Sadler.

बनाया जाय। इन कालेजों में विद्यार्थियों को विभिन्न विषयों का पूर्ण ज्ञान देनें की व्यवस्था की जाय। यदि उन्हें विश्वविद्यालय की शिक्षा को प्राप्त करने का अवसर न प्राप्त हो सके तो भी उन्हें व्यावहारिक जीवन सफलतापूर्वक बिताने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो। इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए शिक्षा-विभाग के पुनर्संगठन द्वारा 'बोर्ड आफ़ सेकेण्डरी एन्ड इन्टरमीडिएट एजूकेशन' की स्थापना की जाय। इस समिति का मुख्य कार्य हाईस्कूल तथा इन्टरमीडिएट के पाठ्यक्रम का निर्धारण हो; यह समय-समय पर आवश्यकतानुसार सेकेन्डरी और इन्टरमीडिएट शिक्षा की ओर शासन का ध्यान आकर्षित करे; और इस प्रकार की विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं की आर्थिक स्थिति के अनुसार सरकारी बजट में इन्हें प्रदान करने हेतु उचित धन राशि की व्यवस्था कराये। इसके अतिरिक्त एक केन्द्रीय शिक्षण विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय जिसमें सभी विषयों की शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था हो। विश्वविद्यालयों में यूनीवर्सिटी कोर्ट तथा एकेडेमिक कौंसिलों की स्थापना की जाय। विश्वविद्यालय की नीति-सम्बन्धी, कोर्ट तथा अर्थ और शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर एकेडेमिक कौंसिल द्वारा विचार किया जाय। विश्वविद्यालय की व्यवस्था के लिए पूर्णकालिक वाइस चान्सलर की नियुक्ति की जाय।

हरटॉग आयोग[1] :

सैडलर आयोग के पश्चात् सन् १९२८ ई० में फिलिप हरटॉग की अध्यक्षता में भारत की शिक्षा के पर्यवेक्षण हेतु हरटॉग कमीशन नियुक्त किया गया। इस आयोग ने शिक्षा के पर्यालोचनोपरान्त सितम्बर १९२९ में अपनी आख्या प्रस्तुत की जिसका सारांश इस प्रकार है :—

१. देश के प्रत्येक नागरिक को इतनी शिक्षा मिलना अत्यन्त आवश्यक है जिसके द्वारा वे अपने मतदान के समय स्वतन्त्र रूप से विचार करके उसका उचित उपयोग कर सकें। इस दृष्टि से प्राइमरी शिक्षा सर्वथा अनुपयोगी है। इसका कारण यह है कि प्राइमरी पाठशाला की अन्तिम श्रेणी की शिक्षा

1. Hartog Commission.

नियन्त्रित रूप प्रदान करें। (ग) शिक्षा के निर्देशन और निरीक्षण में भी प्रगति की जाय। शिक्षा-निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि की जाय। (घ) बालिकाओं की शिक्षा व्यवस्था अत्यन्त दयनीय दशा में है। अतः बालकों की शिक्षा की अपेक्षाकृत बालिकाओं की शिक्षा-व्यवस्था को सुव्यवस्थित एवं समुन्नत करने पर अधिक बल दिया जाय।

सप्रू समिति [1]

भारतीय शिक्षा व्यवस्था के दोषपूर्ण होने के कारण शिक्षित व्यक्तियों के सम्मुख जीवन-यापन के साधन प्राप्त करने की समस्या उपस्थित हुई। शिक्षा-व्यवस्था में व्यावसायिक शिक्षा का अभाव था। इस शिक्षा का जन-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। साथ ही साथ भारत परतंत्रता की बेड़ियों से जकड़ा था। अँग्रेजों का प्रमुख ध्येय था कि भारतीयों को ऐसी शिक्षा दी जाय जो केवल राज्य के कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए क्लर्कों की उत्पत्ति कर सके। शिक्षा-संस्थायें परीक्षा में उत्तीर्ण कराकर प्रमाण-पत्र अथवा उपाधि-पत्र प्राप्त कराने पर ही अधिक बल देती थीं क्योंकि नौकरी इन्हीं प्रमाण-पत्रों द्वारा ही प्राप्त की जा सकती थी। भारत के प्राचीन कला-कौशल काल-कवलित हो चुके थे। विद्यालयों से पर्याप्त संख्या में प्रतिवर्ष प्रमाण-पत्र पा-पा कर विद्यार्थी निकलने लगे। इनका मुख्य उद्देश्य नौकरी प्राप्त करना ही रह गया था, क्योंकि जीवकोपार्जन का यही एक साधन ऐसा था जिसे वे सुविधापूर्वक अपना सकते थे। परन्तु इस प्रकार प्रमाण-पत्र रखने वाले शिक्षितों की बढ़ती हुई संख्या के अनुसार नौकरियों का सुलभ होना असम्भव था। फलतः शिक्षित बेकारों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। इस फैलती हुई बेकारी की जाँच करने के लिए सन् १९३४ ई० में उत्तर प्रदेश की प्रान्तीय सरकार ने सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक समिति (कमेटी) का निर्माण किया। इस समिति को पर्यवेक्षण के पश्चात् बेकारी के जो कारण ज्ञात हुए निम्नलिखित हैं:—

१. माध्यमिक शिक्षा अपने में पूर्ण नहीं है। इसका कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। प्रायः भावी वृत्ति पर बिना विचार किये ही विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने लगते हैं।

---

1. Sapru Committee.

व्यवस्था होनी चाहिए जिससे छात्रों में सामाजिक प्रेम तथा नेतृत्व की भावना की उत्पत्ति हो।

१३. देश में इम्प्लायमेंन्ट ब्यूरों की स्थापना की जाय जो शिक्षा-प्राप्त बालकों को अपने भावी जीवन के कार्यक्रम निश्चित करने में आवश्यक परामर्श और सहायता दे सकें।

इन योजनाओं की आख्या के अन्त में निम्नलिखित चीनी कहावत का भी उल्लेख है जो शिक्षा के महत्त्व को पूर्णतया स्पष्ट करती है। "यदि एक वर्ष की योजना बनानी है तो अन्न बोया जाय। दस वर्ष की योजना के लिए पेड़ लगाना और सौ वर्ष की योजना के लिए मनुष्य पैदा करना चाहिये।"

सार्जेन्ट योजना के विचारों का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है:—

१. ६ वर्ष की आयु तक बालकों को नर्सरी स्कूलों में महिला शिक्षकों द्वारा आचरण-सम्बन्धी शिक्षा दी जाय।

२. ६ वर्ष से १४ वर्ष तक की आयु वाले बालकों को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा दी जाय।

३. शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो, परन्तु अंग्रेजी भाषा की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय।

४. सांस्कृतिक विषयों का समावेश पाठ्यक्रम में स्वच्छन्दता पूर्वक किया जाय।

५. अध्यापकों के सम्मान और आर्थिक स्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाय। कम से कम प्रत्येक अध्यापक को ३० रुपया वेतन दिया जाय।

६. प्रारम्भिक शिक्षायें प्रायः महिला-शिक्षकों द्वारा प्रदान करने की व्यवस्था की जाय।

७. पाठ्यक्रम लचीला हो। उसमें देश की आवश्यकता और समय के अनुसार आवश्यक एवं उपयोगी संशोधन तथा परिवर्तन सुगमता पूर्वक किये जा सकें।

८. धार्मिक शिक्षा अनिवार्य रूप में न प्रदान की जाय। प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी इच्छानुसार उसे प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया जाय।

किसी रूप में प्रचलित थी। बम्बई में अध्यापक (पंडित जी) लड़कों को उनके घर से बुला लाते थे। पाठशाला का कार्यक्रम सूर्य, सरस्वती तथा गणपति की बन्दना से प्रारम्भ होता था। मद्रास में ये पाठशालायें प्याल अथवा दालानों में लगती थीं। लोगों को विश्वास था कि बिना शारीरिक दण्ड के शिक्षा नहीं प्राप्त की जा सकती।

अंग्रेजों की शिक्षा-नीति से परिचित होने के लिए वारेन हेस्टिंग्ज की निम्न पंक्ति पर्याप्त होगी।

"यदि अंग्रेजी सत्ता को यहाँ टिकना ही है तो उसे भारतीय शक्ति बनकर टिकना चाहिए।" भारतीय जनता को भुलावे में डालने के लिए कम्पनी के डाइरेक्टरों ने शिक्षा सम्बन्धी अपने सुझाव गवर्नर जनरल के स्वीकृत्यार्थ भेजे।

लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति :

२ फरवरी १६२५ को लार्ड मैकाले द्वारा अपनाई गई शिक्षा-नीति भारत की मौलिकता, नैतिकता एवं संस्कृति के अपहरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। यह उसके द्वारा लिखे गये पत्रों से पूर्णतया स्पष्ट है।

वुड का शिक्षा-पत्र :

सन् १८५७ ई० में सर चार्ल्स वुड द्वारा एक शिक्षा-नीति-पत्र प्रस्तुत किया गया जिसे 'मैग्ना कार्टा आफ एजूकेशन' की संज्ञा दी गई थी। इसके उद्देश्य निम्नलिखित है।

१. भौतिक एवं नैतिक सुख प्रदान करने हेतु भारतीयों के लिए ग्राह्य ज्ञान सुलभ करना।

२. शिक्षा द्वारा बौद्धिक विकास और चरित्र का निर्माण हो सके।

३. भारत में अंग्रेजी सत्ता को दृढ़तर बनाने हेतु ईमानदार सेवक उत्पन्न करना।

हंटर आयोग :

मार्च १८८३ ई० में प्रस्तुत हंटर आयोग ने अपनी रिपोर्ट द्वारा भारतीय शिक्षा के प्रति काफी उदारता प्रगट की। प्राथमिक शिक्षा पर विशेष बल दिये

तथा विश्वविद्यालयों के शिक्षा-काल उनके स्तर तथा पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए समुचित वर्गीकरण करने की संस्तुति की। यह परतंत्र भारत में अंग्रेजी सरकार द्वारा नियुक्त किया गया अन्तिम आयोग था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. अंग्रेजी शासन काल में भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धतियों का क्या रूप था ? वे भारत की राजनैतिक परिस्थितियों से कहाँ तक प्रभावित थीं ?

२. 'भारत में अंग्रेजी राज्य की 'शिक्षा नीति' शीर्षक पर एक निबन्ध लिखिए।

३. अंग्रेजी शासन द्वारा नियुक्त किए गए शिक्षा आयोगों का वर्णन कीजिए। देश पर उनका क्या प्रभाव पड़ा और वे अपने उद्देश्यों में किस सीमा तक सफल रहे ?

लमान लुटेरों ने भी इसे बर्बाद करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। अंग्रेजी शासन-व्यवस्था का मूल आधार था कि वे भारत से अधिकाधिक लाभ उठा सकें। अतः अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमें परतन्त्रता जनित देश की जटिलतम समस्याओं का समाधान करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वतन्त्रता का प्रत्यक्ष रूप तभी सामने आयेगा जब हम इन समस्याओं के चंगुल से मुक्त हो सकेंगे। इनसे मुक्ति होने के लिए हमें अपने देश का निर्माण अपनी आवश्यकतानुसार करना होगा। हमें अपनी प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तत्कालीन दर्शन, भूगोल, इतिहास, राजनीति की मौलिकता के आधार पर ही देश का निर्माण करना है। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए देश के प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग की आवश्यकता है। जो महत्त्व भारत के स्वतन्त्रता संग्राम का है वही इसका भी है, क्योंकि जब तक जनता को इस योग्य न बनाया जा सके कि वह स्वतन्त्रता का सही अर्थ समझ सके, तब तक उसके लिए स्वतन्त्र होना या न होना बराबर ही है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति पर १५ अगस्त सन् १९४७ को भारतीय संघ के प्रधान मंत्री एवं विधान परिषद् के सभापति पं० नेहरू तथा डा० राजेन्द्र प्रसाद ने स्वतन्त्रता की वेदी पर निछावर हुए वीरों को आहुतियाँ देने के पश्चात् कहा कि इस स्वतन्त्रता के युद्ध के बाद हमें देश की असमानता, बीमारी तथा गरीबी से लड़ना अभी शेष है। हम अपने देश में अपना राज्य स्थापित करने में तभी सफल हो सकेंगे जब जनता निर्वाचन में अपनी विवेकात्मक बुद्धि से काम लेने लगेगी।

हमारे देश में जनतन्त्रात्मक व्यवस्था विद्यमान है। अतः देश में ऐसे समाज का निर्माण किया जाय जो जातिगत तथा वर्गगत भावनाओं से दूर हो। किसी जाति या वर्ग विशेष के पक्षपात का फल देश में गरीबी, बीमारी, असमानता और बेकारी में बाढ़ आने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार का समाज सदैव दुखी रहता है; और यह व्यवस्था जनतंत्र का मार्ग अवरुद्ध कर देती है। देश के विकास के लिए हमें देश के प्रत्येक नागरिक को इतनी शिक्षा अवश्य देनी है कि वे जनतंत्र का प्रयोग अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कर सकें। देश के विकास हेतु शासन द्वारा बनाये गये नियमों को भली-भांति समझकर

प्रौढ़ शिक्षा की सीमा :

प्रौढ़ शिक्षा की सीमा भी शिक्षा की भाँति विस्तृत है; परन्तु प्राय: इसका अर्थ अपढ़ बड़े बूढ़ों को साक्षर बनाना ही लगाकर इसके क्षेत्र को संकुचित कर दिया गया है। देश, काल तथा समाज और उसकी समस्याओं के परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न वातावरण से समाज के सदस्यों से परिचित कराने का दायित्व प्रौढ़ शिक्षा पर ही है। अतः इसकी आवश्यकता तब तक रहेगी जब तक कि समाज रहेगा और उसमें परिवर्तन होते रहेंगे। शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा के विषयों में परस्पर समानता है। केवल शिक्षा काल में अन्तर है। बालकों की अपेक्षा प्रौढ़ों का मानसिक विकास अधिक हो चुका रहता है। जिस विषय का ज्ञान बाल साल भर में करेगा उसका ज्ञान प्रौढ़ कदाचित दो महीने में ही कर सकता है। प्रौढ़ शिक्षा की शैली तथा सिद्धान्तों में जो अन्तर है उसका आधार मनोवैज्ञानिक है।

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा और उसकी समस्यायें :

प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता और उसकी सीमा से हम परिचित हो गये है। अब हम भारत में प्रौढ़ शिक्षा की स्थिति और उसकी समस्याओं पर विचार करेंगे। कहने की आवश्यकता न होगी कि अंग्रेजी शासन की शिक्षा-पद्धति का मूल ध्येय 'हिन्दुस्तानी अंग्रेजी' की उत्पत्ति करना था। फलतः उनकी शिक्षा व्यवस्था का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। शिक्षा सर्व-सुलभ नहीं थी। उस समय के शिक्षित व्यक्तियों में अपने ही देशवासियों के प्रति घृणा के भाव उत्पन्न हो जाते थे, वे अंग्रेजी शासन तथा अंग्रेजियत के पुजारी हो जाते थे। देश के अशिक्षित व्यक्तियों के सम्पर्क में आना वे अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझते थे। यदि यह कहा जाय कि ये हिन्दुस्तानी अंग्रेज इंगलैण्ड के अंग्रेजों से भी अधिक घातक सिद्ध हुए तो अत्युक्ति न होगी। ये लोग एक प्रकार से अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बन गये थे। अतः इन शिक्षितों से देश को प्रायः कोई लाभ नहीं हुआ। इनकी शिक्षा का मन्तव्य बाबूगीरी तक ही सीमित रहा। जनता भी शिक्षा के प्रति प्राय: उदासीन थी। तात्पर्य यह है कि शिक्षा का क्षेत्र उस समय बहुत ही संकुचित था जब वर्ग अविद्या व अंधकार से आच्छादित था। फलतः अशिक्षित प्रौढ़ों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। अंग्रेजी

भावनायें विद्यमान हैं। प्रौढ़ शिक्षा-प्रसार की यह दूसरी समस्या है। यदि हम अपनी प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता का अवलोकन करें तो हमें ज्ञात होगा कि गुरु ऋण से मुक्त होने का एक मात्र साधन शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् शिक्षादान करना अर्थात् अशिक्षितों को शिक्षित बनाना है। परन्तु यदि कोई शिक्षित व्यक्ति इस ओर कुछ प्रयत्न भी करता है तो दूसरे लोग उसे सहायता पहुँचाने के स्थान पर हतोत्साह करते हैं। यह प्रवृत्ति प्रौढ़ शिक्षा-प्रसार की तीसरी समस्या है। इन सब कारणों से यदि कोई उत्साही व्यक्ति इसके प्रसार के लिए कुछ करना भी चाहता है तो भी नहीं कर पाता। हमारे देश के अधिकांश शिक्षित व्यक्ति भी सामाजिक तथा प्रौढ़ शिक्षा मनोविज्ञान से अपरिचित हैं। इस विषय में उनकी यह अज्ञानता प्रौढ़ शिक्षा-प्रसार की चौथी समस्या कही जा सकती है। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार हित शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों प्रकार के समाज में हम प्रचार करें।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहिले तो प्रौढ़ शिक्षा, शिक्षा संस्थाओं का खैराती कार्य था ही, साथ ही साथ शिक्षा संस्थायें भी इनमें रुचि नहीं लेती थीं। प्रौढ़ शिक्षा प्रदान करने की न कोई उपयुक्त विधि थी, न पाठ्यक्रम और न कोई व्यवस्था अथवा शिक्षा-प्रणाली। किसी मनोवैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली तथा उचित व्यवस्था का न होना इनकी प्रगति में बाधक रहा। प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार के लिए हमें साक्षर बनाने के सरलतम सिद्धान्त को खोजना होगा। तत्पचात् प्रौढ़ शिक्षक तथा प्रौढ़ शिक्षण-सिद्धान्त की स्थापना करनी होगी। यह प्रौढ़ शिक्षा प्रसार की पाँचवीं समस्या कही जा सकती है।

प्रौढ़ शिक्षा प्रसार के समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। साथ-साथ कृषि सम्बन्धी घरेलू उद्योग-धन्धों को भी प्रश्रय दिया गया है। यहाँ के नगर एवं देहातों के वातावरण में पर्याप्त भिन्नता विद्यमान है। दोनों प्रकार के समाज का रूप भी भिन्न-भिन्न है। अतः प्रौढ़ शिक्षा प्रणाली के निर्धारण में नगरवासी, कृषि तथा मजदूरों की परिस्थितियों एवं वातावरण का यथेष्ट ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक समाज के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के उपरान्त ही हमें भिन्न-भिन्न समाज तथा

मानव धन मानता है। धन ही उसके स्वर्णिम सपनों की पूर्ति का सहारा है। यही निर्बलों को सबल, असभ्य को सभ्य, कुरूप को सुन्दर, सुदामा को कुबेर, अपंगु को पंगु, मूक को बाचाल, तथा मूर्ख को वृहस्पति बना सकता है। यद्यपि जनता की यह भावना उतनी ही भ्रामक है जितना कि उसका इस पर दृढ़ विश्वास है। इस भ्रामक भावना का सर्वनाश हमें प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से करना है; परन्तु सर्वप्रथम आवश्यक है कि जनता के रंग में ही अपने को रंगकर शनैः-शनैः उन्हें अन्धकार से प्रकाश की ओर लावें। यदि एकदम से उन्हें अन्धकार से प्रकाश में हठात् लाकर उपस्थित करने का प्रयास करेंगे तो उनकी आँखें चकाचौंध होकर स्वतः मुँद जायेंगी और सारा प्रयास असफल हो जावेगा। अतः उनकी प्रत्येक रुचि एवं गति विधि के साथ-साथ चलकर उनमें प्रौढ़ शिक्षा के प्रति भक्ति, श्रद्धा एवं आदर की सृष्टि करना श्रेयस्कर होगा। सर्वप्रथम हमें इसके लिये लोकमत प्रस्तुत करना होगा। लोकमत प्राप्त करने के लिये हमें प्रवाह-सम्बन्धी सभी साधनों को सामाजिक वातावरण तथा समाज की आवश्यकता और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए प्रयोग में लाना होगा।

प्रौढ़ शिक्षा के प्रचार में राज्य के सूचना विभाग द्वारा हमें पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है। ग्रामीण के निकटतम सम्पर्क में आने के लिए उनके सामाजिक तथा सांस्कृतिक नियमों से भली-भाँति परिचित होना चाहिए। निम्नवर्ग वालों की पंचायतों के चौधरी से मिलकर सभा का आयोजन करके प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता तथा उपयोगिता से उन्हें अवगत करना चाहिए। पंचायत-घरों की दीवारों पर प्रौढ़ शिक्षा-सम्बन्धी पोस्टरों को चिपकाना चाहिए। लोक गीत तथा नृत्यों और एकांकी नाटकों द्वारा प्रौढ़ शिक्षा की ओर जनता को आकृष्ट करने में विशेष सफलता प्राप्त हो सकती है। चल-चित्रों तथा इससे सम्बन्धित प्रदर्शनियों का आयोजन करके लोक-मत प्राप्त किया जा सकता है। 'लैन्टर्न स्लाइड' द्वारा धार्मिक महापुरुषों की कथाओं से सम्बन्धित घटनाओं को दिखाकर जनता पर प्रभाव डाला जा सकता है।

उपरोक्त साधनों के अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षा प्रसार का सर्वश्रेष्ठ साधन रेडियो है, परन्तु खेद है कि इसे केवल सूचना का माध्यम बनाया गया है। अमेरिका

होते हुए भी शिक्षित था। साक्षरता से केवल अक्षर ज्ञान और लिखने पढ़ने की क्रिया का बोध होता है। प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार में साक्षरता का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रौढ़ शिक्षा का परिचय :

शिक्षा की कुव्यवस्था एवं दुर्बलता ही प्रौढ़ शिक्षा की जननी है। समाज की आर्थिक स्थिति भी इसमें सहायक होती है। बाल्य तथा युवा काल में जिन व्यक्तियों को शिक्षा न मिल पायी हो उन्हें शिक्षित बनाना प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य है।

प्रौढ़ शिक्षा की सीमा :

देश, काल तथा समाज और उसकी समस्याओं के परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न वातावरण से समाज के प्रत्येक सदस्य को परिचित करना प्रौढ़ शिक्षा का कर्त्तव्य है। इस प्रकार इसका रूप अक्षुण, तथा बड़ा ही विस्तृत है। शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा के विषय एक हैं। केवल शिक्षा काल में अन्तर है जिसका कारण प्रौढ़ों तथा बालकों के मानसिक विकास का भेद है।

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा की समस्यायें :

जनता का रूढ़िवादिता तथा प्रौढ़ शिक्षा की उपयोगिता से अनभिज्ञ होना, शिक्षितों की इस ओर उदासीनता, प्रौढ़ शिक्षा मनोविज्ञान से अपरिचित होना प्रौढ़ शिक्षा की प्रमुख समस्यायें हैं।

प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार :

प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार में राज्य के सूचना-विभाग से पर्याप्त सहायता लेनी चाहिए। जनता के सांस्कृतिक कार्यों के माध्यम से प्रौढ़ शिक्षा की उपयोगिता से जनता को परिचित करना चाहिए। उनकी पंचायतों के चौधरी द्वारा प्रभाव डालने का प्रयत्न करना चाहिए। पोस्टरों, चित्र, प्रदर्शनी, चल-चित्रों, पत्र-पत्रिकाओं, अभिनय तथा लोग-गीतों के माध्यम द्वारा जनता को इस ओर आकर्षित करना चाहिए। जनता की भ्रामक भावनाओं का विनाश करना चाहिए। इन समस्त साधनों का प्रयोग सतर्कता पूर्वक करना चाहिए। इस

२०

माध्यमिक शिक्षा और उसके उद्देश्य

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत ने जनतन्त्रात्मक व्यवस्था को अपनाया। जनतन्त्र की सफलता देश के सुयोग्य नागरिकों पर आधारित है। ऐसे नागरिकों की उत्पत्ति का एक मात्र साधन उचित शिक्षा व्यवस्था है। जनतंत्र के प्रत्येक नागरिक का प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करना, अधिकार है। अतः जनतन्त्र व्यवस्था में शिक्षा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस अध्याय में हम माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था पर विचार करेंगे।

भारत में माध्यमिक शिक्षा का आविर्भाव :

किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था का प्रभाव उस देश की शिक्षा पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। इसी आधार पर प्राचीन कालीन स्वतन्त्र भारत विश्व नायक की पदवी से विभूषित था। मध्य काल में विदेशियों के प्रभाव में आने से उसके कला-कौशल तथा विद्वत्ता का भी विनाश प्रारम्भ हुआ। यहाँ तक कि ब्रिटिश शासन काल के प्रारम्भ में भारत का प्राचीन गौरव केवल किस्से-कहानी के रूप में ही अवशेष रह गया।

सन् १८१३ ई० में ब्रिटिश शासन का ध्यान भारत की शिक्षा की ओर गया। फलस्वरूप सन् १८३५ ई० में मैकाले द्वारा एक शिक्षा योजना का निर्माण हुआ। इसके अनुसार विज्ञान तथा अंग्रेजी साहित्य आदि विषयों की शिक्षा प्रदान करने हेतु कुछ विद्यालयों का जन्म हुआ। राजा राम मोहन राय द्वारा भी इस व्यवस्था का अनुमोदन हुआ। इस व्यवस्था के संचालन का उद्देश्य कुछ भी रहा हो, परन्तु व्यावहारिक रूप में यह केवल सेवावृत्ति के प्राप्ति का साधन मात्र ही बन सकी।

सन् १८४५ ई० में शिक्षा की प्रगति सम्बन्धी हुए सर्वेक्षण के फलस्वरूप प्रान्तीय शिक्षा-संचालकों की नियुक्ति और विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

की संस्तुति के अनुसार पाठ्यक्रम को साहित्यिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक तथा कलात्मक भागों में विभक्त किया गया। पुनः १९५३ ई० में विषयों के पाठ्यक्रम को भी वर्गों में विभाजित कर दिया गया और व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया, परन्तु माध्यमिक शिक्षा फिर भी दोषपूर्ण बनी रह गई। अतः यह आवश्यक है कि जनतंत्रात्मक व्यवस्था के हितों की रक्षा तथा उसे समुन्नत करने वाली शिक्षा व्यवस्था का निर्माण इस प्राचीन अनुभवों तथा अन्य देशों के आदर्शों को दृष्टिगत करते हुए उचित रूप के किया जाय। वांछित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पाठ्यक्रम के परिवर्तन एवं संशोधन के साथ-साथ शिक्षा पर प्रभाव डालने वाली सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदि संस्थाओं का भी उचित परिमार्जन करके शिक्षा के लिए लाभकारी वातावरण का निर्माण करना होगा।

वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा सर्वसुलभ नहीं बन पाई है। केवल पुस्तकीय ज्ञान पर विशेष बल दिया जाता है। परीक्षा प्रणाली भी सर्वथा दोषपूर्ण है। विद्यालयों तथा समाज में उचित सामंजस्य नहीं स्थापित हो सका है। इसी प्रकार की अनेक त्रुटियाँ शिक्षा व्यवस्था में विद्यमान हैं जिनके निराकरण हेतु देश के शिक्षा-विशारद सतत प्रयत्नशील हैं। हमारे देश में १४ वर्ष तक के बालकों के लिए अनिवार्य शिक्षा योजना कार्यान्वित की गई है। अतः यह आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था को ऐसा रूप दिया जाय जो व्यक्ति तथा समाज की सर्वांगीण उन्नति के पथ को प्रशस्त कर सके। अतः माध्यमिक शिक्षा के महत्त्व तथा आदर्शों का मनन करके एक स्वस्थ प्रणाली का निर्माण करना आवश्यक है।

माध्यमिक शिक्षा का क्षेत्र एवं उसके उद्देश्य अथवा कर्त्तव्य :

जनतंत्रात्मक व्यवस्था में शिक्षा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ तक कि बिना उचित शिक्षा व्यवस्था के जनतंत्र का सफल होना यदि सम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही है। क्योंकि इस व्यवस्था में व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रधानता दी जाती है और व्यक्तित्व का निर्माण शिक्षा द्वारा होता है। शिक्षा का मुख्य ध्येय प्रत्येक व्यक्ति को उसकी रुचि के अनुसार शिक्षा देकर विवेकशील, स्वतंत्र-विचारक, कर्मठ, देश प्रेमी तथा सुयोग्य नागरिक बनाना है।

बालकों का शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य :

मानसिक विकास के साथ-साथ बालकों के शारीरिक विकास तथा स्वास्थ्य पर भी उचित ध्यान देना विद्यालय का कर्त्तव्य है। बिना शारीरिक स्वस्थता के मानसिक संतुलन उचित रूप में नहीं रह सकता। इसके लिये विद्यालय भवन का निर्माण ऐसे स्थान पर करना चाहिये जहाँ स्वच्छ वायु, उपयुक्त क्रीणास्थल तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य प्राकृतिक सुविधायें प्राप्त हों। शिक्षालय के कक्ष हवादार, प्रकाश-युक्त तथा उचित माप के हों। विद्यार्थियों के बैठने के लिये आवश्यक स्थान एवं आवश्यक मेज कुर्सियाँ, पीठासन आदि का प्रबन्ध हो। विद्यालय के समय विभाग-चक्र में खेल-कूद तथा व्यायाम को अनिवार्य रूप से स्थान दिया जाय। अन्य विषयों के क्रम-निर्धारण में इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि क्रमश: कई विषय इस प्रकार के न पड़ने पावे, जिनमें कई घंटे तक विद्यार्थियों को लगातार लिखित अथवा मौखिक कार्य ही करना पड़ जाये। विद्यार्थियों की रुचि एवं शक्ति का ध्यान सदैव रक्खा जाय। मध्यान्तर के अवकाश में जलपान की व्यवस्था भी स्कूल द्वारा होनी चाहिए। समय तालिका में विषयों के क्रम-निर्धारण के समय प्रारम्भ तथा अन्त के घन्टे और मध्यान्तर का भी ध्यान रक्खा जाना आवश्यक है। माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था मे विद्यार्थियों की शारीरिक शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था होनी आवश्यक है। अभिभावकों को भी चाहिये कि बालकों के स्वास्थ्य के लिए उचित वातावरण उपस्थित करें।

अवकाश का महत्त्व तथा उसका सदुपयोग :

मानव जीवन में सक्रियता की भाँति अवकाश का भी बड़ा महत्त्व है। यदि इसका दुरुपयोग न किया जाय तो मनुष्य को इससे आत्मबल प्राप्त करने में पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी वर्तमान औद्योगिक युग में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अवकाश से शक्तियों को विश्राम तो मिलता ही है। इसके अतिरिक्त मनुष्य की आत्मा पवित्र होती है और वह एक प्रकार के मानसिक सुख का अनुभव करता है। इन अवकाश के क्षणों के सदुपयोग के लिये बालकों में सौन्दर्यात्मकता उत्पन्न करनी चाहिए। इसके लिये

स्वतन्त्र विचार, सहयोग, तथा अनुशासन की भावना उत्पन्न करे। उनके विचारों की दुर्बलता, परम्परागत विद्वेष की भावना, जाति अथवा वर्गवादी कलह, अनुदारता आदि अन्य दुर्गुणों का उन्मूलन करके जनतन्त्र का सफल नागरिक बनाना माध्यमिक शिक्षा का कर्त्तव्य है।

जनतंत्र को अभी भारतीय जनता को केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही स्वीकार किया है। जनवर्ग एवं देश के कल्याणार्थ जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में इस व्यवस्था को स्वीकार करना आवश्यक है। इस लक्ष्य की पूर्ति शिक्षा द्वारा ही की जा सकती है। शिक्षा का मुख्य ध्येय जनतंत्र को जीवन-दर्शन के रूप में प्रत्येक नागरिकों द्वारा स्वीकार कराना है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के पारस्परिक व्यवहार, वार्तालाप, उनके सांस्कृतिक, आर्थिक आदि ग्राम-नगर से सम्बन्धित प्रत्येक क्षेत्र में एवं कार्य में नागरिकता के महत्व को समझाना शिक्षा का ही कार्य है। परन्तु वर्तमान शिक्षा-पद्धति द्वारा इस मन्तव्य की पूर्ति सम्भव नहीं है। अतः माध्यमिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थ नागरिक बनाना, होना चाहिए।

भारत की अधिकांश जनता निरक्षर एवं अशिक्षित है। फलतः जनतंत्रात्मक व्यवस्था की व्यापकता से जनवर्ग भली-भाँति परिचित नहीं हो सकता है, और उसे जीवन-दर्शन के रूप में नहीं अपना सका है। यही कारण है कि भारत की जनता अभी तक जातिवाद, रूढ़िवाद तथा वर्गवाद आदि संकीर्ण विचारों में लिप्त होकर स्वार्थपूर्ति में संलग्न है। स्वतन्त्रता का उचित प्रयोग क्या है तथा नागरिकता का क्या अर्थ है? इन तथ्यों से जनता अभी तक बिल्कुल अनभिज्ञ है। अतः शिक्षा का कर्त्तव्य है कि इन सामाजिक दुर्बलताओं को दूर करके समस्त व्यक्तियों का सर्वांगीण विकास करके उन्हें स्वस्थ नागरिक बनाये। प्रत्येक नागरिक में यह भाव उत्पन्न करे कि वे अपनी व्यक्तिगत उन्नति के साथ-साथ सामाजिक हित को सदैव ध्यान में रक्खें। माध्यमिक शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों की आयु प्रायः १६ या १७ वर्ष की हो जाती है। यह जीवन का ऐसा समय है कि यदि ऐसी अवस्था में विद्यार्थियों में देश-प्रेम, विवेकशीलता, निष्पक्ष आलोचना, विचारों की स्वतंत्रता, अनुशासन

बनाकर जनतंत्रीय व्यवस्था को व्यापक तथा सफल बनाया जा सकता है।

माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

सामाजिक हित :

शिक्षा का उद्देश्य केवल पुस्तकीय ज्ञान प्रदान करना ही नहीं है, अपितु व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना है। जनतंत्र के प्रत्येक नागरिक को कर्त्तव्यनिष्ठ, स्वतंत्र विचारक, समाज सेवी, तथा सद्चरित्र बनाना है। इसके लिए अध्यापक तथा जनता दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध आवश्यक है।

बालकों का शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य :

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए स्वास्थ्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था में स्वास्थ्य शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

अवकाश का महत्व तथा उसका सदुपयोग :

अवकाश के सदुपयोग द्वारा आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। बालकों में सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न करके इससे अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिए।

जीविकोपार्जन की समस्या :

माध्यमिक शिक्षा को अपने में पूर्ण होना चाहिए। इसका पाठ्यक्रम विस्तृत हो। औद्योगिक, व्यापारिक एवं कृषि तथा कला सम्बन्धी विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए। इन विषयों के पाठ्यक्रम को सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप होना चाहिए।

नागरिकता :

माध्यमिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य जनतंत्र के प्रत्येक व्यक्ति को सफल नागरिक बनाना है। उनके विचारों की संकीर्णता तथा अन्य हीन भावनाओं को समूल नष्ट करके देश सेवी, स्वतंत्र विचारक, तथा उदार बनाना है। देश में ऐसे नागरिक उत्पन्न करना है जो अपनी व्यक्तिगत उन्नति के साथ-साथ सामाजिक हित को सुलझायें तथा निष्पक्ष आलोचक हों।

२१

उत्तर प्रदेशी में नवीन शिक्षा-योजना

सन् १९४७ के पूर्व जब भारत पर विदेशी राज्य था उस समय की शिक्षा-प्रणाली का मूल उद्देश्य राज्य संचालन के लिए उपयुक्त कर्मचारियों का निर्माण करना था। यही कारण है कि भारत की तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली में भारतीय संस्कृति, नैतिकता, राष्ट्रीयता, प्रचलित सांस्कृतिक परम्पराओं तथा कला-कौशल आदि ऐसे विषयों की जो जीवन संग्राम में विजय पाने के लिए आवश्यक होते हैं, अवहेलना की गई। इस प्रकार उस समय की शिक्षा क्लर्क ढालने की मशीन कही जाय तो अत्युक्ति न होगी। यह मशीन चलती रही। क्लर्क ढलते रहे। धीरे-धीरे उनकी संख्या आवश्यकता से अधिक हो गई। फलतः बेकारी फैलने लगी। अब इन शिक्षितों की वही दशा हो गई जो धोबी के कुत्ते की। न तो उनमें जीविकोपार्जन सम्बन्धी अन्य किसी कला-कौशल के अपनाने की क्षमता थी और न नौकरी पाने की आशा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् परिस्थिति बदल गई, क्लर्क ढालने के स्थान पर शिक्षा-प्रणाली की एक ऐसी मशीन के अनुसन्धान करने की आवश्यकता पड़ी जो स्वतन्त्र देश के लिए कुशल नागरिक, देश-नायक, राज्य-सत्ता को संभालने वाले योग्य शासक तथा देश और समाज के उत्थान में योग देने वाले देशानुरागी उत्पन्न कर सके। फलतः देश के भावी नागरिकों के सर्वांगीण विकास पर ध्यान देते हुए देश तथा युग की आवश्यकतानुसार शिक्षा-प्रणाली में वांछित परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। इस परिवर्तन में समाज में प्रचलित सांस्कृतिक परम्पराओं, ज्ञान-विज्ञान, धार्मिक विकास, कला-कौशल, नैतिक एवं वैधानिक नियम, सार्वजनिक संस्थाओं तथा देश की विभूतियों के निर्मल चरित्र को यथेष्ट स्थान प्रदान करना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति के विकास पर इनका बड़ा गहन प्रभाव पड़ता है।

समाज हित के उपयुक्त बनाने के लिए उसको पुनः परिमार्जित रूप में संगठित किया गया जिसका स्वरूप इस प्रकार है :—

इस संगठन के पूर्व १९३८, ३९ में स्थित प्राइमरी पाठशालाओं को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित किया गया। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सन् १९४७ में स्थापित १३००० बेसिक पाठशालाओं को मिला कर प्रदेश में कुल ३१,२३२ बेसिक पाठशालायें थीं। सन् १९४६, ४८ में इन पाठशालाओं में १६ लाख बालक शिक्षा प्राप्त करते थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रथम चरण में इन पाठशालाओं की संख्या बढ़ा कर १५ लाख अतिरिक्त बालकों को शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई। इन पाठशालाओं में अन्य विषयों के साथ हस्तकला पर विशेष ध्यान दिया जाता था। परन्तु उद्देश्य में आशातीत सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। विद्यालय समाज के उतने निकट नहीं पहुँच सके जितना सम्भावित था। विद्यार्थियों में कृषि-सम्बन्धी यथेष्ट रुचि नहीं उत्पन्न हो पायी। अतः ध्येय की पूर्ति हेतु शिक्षा में कृषि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिये जाने की आवश्यकता पड़ी जिससे शिक्षा जन-जीवन की आवश्यकताओं की पूरक बन सके तथा ये विद्यालय वास्तविक ग्रामीण विद्यालय हो सकें।

उत्तर प्रदेश में सन् १९४८ के पहले जूनियर हाईस्कूल दो रूपों में थे—एक एंग्लो हिन्दुस्तानी तथा दूसरा हिन्दुस्तानी। एंग्लो हिन्दुस्तानी विद्यालयों में अंग्रेजी भाषा की भी शिक्षा दी जाती थी, परन्तु इन विद्यालयों को जूनियर हाईस्कूलों का रूप दे दिया गया और इनके अन्तर को दूर कर दिया गया। जूनियर हाईस्कूल में ११ से १४ वर्ष के वर्ग वाले विद्यार्थियों को कक्षा ६, ७ तथा ८ की शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार के कुल स्कूलों की संख्या सन् १९५६ तक लगभग २,४९६ थी। इनमें अधिकतर विद्यालय ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित है। अतः इन्हें ग्रामीण विद्यालयों का रूप प्रदान करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

जूनियर हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् आगे की शिक्षा ग्रहण करने हेतु राज्य में उच्च माध्यमिक शिक्षा की स्तर के विद्यालय हैं जिनमें १५ से १९ वर्ष वाले वर्ग के बालकों को शिक्षा दी जाती है। इनमें

गया कि शिक्षा प्राप्ति के पश्चत् प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति अपनी रचनात्मक शक्ति द्वारा समाज तथा राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक विकास में अपेक्षित सहायता दे सके। इस मन्तव्य की पूर्ति के अनुसार शिक्षा का ऐसा स्वरूप इस योजना में निश्चित किया गया जो विद्यार्थियों में सेवा-भाव, आत्म-निर्भरता, अध्यवसाय और त्याग की भावना उत्पन्न कर सके।

उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु तथा कृषि के प्रति शिक्षित वर्ग में रुचि उत्पन्न करने के लिये शिक्षा में कृषि को अनिवार्य विषय निश्चित किया गया। इसके माध्यम द्वारा विद्यालयों को समाज की आवश्यकताओं के पूरक बनाने के साथ-साथ उन्हें समाज के अधिक निकट लाया गया तथा विद्यार्थियों में आत्म-निर्भरता, अध्यवसाय एवं श्रम के प्रति आदर उत्पन्न करने का प्रयास किया गया। नगर के विद्यालयों के पाठ्यक्रम में हस्तकला को अनिवार्य रूप प्रदान करके विद्यार्थियों को केवल आत्म-निर्भर तथा अध्यवसायी बनाने का प्रयत्न ही नहीं किया गया, अपितु बढ़ती हुई देशव्यापी बेकारी की समस्या का किसी सीमा तक समाधान भी किया गया। इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् शिक्षित वर्ग का प्राचीन उद्देश्य जो कि नौकरी प्राप्त करना था, समाप्त हो जाता है।

इस योजना के अन्तर्गत राज्य के ३१,२३२ प्रारम्भिक विद्यालयों को कृषि की शिक्षा प्रदान करने हेतु ५.५ एकड़ भूमि प्रदान करने की व्यवस्था की गई। इन फार्मों का संचालन अध्यापकों द्वारा होगा तथा उत्पादन का उपभोग अध्यापक तथा विद्यार्थी उसी प्रकार करेंगे जिस प्रकार एक आदर्श ग्रामीण परिवार। इस प्रकार अध्यापकों तथा विद्यार्थियों में कृषि के सम्मान की भावना उत्पन्न होगी। फार्म की रक्षा वे अपनी व्यक्तिगत सम्पति के रूप में करेंगे; तथा समाज उनको आदर्श मान कर अनुकरण द्वारा अपने को सम्पन्न बनानें की चेष्टा करेगा। इन विद्यालयों में उत्पन्न की गई वस्तुओं की बिक्री तथा अध्यापकों के अतिरिक्त लाभ पर ध्यान देते हुए योजना के अन्तर्गत इन्हें सामुदायिक रूप प्रदान करने पर विचार किया गया। इस प्रकार इससे सम्बन्धित व्यय का अनुमान निम्नलिखित है। आकस्मिक व्यय के रूप में ११ करोड़, २५ लाख रुपया, वार्षिक; आवर्तक व्यय के लिए ६ करोड़ रुपये;

जूनियर हाईस्कूलों का पुनर्संगठन :

प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् कक्षा ६, ७ तथा ८ की शिक्षा जूनियर हाईस्कूलों द्वारा प्रदान की जाती है। शिक्षा को जन-जीवन के निकटतम सम्पर्क में लाने तथा उसे अत्यधिक उपयोगी बनाने में इन विद्यालयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका सम्बन्ध प्राथमिक तथा उच्च दोनों स्तर की शिक्षा-संस्थाओं से होता है तथा ये जन वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से बड़े ही लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं। अत: ३०० जूनियर हाईस्कूलों में कृषि की शिक्षा प्रदान करने के निमित्त प्रत्येक विद्यालय को १० एकड़ भूमि देने का प्रबन्ध किया गया। लगभग २५ हजार एकड़ भूमि इन विद्यालयों के लिए प्राप्त हो चुकी है; परन्तु प्राप्त की गई सारी भूमि कृषि करने के योग्य न होने के कारण केवल २४४५ विद्यालयों को ही उपयुक्त फार्म उपलब्ध हो सके हैं।

जूनियर हाईस्कूलों की महत्त्वपूर्ण स्थिति पर ध्यान देते हुए यह आवश्यक था कि उन्हें सुसंगठित करने हेतु आवश्यक सुधार किया जाय। इसी आशय से कृषि अनिवार्य विषय बनाया गया। गाँव-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्ति हेतु ग्रामोपयोगी शिक्षा नामक ऐच्छिक विषय के पढ़ाने की व्यवस्था की गई। इसके अन्तर्गत ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, सहकारिता, पशु-पालन तथा राष्ट्रीय प्रसार-सेवा आदि ऐसे विषयों की शिक्षा व्यवस्था का आयोजन किया गया जिससे बालकों में इतनी क्षमता उत्पन्न हो जावे कि गांवों की आशातीत उन्नति करके उन्हें आदर्श ग्राम के रूप में परिवर्तित कर सकें। इसके अतिरिक्त स्थानीय आवश्यकता तथा परिस्थिति की दृष्टि से उपयुक्त हस्तकला के विषय को भी पाठ्यक्रम में यथेष्ट स्थान दिया गया।

कृषि की शिक्षा के लिए प्रति सप्ताह ६ घण्टे तथा स्कूल के समय के पश्चात् २ घण्टे प्रति दिन व्यावहारिक प्रशिक्षण हेतु निश्चित किए गये। विद्यालयों की छुट्टियाँ कृषि की शिक्षा के अनुरूप निश्चति की गयीं जिससे विद्यार्थी तथा अध्यापक दोनों फसल की कटाई, तथा बुवाई आदि में भाग ले सकें। इस प्रकार इन विद्यालयों में कृषि कार्य के आरम्भ हेतु १ करोड़ ६८ लाख रुपये का अनावर्तक तथा ४७ लाख ५० हजार रुपये आवर्तक व्यय की

की गई। योजना के अन्तर्गत इस दृष्टिकोण से समाज शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना की व्यवस्था की गई।

समाज-शिक्षा-केन्द्र :

समाज शिक्षा केन्द्रों में वयस्क तथा ऐसे युवक जिनकी शिक्षा किसी कारण-वश अधूरी रह गई है, उन्हें शिक्षित बनाने का आयोजन किया गया। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार के ३२० शिक्षा-केन्द्रों में सामान्य शिक्षा के साथ-साथ हस्तकला की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। इन विद्यालयों में ६ घण्टे साहित्य और १२ घण्टे किसी हस्तकला के लिए निश्चित किये गये तथा प्रशिक्षण काल २ वर्ष का रक्खा गया।

शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था :

पाठ्यक्रम में कृषि तथा हस्तकला के नवीन विषयों को समावेश करने के कारण अध्यापकों को उपरोक्त विषयों की दीक्षा प्रदान करना आवश्यक हो गया। अतः प्रान्त के निम्नलिखित नार्मल स्कूलों में उपरोक्त विषयों की दीक्षा का प्रबन्ध किया गया:—इलाहाबाद, फैजाबाद, गोरखपुर, झाँसी, आगरा, रुद्रपुर और मुजफ्फरनगर। इन विद्यालयों में दीक्षा का काल ३ मास रक्खा गया। रुद्रपुर केन्द्र में उन अध्यापकों की दीक्षा का प्रबंध किया गया जो कृषि विषय से एक दम अपरिचित थे और जो अविद्यार्थी कृषि विषय की शिक्षा इन्टरमीडिएट अथवा स्नातकीय कक्षा प्राप्त कर चुके थे उन्हें अध्यापन की दीक्षा प्राप्त करने हेतु प्रान्त के अन्य ७ स्कूलों में भेजा गया।

इस नवीन शिक्षा प्रणाली के कार्यान्वयन के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि इसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि अध्यापकों को सामुदायिक विकास प्रणाली, राष्ट्रीय प्रसार सेवा, पशु पालन, दुग्धशाला तथा आमोद-प्रमोद और जन स्वास्थ्य की विशेष दीक्षा दी जावे। फलतः छात्राध्यापकों के निर्धारित पाठ्यक्रम में उपयुक्त संशोधन करने की व्यवस्था की गयी। पाठ्यक्रम में कृषि की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने हेतु समुचित समय निर्धारित किया गया। इसी दृष्टिकोण से राज्य के नार्मल स्कूलों की स्थित में जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों के अध्यापकों की दीक्षा का प्रबन्ध है, परिवर्तन करने का

प्रभावित होता था, अब उसी प्रकार उनका पड़ोसी बन जायगा जैसे गाँव के अन्य कृषक। अतः आवश्यक है कि स्कूल तथा गाँव का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हो। इसी दृष्टिकोण से प्रारम्भिक स्तर के विद्यालयों के लिए विद्यालय परिषद् की स्थापना की व्यवस्था की गई। इस परिषद् के सदस्य गाँव के सभापति तथा अन्य ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जो शिक्षा की प्रगति में रुचि लेते हों। इस परिषद् के मंत्री स्थानीय स्कूल के प्रधानाध्यापक होंगे।

देश की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा बढ़ती हुई बेरोजगारी की स्थिति पर ध्यान रखते हुए इस योजना को इस रूप में संगठित किया गया जो पग-पग पर लाभप्रद हो सके। योजना के अनुसार विद्यालयों के पुनर्संगठित हो जाने पर पर्याप्त मात्रा में आर्थिक आय होने की आशा है। कृषि फार्मों के अतिरिक्त शिल्प तथा हस्तकला संबंधित विद्यालयों से भी अच्छी आय की आशा की जाती है। इस आय से अध्यापकों का बोनस, विद्यार्थियों की फीस, नाश्ते, किताबों तथा कापियों के प्रबन्ध की व्यवस्था की जाने का निश्चय किया गया है। इस प्रकार अध्यापक, अभिभावक तथा विद्यार्थी अर्थात् समाज योजना के प्रत्यक्ष लाभ से प्रभावित हो सकेंगे। यही समाज योजना का प्रमुख ध्येय है। देखना है कि यह ध्येय कहाँ तक पूरा होता है।

सारांश

देश के प्रमुख उद्योग कृषि को समुन्नत करने हेतु प्राथमिक से लेकर माध्यमिक कक्षाओं तक के विद्यालयों में कृषि की शिक्षा की व्यवस्था करके शिक्षा को अत्यधिक व्यावहारिक बनाने का आयोजन किया गया और इन विद्यालयों को सामुदायिक विद्यालयों में परिवर्तित किया गया।

योजना के पूर्व की शिक्षा संस्थाएँ एवं उनका स्वरूप :

योजना के पूर्व सन् १९३८-३९ में स्थित प्राइमरी पाठशालाओं को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रथम चरण में १६ लाख अतिरिक्त विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार दस्तकारी तथा प्रकृति शिक्षा को महत्व प्रदान किया गया। परन्तु आशातीत सफलता न प्राप्त होने के कारण कृषि को अनिवार्य विषय के रूप

संस्थाओं में सामान्य शिक्षा प्रदान करने हेतु नयी योजना में समुचित व्यवस्था की गई। इन संस्थाओं को स्तर के अनुसार तीन वर्गों में बाँटा गया।

अध्यापकों को दीक्षित करने हेतु प्रान्त में ८ प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये। वयस्कों की शिक्ष के प्रबन्ध में ३२० समाज शिक्षा केन्द्रों की व्यवस्था की गई। प्रशिक्षित कृषि अध्यापकों को योग्यतानुसार ३ वर्गों में विभाजित किया गया। इस प्रकार कुल २००६ विद्यालयों में नवीन शिक्षा योजना कार्यान्वित की गई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. उत्तर प्रदेश की ब्रिटिश कालीन शिक्षा-प्रणाली पर प्रकाश डालिए।

२. नई शिक्षा-योजना के निर्माण की आवश्यकता तथा योजना पूर्व की शिक्षा-संस्थाओं का वर्णन कीजिए।

३. नई शिक्षा योजना का क्या स्वरूप है ?

४. योजना के अन्तर्गत विभिन्न स्तर के विद्यालयों के पुनर्गठन का उल्लेख कीजिए ?

पन-पद्धति के प्रबन्ध में अनेक कठिनाइयाँ हैं। आर्थिक व्यवस्था असन्तोषजनक होने पर इतने अधिक अध्यापकों की व्यवस्था कर सकना असम्भव होगा। इस पद्धति में यह भी दोष है कि विद्यार्थियों में सामाजिकता की भावना का लोप हो जायगा। विद्यार्थी अपनी अवस्था के बालकों में रहना चाहते हैं जिसका अवसर वैयक्तिक शिक्षण-पद्धति में नहीं मिल सकता। विद्यार्थी अपने समाज में रहकर अनुकरण, स्पर्धा और सहानुभूति से भी कुछ शिक्षा प्राप्त करता है। यह वैयक्तिक शिक्षण पद्धति में सम्भव नहीं है। बालकों का मन अकेले किसी कार्य के सीखने में नहीं लगता। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विषय हैं जिनमें विद्यार्थियों को दूसरों की सहानुभूति और अनुकरण की आवश्यकता होती है। इसका अवसर कक्षा-शिक्षण-पद्धति में ही संभव है। एक बालक को पढ़ाने में कभी-कभी अध्यापकों की रुचि भी नहीं लगती। कक्षा के सभी विद्यार्थियों के समक्ष भाषण देने में अध्यापक अधिक रुचि और सहानुभूति से कार्य करता है। कुछ लोगों का कथन है कि कक्षा में विभिन्न विद्यार्थियों के हितार्थ एक ही पाठ की बार-बार आवृत्ति करनी पड़ती है। इससे कुशाग्र बुद्धि के बालकों के समय का दुरुपयोग होता है, किन्तु ऐसा तर्क देने वालों को ध्यान रखना चाहिए कि किसी पाठ की बार-बार आवृत्ति करने से कुशाग्र बुद्धि के विद्यार्थियों के मस्तिष्क में वह पाठ अच्छी तरह बैठ जाता है।

अतः कोई ऐसा उपाय निकालना चाहिए जिससे वैयक्तिक शिक्षण-पद्धति के अनुसार शिक्षा देते हुए भी कक्षा शिक्षण-पद्धति के लाभों को उठाया जा सके। अभी तक कोई ऐसा साधन नहीं मिलता है कि जिससे इस पद्धति के अनुसार शिक्षा दी जा सके। अतएव कक्षा शिक्षण-पद्धति का ही अनुसरण करना होगा। अध्यापकों को चाहिए कि वैयक्तिक रूप से विद्यार्थियों से सम्बन्ध स्थापित करें और उनकी कठिनाइयों को यथा शक्ति दूर करें। यदि ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाय तो कोई कारण नहीं है कि अध्यापक अपने कर्त्तव्य का पालन न करें। कक्षा में छात्रों की संख्या जहाँ तक हो सके कम रखनी चाहिए। अच्छा होगा कि यदि कक्षा में २० या २५ विद्यार्थी से अधिक न रखे जाँय। दूसरी ओर कक्षा में अध्यापकों की संख्या को बढ़ाना भी आवश्यक है, किन्तु यह सब तभी सम्भव है जब कि धन का अभाव न हो।

निरीक्षित स्वाध्याय[1]

हॉल क्वस्ट ने निरीक्षित स्वाध्याय विधि का प्रतिपादन किया है। यह विधि भी मैकमन से मिलती-जुलती है। इस विधि का उद्देश्य बालक को अध्यापक की देख-रेख में रहकर अपनी शिक्षा के प्रति उत्तरदायी बनाना है। इससे विद्यार्थी अपना समुचित विकास कर सकेंगे। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए वह एक ढंग का स्कूल भी स्थापित करना चाहता है। किसी एक घण्टे के कार्यक्रम का वे १२ और २४-:-२४ मिनट के तीन भाग करते हैं। पहले १२ मिनट के समय के $\frac{1}{5}$ भाग में शिक्षक पूर्व पाठ की आवृत्ति करते हुए विद्यार्थियों के ज्ञान की परीक्षा करता है, और अग्रिम पाठ के लिए उन्हें तैयार करता है। इस कार्य को प्रस्तावना कहते हैं। दूसरे $\frac{2}{3}$ भाग में अध्यापक बालकों की इच्छा-शक्ति को उत्साहित करते हुए उनके समक्ष कुछ जटिल समस्यायें रखता है जिसे कार्यारोपण कहते है। तृतीय भाग में विद्यार्थी पृथक-पृथक समस्याओं को सुलझाने में लीन हो जाते हैं। कार्यारोपण में अध्यापक विद्यार्थियों की प्रतिभा पर विशेष ध्यान देता है। कुशाग्र, साधारण और मन्द विद्यार्थियों की भिन्न २ योग्यता पर विचार करते हुए उन्हें कार्य देना होगा, नहीं तो निरीक्षित स्वाध्याय का लक्ष्य प्राप्त न हो सकेगा।

इस सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है कि इस पद्धति से शिक्षा देने पर विद्यार्थियों में स्वावलम्बन शक्ति नहीं आती, और विद्यार्थी सदैव अध्यापक की सहायता चाहते हैं। किन्तु इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि अध्यापकों को पाठ का संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि समस्यायें छात्रों के मस्तिष्क में अपने आप उत्पन्न हों और उसके समाधान का उपाय वे स्वयं सोचें। इतना कहने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि निरीक्षित स्वाध्याय विधि, कक्षा-शिक्षण और वैयक्तिक शिक्षक का अच्छा समन्वय है। पूर्व दो भागों में सभी विद्यार्थी एक साथ ही कक्षा में बैठकर अध्यापक की बातें सुनते हैं और तृतीय भाग में अपनी व्यक्तिगत शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है।

---

1. Supervised Study.

पाये जाते जो इतनी बड़ी कक्षा का निरीक्षण कर सकें, किन्तु यदि यह पद्धति सम्भव हो सके तो कक्षा शिक्षण-पद्धति का भी लाभ उठाया जा सकता है।

गैरी पद्धति प्रॉजेक्ट पद्धति की तरह व्यक्ति, स्कूल और वाह्य जीवन में अटूट सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। पर इसमें कुछ भिन्नता भी है। गैरी पद्धति में अध्यापक केवल पढ़ाता ही नहीं, वरन् साधारण नागरिकों के व्यावहारिक जीवन में जो कार्य अवश्यक है उनके करने की कला भी सिखाता है। इस पद्धति के आलोचकों का कथन है कि गैरी स्कूल में कक्षा-शिक्षण पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इसमें इस सम्बन्ध में अन्य स्कूलों से गैरी स्कूल पीछे रह जाते हैं। इस दोष का कारण यह है कि इस पद्धति से शिक्षा देने वाले अध्यापक दूसरे स्कूल के शिक्षकों की तरह विद्यार्थियों के विकास के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं बनाते। विद्यार्थी को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करके अपने कर्त्तव्य की समाप्ति कर देते हैं। गैरी स्कूल में कुछ अप्लीकेशन टीचर हुआ करते हैं जिनका कर्त्तव्य बुद्धिहीन बालकों को व्यापार तथा नागरिकता आदि की बातें बताना है—जिससे विद्यार्थी भविष्य में योग्य नागरिक बन सकें। किन्तु यह प्रथा ठीक नहीं है, क्योंकि इससे अन्य अध्यापक सोचते हैं कि बालक में इन गुणों का विकास करना उनका उत्तरदायित्व नहीं है। सभी बालकों के विषय में अप्लीकेशन टीचर का जानना सम्भव नहीं।

'मेसन पद्धति' :

इस प्रणाली की निर्माता मिस मेसन हैं। इस पद्धति में सिखलाया जाता है कि 'क्या' और 'कैसे' पढ़ें। इसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर बालक स्वयं आगे अनन्य विषयों का अध्ययन कर लेंगे। इस पद्धति में अनेक प्रकार के विषय रक्खे जाते हैं जिससे बालकों का इन विषयों से अत्यधिक प्रेम होवे। एक बार पढ़ लेने पर बालकों को लिखित और मौखिक रूप से उसे उनके ही शब्दों में प्रकट करने के लिए रुचि उत्पन्न करनी चाहिये। मिस मेसन का दृढ़ विश्वास है कि बिना आवृत्ति के ज्ञान स्थायी नहीं होता। इस पद्धति से जहाँ शिक्षा दी जाती है वहाँ के छात्र अन्य साधारण स्कूलों के छात्रों से अधिक परिश्रमी होते हैं, और रुचि से काम करते हैं। इस विधि के प्रचार में सबसे बड़ी बाधा पुस्तकों का अभाव है।

२३

अध्यापन के कुछ सूत्र-वाक्य और विधियाँ

शिक्षण शास्त्र में प्रचलित कुछ सूत्र-वाक्य

१. सरल से जटिल की ओर ।
२. ज्ञात से अज्ञात की ओर ।
३. विशिष्ट से सामान्य की ओर ।
४. स्थूल से सूक्ष्म की ओर ।
५. विश्लेषण से संश्लेषण की ओर ।
६. सम्पूर्ण से अंश की ओर ।
७. मनोवैज्ञानिक हो, तार्किक नहीं ।

नीचे इन सूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या की जायगी ।

१. अध्यापन सरल से जटिल की ओर हो :

पाठ पढ़ाने के पूर्व बालक के ज्ञान-स्तर को समझ लेना आवश्यक है । उनकी रुचियों का ज्ञान प्राप्त करना तथा उन्हें ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्साहित करना आवश्यक है । बालक को शिक्षा देने के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रारम्भ में कठिन प्रश्न उनके समक्ष न रक्खा जाय । कठिन प्रश्न रखने से बालक उसे करने में असफल रहेंगे, जिससे उनके गौरव को ठेस लगेगी । ऐसी दशा में विद्यार्थी अपने को अयोग्य समझ कर किसी कार्य को करने के लिए आगे न बढ़ेंगे । किन्तु अब प्रश्न यह है कि सरल और जटिल किसे कहते हैं । जो एक व्यक्ति के लिए सरल है वहीं दूसरे के लिए कठिन हो सकता है । जो प्रश्न एक समय में कठिन होता है वही प्रश्न दूसरे समय में सरल ज्ञात होता है । इस प्रश्न को सुलझाने के लिए विद्यार्थियों के ज्ञान और अवस्था पर ध्यान देना चाहिए । कुछ प्रश्नों के पूछने पर बालकों के ज्ञान का पता चल जाता है । प्रश्न पूछते समय अध्यापक को ध्यान रखना चाहिए कि जो प्रश्न

ज्ञान देने के लिए बालक के वातावरण में तत्सम्बन्धी प्राप्त वस्तुओं के विश्लेषण से पाठ प्रारम्भ करना चाहिए, किन्तु विश्लेषण के पश्चात् विभिन्न अंशों का संश्लेषण भी बालकों के समक्ष रखना चाहिए। तभी वे कुछ समझ सकेंगे। व्याकरण के पाठ में सम्पूर्ण वाक्य विद्यार्थियों के सामने रख कर ही विश्लेषण करना चाहिए।

६. सम्पूर्ण से अंश की ओर :

कुछ लोगों के अनुसार सम्पूर्ण ज्ञान से अंश का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए; जैसे : एक गुलाब के फूल के विषय में विद्यार्थियों को अवगत कराने के लिए पहले सम्पूर्ण वृक्ष का ज्ञान होना आवश्यक है।

७. मनोवैज्ञानिक हो, तार्किक नहीं :

शिक्षकों के समक्ष प्रश्न यह है कि शिक्षा देते समय केवल मनोवैज्ञानिक साधनों से कार्य लिया जाय या तार्किक ढंग का। परन्तु इसमें मनोवैज्ञानिक पद्धति ही विशेष लाभदायक सिद्ध होती है। तार्किक दृष्टिकोण से भाषा के अध्ययन में पहले ध्वनि और वर्ण से प्रारम्भ करना चाहिए, किन्तु मनोवैज्ञानिक के अनुसार बालक निरर्थक बातों में रुचि नहीं रखता। अतः उसके समक्ष पहले वाक्य ही रखना चाहिए, क्योंकि उसकी सार्थकता बालक के लिए बोधगम्य है। इसी प्रकार इतिहास में प्राचीनतम काल से प्रारम्भ करके ही वर्तमान काल के इतिहास का अध्ययन करना चाहिए। किन्तु बालक वर्तमान से अधिक रुचि रखता है। प्राचीन काल का इतिहास उसे अधिक रुचि कर न होगा। अतएव बालक की रुचियों पर ही ध्यान देना आवश्यक है। अतः तार्किक पद्धति से भी शिक्षा देना विशेष लाभदायक न होगा।

कुछ अध्यापन-विधियाँ

कई प्रकार की अध्यापन-विधियाँ बताई जाती हैं। इनमें कौन सी विधि अधिक उपयोगी होगी यह कह सकना कठिन है। समय के अनुसार सभी विधियाँ लाभदायक होती हैं। नीचे कुछ विधियों का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

इसके पश्चात् त्रिभुज बनाकर उसके कोणों को नापा जाता है। इस प्रकार से निगमन विधि की परीक्षा की जाती है। यह सिद्धान्त बैल के आगे गाड़ी का रखना है। इस प्रकार निगमन विधि मनोवैज्ञानिकता से रहित जान पड़ती है। इस सिद्धान्त में बिना उदाहरण दिये बालक कुछ नहीं समझ सकेगा। बालकों का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना चाहिए कि वे स्वयं किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें।

यह कहा जा सकता है कि अगमन शिक्षा देने का साधन है और निगमन विधि आदर्श देने का। यद्यपि अगमन विधि में पहले कुछ असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। किन्तु शिक्षा देने की यही सर्वोत्तम विधि है। अगमन विधि निगमन विधि से अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि इस विधि में बहुत कुछ सोचने-समझने के पश्चात् किसी निष्कर्ष को निकाला जाता है जिससे अशुद्धि होने का भय कम रहता है।

अधिक उपयोगी शिक्षा विधि अगमन-निगमन :

उपर्युक्त बातों के देखने से ज्ञात होता है कि अगमन और निगमन शिक्षा-विधियाँ एक दूसरे की विरोधी हैं; किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। एक विधि दूसरे पर निभर है। शिक्षक के लिए इन दोनों विधियों की समान उपयोगिता है। कभी-कभी तो इन दोनों विधियों का साथ-साथ उपयोग किया जाता है। शिक्षा-कार्य कसी भी एक के बिना ठीक से सम्पन्न नहीं किया जा सकता। अगमन विधि में शिक्षक यह विश्वास कर लेता है कि बालक अपने पूर्व ज्ञान से समझाई जाने वाली बात को समझ लेगा। केवल कुछ उदाहरणों को बालकों के समक्ष प्रस्तुत करके अध्यापक निगमन विधि से शिक्षा का कार्य चलाता है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि शिक्षा की सर्वश्रेष्ठ विधि दोनों विधियों का मिश्रण है। यदि निगमन विधि से किसी सिद्धान्त का निरूपण किया जाता है तो अगमन विधि से उसकी पुष्टि की जाती है।

४. ह्यूरिस्टिक[1] (अन्वेषण) विधि :

इस विधि के अनुसार शिक्षक का कार्य बालकों का केवल पथ-प्रदर्शन करना है। जहाँ तक हो सके बालकों से कम से कम कहा जाय और किसी सिद्धान्त

1. Heuristic Method.

इतिहास और भूगोल से इस विधि का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तर्क का खंडन करते हुए कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि पद्य के सौन्दर्य का पता लगाने, किसी घटना के कारणों का खोज निकालना क्या इस विधि का कार्य नहीं ?

सारांश

कुछ शिक्षण सूत्र-वाक्य

ज्ञात से अज्ञात की ओर।

विशिष्ट से सामान्य की ओर।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर।

विश्लेषण से संश्लेषण की ओर।

सम्पूर्ण से अंश की ओर।

मनोवैज्ञानिक हो, तार्किक नहीं।

कुछ शिक्षण विधियाँ

१. **सुकराती विधि :** शक्ति के बल पर ज्ञान देना ठीक नहीं। प्रश्नों के आधार पर ज्ञान देना। छात्र में रुचि उत्पन्न करेना।

२. **अगमन विधि :** उदाहरण द्वारा सिद्धान्त का निरूपण करना।

३. **निगमन विधि :** सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न बातों की परीक्षा करना।

अगमन निगमन : एक दूसरे पर निर्भर है।

४. **ह्यूरिस्टिक विधि :** स्वयं अन्वेषण के लिए बालकों को उत्साहित किया जाय। प्रत्येक विषय में इस विधि का प्रयोग सरल नहीं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. कुछ शिक्षण सूत्र-वाक्यों का सविस्तार उल्लेख कीजिए।
२. सुकराती विधि पर टिप्पणी लिखिए।
३. अगमन और निगमन विधि में अधिक उपयोगी कौन है ? उदाहरण सहित समझाइए।
४. ह्यूरिस्टिक विधि क्या है ? इसका उपयोग सभी विषयों के अध्यापन में क्यों नहीं किया जा सकता ?

अध्यापक का कर्त्तव्य है कि अपनी असमर्थता स्वीकार करले और दूसरे दिन बच्चों में प्रश्नों के प्रति रुचि उत्पन्न करके प्रेमपूर्वक उनका उत्तर दे। अध्यापकों द्वारा प्रश्न पूछने की पद्धति भी शिक्षा-क्षेत्र में कम महत्त्व नहीं रखती। अध्यापक की अध्यापन-कला की सफलता उसके इसी गुण से आँकी जा सकती है। नीचे हम प्रश्न पूछने की उपयोगिता पर संक्षेप में विचार करेंगे।

प्रश्न पूछने के उद्देश्य :

१. पाठ्य वस्तु को विद्यार्थी कहाँ तक समझ सके, इसका ज्ञान प्राप्त करना।
२. प्रश्न पूछ कर यह अनुभव कर लेना कि किये हुए कार्य को छात्र कहाँ तक कर सकते हैं।
३. विद्यार्थी की वैयक्तिक विभिन्नता का पता लगाना।
४. गृह कार्य देना।
५. बालकों की रुचि का पता लगाना।
६. उनकी कल्पना शक्ति का विकास करना।

प्रश्न पूछने में ध्यान देने योग्य बातें :

पाठ के ध्येय के अनुसार ही प्रश्न होना चाहिए। प्रश्न ऐसा हो कि पाठ्य-वस्तु का सारांश विद्यार्थी स्वयं समझ सकें और अध्यापक केवल पथ प्रदर्शक बना रहे। प्रश्न ऐसे हों कि विद्यार्थियों की कल्पना-शक्ति का विकास हो। प्रश्न की भाषा स्पष्ट और शुद्ध हो। व्यर्थ के लम्बे प्रश्न करना ठीक नहीं। बालकों की योग्यता के अनुसार ही प्रश्न होना चाहिए। कभी-कभी कुशाग्र बुद्धि वाले विद्यार्थियों से कठिन प्रश्न करना ठीक होता है। प्रश्न ऐसा हो कि उसका एक ही उत्तर हो। प्रश्न करने की शब्दावली पुस्तक की न हो, नहीं तो छात्र पुस्तक से ही उत्तर दे देंगे। इससे विद्यार्थियों का विशेष लाभ नहीं होगा। अध्यापक को प्रत्येक बात को अधिकार के साथ कहना चाहिए। सभी प्रश्नों में परस्पर-सम्बन्ध होना चाहिये। प्रश्न सार्थक हों, उनके पूछने का स्वर मधुर होना चाहिए। प्रसन्नता के साथ प्रश्न पूछने पर बालक उत्साह पूर्वक उत्तर देते हैं। कक्षा के सम्पूर्ण विद्यार्थियों से प्रश्न करने के पश्चात् किसी एक विद्यार्थी

पाते हैं तो उनका उत्साह क्षीण हो जाता है, और वे अपने को असफल अध्या-पक समझने लगते हैं। कभी-कभी कक्षा के सभी विद्यार्थी उत्तर देने के लिए उत्सुक दिखाई देते है और कक्षा में अविनय की संभावना आ जाती है। ऐसे समय प्रश्न उठता है कि किस बालक से उत्तर पूछा जाय। अध्यापक को चाहिए कि बारी-बारी से सभी बालकों से प्रश्न पूछे। कुछ ही बालकों से उत्तर पूछना अन्य बालकों के लिए हानिकारक होगा। यदि कोई छात्र मन्द बुद्धि का है तो दूसरे विद्यार्थी द्वारा दिए हुए उत्तर की उससे आवृत्ति करवानी चाहिये। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि उत्तर देने में विद्यार्थियों के भूलने पर सहानुभूतिपूर्वक उनकी सहायता करे। तनिक भी सफलता प्राप्त करने पर उनकी प्रशंसा करे, किन्तु प्रशंसा का पुल बाँधना उचित नहीं।

शिक्षक को चाहिए कि प्रेम पूर्वक विद्यार्थी का नाम लेकर उससे उत्तर देने के लिए कहे। इसमें विद्यार्थी अपना सम्मान समझते हैं। कभी-कभी अध्या-पक विद्यार्थियों का नाम जानते हुए भी अपने व्यर्थ सम्मान के लिए नाम पूछने लगते हैं, ऐसा करना विद्यार्थियों के उत्साह को भंग करना है। विद्या-र्थियों को सम्बोधित करने के लिए तुम शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि तुम शब्द में आत्मीयता की भावना छिपी रहती है और विनय-स्थापन में भी सहायता मिलती है।

अध्यापक को चाहिए कि उत्तर देते समय बालकों के खड़े होने की दशा पर ध्यान रखे, कुछ बालक झुके हुए अव्यवस्थित दशा में खड़े होते हैं, यह ठीक नहीं है। बालकों का कर्त्तव्य है कि अध्यापक की आज्ञा पालन पर आलस्य को त्याग करके सैनिक की भाँति कक्षा में खड़े हों। अध्यापक को चाहिए कि खड़ा होते ही विद्यार्थी की सफलता और असफलता को भाँप ले। जो विद्यार्थी उत्तर देने में असमर्थ होते हैं वे ढिलाई के साथ खड़े होते है। ऐसे विद्यार्थियों से उत्तर पूछना चाहिए, किन्तु मन्द बुद्धि वाले बालकों से सहानुभूतिपूर्वक उत्तर की आवृत्ति करानी चाहिए।

उत्तर का रूप :

शिक्षा-शास्त्रियों ने उत्तर के निम्नलिखित गुण बताये हैं।

सहारे पुस्तकों की रचना होती है। इसी के द्वारा किसी वस्तु को बढ़ा-चढ़ा करके कहने पर समाज में अधिक प्रतिष्ठा होती है। भाषा की शुद्धि में केवल व्याकरण की ही अशुद्धियाँ नहीं देखी जातीं। प्रश्न का उत्तर देते समय एक ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए। हिन्दी के कुछ विद्वान उसमें संस्कृत तथा उर्दू के, फारसी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते है। यह उचित नहीं, हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि हम अंग्रेजी से घृणा करें। किन्तु भाषा शक्ति का विकास करने के लिए एक ही भाषा की शब्दावली का प्रयोग करना उचित होगा। यदि इसका ध्यान प्रारम्भ से ही दें तो इस खिचड़ी भाषा के प्रयोग से बालक और नवयुवक बच सकेंगे।

अशुद्ध उत्तरों का संशोधन :

पहले ही संकेत किया जा चुका है कि अशुद्ध उत्तर देने पर बालकों को दण्ड देना ठीक नहीं है, क्योंकि इसका प्रभाव विद्यार्थियों पर बुरा पड़ता है। दण्ड के भय से बालक भविष्य में शुद्ध उत्तर जानते हुए भी उत्तर देने का साहस नहीं करते। उत्तर देने में प्रायः दो तरह की अशुद्धियाँ पाई जाती हैं:— (१) भाषा और (२) तथ्य।

बालकों के उत्तर देने पर जहाँ तक सम्भव है अशुद्धियों पर शीघ्र ध्यान देना चाहिए। श्यामपट पर लिखी हुई अशुद्धियाँ अधिक समय तक नहीं रहने देना चाहिए। अशुद्धियाँ ठीक करने के लिए सर्वप्रथम बालकों को आदेश देना चाहिए। छात्राध्यापकों के समक्ष अशुद्धियों को ठीक करने के लिए प्रायः प्रश्न उठा करते हैं कि अशुद्धियाँ कब ठीक की जाँय। इसके विषय में उन्हें यही मंत्रणा दी जा सकती है कि जहाँ तक सम्भव हो वे तुरन्त ठीक की जाँय। भाषा, इतिहास, भूगोल तथा गणित इत्यादि विषयों की अशुद्धियों को सुधार करने में बिलम्ब करना ठीक नहीं। बालकों के समक्ष कोई भी अशुद्ध बात नहीं होनी चाहिए। कुछ अध्यापकों का स्वभाव होता है कि वे बालकों द्वारा दिये हुए उत्तर की आवृत्ति कर देते हैं। ऐसा करना ठीक नहीं है, क्योंकि इससे बालकों में असावधानी की भावना घर कर जाती है। किसी बालक द्वारा दिये हुए शुद्ध उत्तर को भी ध्यान से न सुनने के वे अभ्यासी हो जाते हैं। प्रश्न की तरह उत्तर भी स्पष्ट और गम्भीर शब्दों में होना चाहिए। कुछ बालक इतना

अशुद्ध उत्तरों को कैसे ठीक किया जाय ? : शुद्ध शब्द की ओर ध्यान आकर्षित करना। विद्यार्थियों के असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता। छात्रों के उत्तर को न दोहराना। उच्च स्वर में उत्तर निकलवाना। बहुत से प्रशंसा-सूचक शब्दों का प्रयोग नहीं। प्रश्न का उत्तर देते समय विद्यार्थियों की सहायता करना। छात्रों को प्रश्न करने का अवसर देना।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. अच्छे प्रश्नों के लक्षण क्या होते हैं ?

२. प्रश्न के कितने प्रकार होते हैं ? उदाहरण दीजिए।

३. उत्तर निकलवाने की कला पर एक लेख लिखिए।

४. अशुद्ध उत्तर को कब ठीक करना चाहिए ?

कहना चाहिए। अध्यापक की व्याख्या इतनी विस्तृत नहीं होनी चाहिए कि समय का दुरुपयोग हो। व्याख्या करने के बीच-बीच में प्रश्न पूछते रहना शिक्षक की योग्यता का परिचायक है। इतिहास, भूगोल, और नागरिकशास्त्र में किसी पाठ का वर्णन करते समय अध्यापक को अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है। वर्णन अधिक विस्तृत न हो। आवश्यकतानुसार श्यामपट, चार्ट या मानचित्र आदि का प्रयोग करना चाहिए।

प्रदर्शन के लिए सहायक सामग्री

जो भी प्रदर्शन सामग्री, जैसे, मानचित्र, चार्ट अथवा मॉडल आदि छात्रों को दिखाया जाय उनका आकर्षक होना आवश्यक है। इससे बालक अधिक रुचि लेते हैं। किन्तु इतना अधिक आकर्षक भी न हो कि विद्यार्थियों का ध्यान मुख्य विषय से हट कर चित्र देखने में ही लगा रहे। प्रदर्शन की सामग्री संख्या में अधिक भी नहीं होनी चाहिए। सामग्री ऐसी हो कि एक स्थान से सभी बालकों को दिखाई जा सके। प्रदर्शन-सामग्री दिखाने के लिए अध्यापक को कक्षा के कोने-कोने में नहीं जाना चाहिए। प्रदर्शन-सामग्री पाठ के अनुकूल होनी चाहिए। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों का कहना है कि प्रदर्शन-सामग्री दिखलाकर उसे तुरन्त ओट में छिपा देना चाहिए, अन्यथा विद्यार्थी उसी ओर देखा करते है, और पाठ्य-वस्तु पर उनका ध्यान नहीं जायगा। किन्तु कुछ लोग इस सुझाव का विरोध करते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि प्रदर्शन-सामग्री कक्षा में कितनी देर रक्खी जा सकती है। इसका निर्णय आवश्यकतानुसार अध्यापक स्वयं करेंगे।

श्यामपट का स्थान

अध्यापन के लिए श्यामपट का प्रयोग बड़ा ही आवश्यक है। प्रायः यह देखा जाता है कि आलसी अध्यापक इसका प्रयोग नहीं करते। श्यामपट का प्रयोग करने से अध्यापक का प्रभाव विद्यार्थियों पर अधिक पड़ता है। उस पर रेखा या चित्र बनाने में अध्यापक जितना ही सिद्ध-हस्त होता है बालक उतना ही उसका सम्मान करते हैं। श्यामपट पर कुछ लिखने या बनाने से कक्षा में सोने वाले विद्यार्थी सतर्क हो जाते हैं। श्यामपट पर इतना बड़ा या स्पष्ट लिखा जाय कि प्रत्येक छात्र उसे पढ़ सके। अध्यापक जितना ही स्वच्छ

के अभाव में ऐसा हो सकना सम्भव नहीं है। अब प्रश्न यह है कि पाठ्य-पुस्तकें कैसी होनी चाहिए। नीचे संक्षेप में पाठ्य-पुस्तकों की कुछ प्रमुख विशेषताओं की ओर हम संकेत कर रहे हैं:—

१. सम्पूर्ण वर्ष में शिक्षा सम्बन्धी जो कार्य करना हो उसकी रूपरेखा पुस्तक में होनी चाहिए। किन्तु अध्यापक को लकीर का फकीर नहीं होना चाहिए। अतएव आवश्यकतानुसार पाठ्य-पुस्तकों में संशोधन करने की उसे स्वतन्त्रता भी होनी चाहिये।

२. पाठ्य-पुस्तक बालकों के विकास की अवस्था के अनुकूल होनी चाहिये।

३. प्रारम्भिक कक्षाओं की पुस्तकें मोटे अक्षरों में होनी चाहिए। उनमें आवश्यक चित्र होने चाहिए। बालकों को पुस्तकें अधिक सावधानी से छापनी चाहिए। तथा आकर्षक होनी चाहिए।

४. पाठ्य-पुस्तक की रचना करते समय ज्ञानार्जन और चरित्र-निर्माण दोनों पर ध्यान रखना चाहिए।

५. प्रत्येक पाठ के अन्त में कुछ मनोवैज्ञानिक प्रश्न होने चाहिये।

विभिन्न विषयों की पाठ्य-पुस्तकें भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से बनाई जाती हैं। कुछ कक्षाओं में तो केवल पाठ्य-पुस्तकों से ही विद्यार्थियों की आवश्यकतायें पूरी हो जाती हैं। ऐसा प्रारम्भिक कक्षाओं में होता है। नवीं कक्षा से अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र तथा भाषा इत्यादि विषयों में अन्य पुस्तकें भी पढ़नी पड़ती हैं। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों को अन्य पुस्तकें भी पढ़ने का निर्देश दें। कभी-कभी पाठ्य-पुस्तकें असामयिक हो जाती हैं, जिससे केवल पाठ-पुस्तकों से ही छात्रों का कार्य चल सकना कठिन हो जाता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पाठ्य-पुस्तकें केवल पथ-प्रदर्शक है। अतएव पाठ्य-पुस्तकों पर ही निर्भर रहना उचित नहीं। आजकल केवल पुस्तकीय शिक्षा की बड़ी निन्दा की जाती है।

छात्रों के लिखित कार्य का संशोधन

लिखित कार्यों का संशोधन करना अत्यन्त आवश्यक है। संशोधन से बालक अपनी अशुद्धियों को समझ लेते हैं और दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

सकती है। अतः मध्य के मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर होगा। अर्थात् बालकों को उतना ही कार्य देना चाहिये जितना वे सरलता से करके अन्य कार्यों में भी हाथ बँटा सकें।

गृह-कार्य देते समय बालकों की योग्यता का ध्यान रखना चाहिये। वस्तुतः पिछले कार्यों की आवृत्ति ही गृह-कार्य में देनी चाहिये। कभी-कभी गणित या विज्ञान में कार्य देते समय अध्यापक बालकों के मनोरंजन आदि का ध्यान नहीं रखते। यदि गृह-कार्य से बालक में सफलता की भावना नहीं आयी तो कार्य देना व्यर्थ होगा। जो बालक मन्द बुद्धि के हैं उन्हें कम और सरल कार्य देना चाहिये। गृह-कार्य देने के पूर्व बालक के घर की स्थिति का भी अध्यापकों को ध्यान रखना चाहिये। यदि किसी कारणवश विद्यार्थी को अपना अधिक समय घर के कार्य लगाना है तो घर के लिये अधिक कार्य नहीं देना चाहिये। जिन बालकों को घर पर भी अध्यापक पढ़ाते हैं उन्हें कम कार्य मिलना चाहिये। स्कूल में उपस्थित होने पर दिये हुये गृह-कार्य का निरीक्षण कर लेना अत्यन्त ही आवश्यक है, अन्यथा, विद्यार्थी कार्य करना बन्द कर देंगे। कुछ अध्यापक क्रोध में आकर अधिक कार्य देते हैं, ऐसा करना ठीक नहीं है। छोटी-छोटी कक्षाओं के बालकों को कार्य न देना ठीक होता है। अवकाश के अवसर पर घर के लिये अधिक कार्य दे देने से अवकाश का महत्त्व कम हो जाता है।

पुस्तकालय

शिक्षा-क्षेत्र में पुस्तकालय अपना महत्त्व रखते हैं। केवल पाठ्य-पुस्तकें पढ़ने और व्याख्यान श्रवण करने से ही ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। पुस्तकालय का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिये कि उससे प्रत्येक विद्यार्थी लाभ उठा सके। पुस्तकालय में बालकों के ज्ञान स्तर की पुस्तकें होनी चाहिये। पुस्तकें ऐसी हों जिनसे विद्यार्थी रुचि के साथ पढ़ सकें। आजकल देखा जाता है कि अध्यापकगण अपने मनोरंजन के लिए पुस्तकें मंगाते हैं और पुस्तकालय में ऐसी ही पुस्तकों का संचय किया जाता है और विद्यार्थियों की भलाई का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता। यह ठीक नहीं है।

२६

विभिन्न प्रकार के कुछ पाठ

शिक्षा की अनेक विधियाँ बताई गयी हैं जो एक ही साध्य की अनेक साधनें है। इन विधियों का ज्ञान अध्यापक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा-क्षेत्र में बालक ही प्रधान है। अतएव उसकी रुचि का ध्यान रखना आवश्यक है। बालक को कभी कार्य-हीन नहीं रखना चाहिए। बालक को समाज में 'रहने की कला' सिखाना ही अध्यापक का उद्देश्य होना चाहिये। केवल पुस्तकीय शिक्षा से उसका व्यावहारिक जीवन असफल सिद्ध होगा। बालक को जो कुछ शिक्षा दी जाय उसे पहले पढ़ाये हुए पाठ से सम्बन्धित कर देना चाहिये और जो कुछ पढ़ाना हो उसका उद्देश्य पहले ही बता देना चाहिये अन्यथा बालक उसमें रुचि न लेंगे। इसके लिये आवश्यक है कि अध्यापक अपने पाठ को घर से अच्छी तरह तैयार करके आवें। मनुष्य के समक्ष कोई निश्चित उद्देश्य रहने पर वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अधिक रुचि से कार्य करता है। अतएव यह आदर्श विद्यार्थियों के समक्ष रखना अत्यन्त ही लाभदायक है।

अध्यापक को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए :

१. बालकों की अवस्था।

२. उनकी रुचि।

३. अध्यापन के लिये प्राप्त सामग्री।

४. आगे क्या करना है ?

५. आगे पढ़ाने के पूर्व यह आवश्यक है कि पूर्व पढ़े हुये पाठ से आवश्यक प्रश्न पूछकर अध्यापक यह ज्ञात कर ले कि विद्यार्थियों ने पढ़े हुये पाठ को भली-भाँति तैयार कर लिया है या नहीं, यदि उसे ज्ञात हो जाय कि विद्यार्थी अपने पाठ को तैयार करने में असफल है तो आगे पढ़ाना निरर्थक होगा। इतना करने के बाद अगले पाठ को पढ़ाना ठीक होता है।

अधिक भाग सरलता से वे सीख सकें। प्रोफेसर हीगस के अनुसार बालकों के समक्ष नया ज्ञान रखने की दो विधियाँ हैं : (१) व्याख्या के आधार पर पाठकों को स्पष्ट कर देना (२) सारी बातें कह कर निष्कर्ष निकालने के लिए बालकों को उत्साहित करना। नीचे हम यह बतलायेंगे कि ज्ञान-प्रधान पाठ का संचालन किस प्रकार करना चाहिये।

ज्ञान प्रधान पाठ का अध्ययन :

प्रस्तावना : विद्यार्थी की समझ-शक्ति को अध्यापक को पहिले ही समझ लेना चाहिये, अन्यथा वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं होगा, क्योंकि तब वह विद्यार्थियों की रुचि को जागृत नहीं कर सकेगा। पाठ्य-वस्तु का सम्बन्ध व्यावहारिक कार्यों से जोड़ने के लिए अध्यापक का कर्त्तव्य है कि बालकों के पूर्व ज्ञान से परिचित हों, किन्तु बालकों के पूर्व ज्ञान को समझने में अधिक समय लगा देना समय का दुरुपयोग करना होगा। अध्यापक को चाहिये कि कुछ प्रश्नों के द्वारा ही विद्यार्थियों के ज्ञान को समझ लें या अपने सहयोगियों से भी पूछ लें। प्रस्तावना के द्वारा पूर्व पाठ का अधिकान्शतः भाग अध्यापक विद्यार्थियों को आवृत्ति के रूप में समझा सकता है। इससे अगले पाठ का महत्त्व भी विद्यार्थी समझ लेते हैं।

उद्देश्य कथन : प्रस्तावना के बाद पाठ का उद्देश्य बता देना चाहिये। कुछ अध्यापक दो या तीन पृष्ठ पढ़ा देने में ही अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझ जाते हैं। किन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है। सम्भव है कि कुछ पाठों का उद्देश्य बताने में अध्यापक को कठिनाइयों का सामना करना पड़े, किन्तु कठिन पाठों का भी उद्देश्य बता देना असम्भव कार्य नहीं।

विषय-प्रवेश और आत्मीकरण : शिक्षक द्वारा आदर्श पाठ कर देने को विषय-प्रवेश और विस्तृत व्याख्या करने की क्रिया को आत्मीकरण कहते हैं। पाठ पढ़ाते समय अध्यापक को चाहिये कि विद्यार्थियों के ज्ञान का स्तर सदैव ध्यान में रखे। अपने पांडित्य के प्रदर्शन के लिए ऐसी बात न कही जाय जिसे विद्यार्थी न समझ सकें। अध्यापक को यह ध्यान रखना चाहिये कि पढ़ाया जाने वाला पाठ विद्यार्थियों का होता है न कि अध्यापकों का। अतएव अपने

चाहिए। इसके पश्चात् बालक सभी क्रियायें कर लेते हैं। मन्द बालकों पर पथ-प्रदर्शन के समय अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अभ्यास : कार्य-विधि समझने के पश्चात् बालकों के लिए अभ्यास करना आवश्यक है। किन्तु अभ्यास पर अधिक समय देना आवश्यक नहीं है। अभ्यास के समय अध्यापक का कार्य विद्यार्थियों के कार्यों का निरीक्षण करना है। कौशल के पाठ में बालकों को अपनी उन्नति भी जान लेना आवश्यक है। इससे उनका उत्साह बढ़ जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि विद्यार्थियों की योग्यता के अनुकूल ही कार्य लिया जाय, अन्यथा विद्यार्थी हतोत्साह हो जायेंगे।

त्रुटि संशोधन : त्रुटि-संशोधन का अपना महत्त्व है। अध्यापक का बहुत कुछ समय इस कार्य में लग जाता है, किन्तु उन्हें इससे चिन्तित नहीं होना चाहिए। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि उनके संशोधन पर विद्यार्थी ध्यान नहीं देते और अध्यापक को अपना परिश्रम व्यर्थ जान पड़ता है। इससे अध्यापक हतोत्साह होकर त्रुटियों का संशोधन करना स्थगित कर देते हैं। अध्यापकों द्वारा ऐसा व्यवहार करना उनकी योग्यता का परिचायक नहीं है। अध्यापकों को चाहिये कि हतोत्साह न होकर त्रुटि-संशोधन में लगे रहें और एक समय आयेगा जब कि उनके परिश्रम का यथोचित फल मिलेगा। त्रुटि संशोधन के लिए आवश्यक है कि संशोधन शीघ्र किया जाय, और विद्यार्थी उसका अभ्यास करें। अभ्यास के समय शिक्षक का उपस्थित रहना भी आवश्यक है। आलोचना से भी बहुत कुछ अशुद्धियाँ दूर की जा सकती हैं। इससे आलोचक और आलोच्य दोनों को लाभ होता है।

कौशल के पाठ में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए

१. केवल अभ्यास से ही किसी बात को नहीं सीखा जा सकता। इसके लिए विधियों पर भी ध्यान देना चाहिये।

२. किसी पाठ को सीखने के लिए उसमें रुचि का होना अत्यन्त ही आवश्यक है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार रुचि के अभाव में भी अभ्यास द्वारा पाठ सीखा जा सकता है। किन्तु सत्य यह है कि किसी एक से भी उद्देश्य

वातावरण उत्पन्न कर लेना विद्यार्थी और अध्यापक दोनों के लिए हितकर होगा। पढ़ाये जाने वाले नये पाठ का सम्बन्ध पूर्व पाठ से जोड़ देना चाहिए। अलंकारों और कठिन शब्दों को स्पष्ट करना अत्यन्त ही आवश्यक है। अच्छा होगा यदि एक दिन पूर्व ही कठिन शब्दों का अर्थ बता दिया जाय। शब्दों का अर्थ बताना और रसानुभूति कराना एक साथ सम्भव नहीं। यदि ऐसा नहीं किया जायगा तो रसानुभूति का स्थान गौण हो जायगा। यदि बालक थके होंगे तो पाठ को भली-भाँति समझ न सकेंगे। यदि पाठ प्रकृति से सम्बन्धित हैं तो उद्यान या खुले मैदान या नदी के तट पर विद्यार्थियों को ले जाना अच्छा होगा। यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो कक्षा में ही फूल-पत्ती द्वारा कृत्रिम साधन उपलब्ध होना चाहिए। इस सजावट की अधिकता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि तब बालक का ध्यान पाठ से हटकर उन्हीं चित्रों की ओर चला जायगा।

विषय-प्रवेश : विषय-प्रवेश की समस्या अत्यन्त ही कठिन है। इसके लिए अध्यापकों को कठिन भावों का अभिनय करना चाहिये। ऐसी दशा में विद्यार्थियों पर उसका प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा। यदि बालक भाव-प्रकाशन में संकोच करते हैं तो उन्हें विवश करना अहितकर होगा। लेखकों और कवियों का तुलनात्मक अध्ययन भी लाभदायक होगा।

अभ्यास : कुछ लोगों का कथन है कि जो लोग कविता करते या स्वयं चित्र बनाते हैं वे लोग औरों की अपेक्षा रसास्वादान अधिक कर लेते हैं। कुछ अंश तक तो यह बात ठीक भी है। अत: इसके लिए आवश्यक है कि विद्यार्थियों को कविता लिखने और चित्र बनाने के लिए उत्साहित किया जाय।

सारांश

विभिन्न शिक्षा-विधियाँ एक ही साध्य के अनेक साधन हैं। बालक के स्वभाव पर ध्यान देना। बालक 'करने' से ही सीखता है। पाठ का उद्देश्य बता देना आवश्यक है।

ज्ञान का विकास :

पाठ्य वस्तु का भावी जीवन से सम्बन्ध

प्रस्तावना : बालक के ज्ञान स्तर को समझ लेना और उसमें रुचि उत्पन्न कर देना।

२७

पाठ-समालोचना

गत अध्यायों में हमने यह समझने का प्रयत्न किया है कि अध्यापन में सफलता के लिये अध्यापक अथवा छात्राध्यापक को किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिये। प्रस्तुत अध्याय में हम यह समझेंगे कि ट्रेनिङ्ग कालेज द्वारा नियुक्त आलोचक (अथवा प्रिन्सीपल या विद्यालय निरीक्षक) अध्यापन की जाँच में किन-किन बातों को देखता है। इन बातों के ज्ञान से कक्षा-शिक्षण और सफल बनाया जा सकता है। अतः हम इसी ओर नीचे आ रहे हैं।

छात्राध्यापक के पाठ की समालोचना के लिए ट्रेनिङ्ग कालेज द्वारा नियुक्त एक आलोचक भी रहता है। आलोचक छात्राध्यापक के अध्यापन-सम्बन्धी गुण-दोषों का विवेचन करता है और उसका एक लेखा वह समालोचना-पुस्तिका में अंकित कर देता है। प्रायः यह देखा जाता है कि छात्राध्यापक कक्षा में आलोचकों की उपस्थिति से बड़ा ही घबड़ाते हैं। उनका ऐसा घबड़ाना उनमें आत्म-विश्वास की कमी का द्योतक है। दूसरे, इस प्रकार के घबड़ाने से सारे पाठ के बिगड़ जाने का भय रहता है। अच्छा यह होगा कि छात्राध्यापक आलोचक की उपस्थिति का अनुभव ही न करें। आलोचक उनकी कक्षा में कब आता है और वहाँ से वह कब जाता है इसकी चिन्ता कभी छात्राध्यापक को करना ही नहीं चाहिये। इसकी चिन्ता न करने से ही उसमें आत्म-विश्वास सदा बना रहेगा।

यदि आलोचक छात्राध्यापक को किसी दोष की ओर संकेत कर देता है तो इससे भी वह (छात्राध्यापक) बड़ा घबड़ा जाता है। वस्तुतः छात्राध्यापक को यह ध्यान रखना है कि आलोचक उसका सहायक है, न कि परीक्षक। अतः वह जो कुछ दोष निकालता है उसका प्रयोजन छात्राध्यापक में सुधार लाने का ही रहता है। अच्छा यह होगा कि छात्राध्यापक अपने दोषों को दूर करने की

१५. यदि प्रस्तावना पिछले पाठ पर निर्धारित थी तो क्या छात्रों के उत्तर से यह जान पड़ता था कि उन्होंने गत पाठ को अच्छी प्रकार याद कर लिया है ?

१६. क्या प्रस्तावना और उद्देश्य-कथन का सम्बन्ध स्वाभाविक था ?

इस सम्बन्ध का न होना पाठ-नियोजन की कमजोरी का द्योतक है।

१७. क्या उद्देश्य-कथन स्पष्ट था ?

१८. उद्देश्य-कथन से पाठ के प्रति छात्रों का आकर्षण नष्ट तो नहीं हुआ ?

उदाहरणार्थ, व्याकरण के पाठ में इसमें बड़ी सतर्कता रखनी चाहिए।

१९. क्या उद्देश्य-कथन के बाद बिना समय नष्ट किये पाठ का आरम्भ सुचारु रूप से किया गया ?

उद्देश्य-कथन के बाद पाठ के आरम्भ करने में छात्राध्यापक कभी-कभी उलझ जाते हैं। इससे बचना चाहिये।

२०. क्या छात्राध्यापक का आदर्श-वाचन वास्तव में आदर्श था ?

वाचन को आदर्श बनाने के लिए छात्राध्यापक को इसका घर पर पर्याप्त अभ्यास करना चाहिए।

२१. क्या छात्रों ने अच्छी प्रकार सस्वर-वाचन किया ?

२२. क्या छात्रों में स्वर-वाचन का वितरण सन्तोषजनक था ?

२३. क्या वाचन में छात्राध्यापक छात्रों की उचित गतियों, स्वर के उतार-चढ़ाव तथा भाव-भङ्गिमा पर आवश्यक ध्यान देता था ?

२४. क्या वाचन-सम्बन्धी त्रुटियों के सुधार में छात्रों से आवश्यक सहयोग लिया गया ?

बहुधा छात्राध्यापक-गण त्रुटियों का सुधार स्वयं कर देते हैं, यह ठीक नहीं है।

२५. क्या व्याख्याओं के देने में छात्राध्यापक ने छात्रों से सहयोग लिया ?

२६. कठिनाइयों के निवारण तथा पाठ्य-वस्तु को छात्रों को समझाने के लिए क्या उचित विधियों का सहारा लिया गया ?

२७. पाठ की किसी विशेषता के कारण कुछ अवांछित युक्तियों का सहारा तो नहीं लिया गया।

४८. क्या छात्रों के प्रश्न से यह जान पड़ता था कि वे पाठ में रुचि ले रहे हैं ?

४९. क्या छात्राध्यापक छात्रों के प्रश्नों का उत्तर सन्तोषजनक रूप से देता था ?

५०. क्या प्रश्नों के उत्तर निकलवाने में छात्राध्यापक ने छात्रों से भी सहायता ली ? क्या इस कार्य में उसे सफलता मिलती थी ? क्या इससे छात्राध्यापक छात्रों से सहानुभूति दिखलाता था ?

५१. क्या छात्राध्यापक द्वारा दिये गये विवरण, व्याख्या और वर्णन रोचक और उपयुक्त थे ? वे छात्रों पर बलपूर्वक तो नहीं लादे गये ? वे अधिक लम्बे तो नहीं थे ? क्या वे अपना प्रयोजन सिद्ध करते थे ?

५२. क्या श्यामपट का उपयोग उचित अवसर पर किया गया ? क्या यह उपयोग पर्याप्त था ?

५३. क्या श्यामपट पर लिखते समय उसे पढ़ते जाने का छात्राध्यापक ने ध्यान रखा ? ऐसा करने से छात्र साथ-साथ लिखते जाते हैं और उनका ध्यान बँधा रहता है।

५४. श्यामपट पर लिखते समय क्या छात्राध्यापक के खड़े होने का ढंग ठीक था ?

५५. क्या श्यामपट पर लिखते समय छात्राध्यापक जब-तब कक्षा की ओर दृष्टि डाल देता था ?

५६. क्या श्यामपट-कार्य सुन्दर और सुव्यवस्थित था ?

५७. क्या श्यामपट पर लिखे हुये अक्षर स्पष्ट, सुन्दर और काफी बड़े थे ?

५८. क्या श्यामपट-सारांश बनाने में छात्रों से उचित सहयोग लिया गया ?

५९. क्या छात्र श्यामपट के कार्य से अपनी नोट-बुक में आवश्यक बातें लिखते जाते थे।

६०. क्या छात्रों को भी श्यामपट के प्रयोग का उचित अवसर दिया गया ?

७७. क्या पठ्य-वस्तु का सम्बन्ध अवसर के अनुसार छात्रों की सामाजिक आवश्यकता से जोड़ा गया ?

७८. क्या अन्य ग्रन्थों से उपयुक्त उद्धरणों का प्रयोग किया गया ?

७९. क्या उपयुक्त उदाहरणों द्वारा पाठ को रोचक बनाया गया ?

८०. क्या पुनरावृत्ति से छात्रों के सामने पाठ की एकता स्पष्ट हो गई ?

८१. पुनरावृत्ति के समय क्या छात्रों के उत्तर से स्पष्ट होता था कि उन्होंने पाठ को अच्छी प्रकार समझ लिया है ?

८२. पुनरावृत्ति का आकार पर्याप्त तो था ? वह अत्यधिक छोटी अथवा बड़ी तो नही थी ?

८३. क्या कक्षा में अभ्यास-कार्य कराया गया ? अभ्यास-कार्य पर्याप्त तो था ? क्या उसमें छात्रों ने समुचित रुचि ली ?

८४. क्या छात्राध्यापक ने छात्रों से व्यक्तिगत सहायता ली ?

८५. क्या छात्रों के उत्तर और कार्य से यह स्पष्ट होता था कि उन्हें समस्या सुलझाने की विधि ज्ञात है ?

८६. क्या आज के पाठ के सम्बन्ध में छात्राध्यापक ने पर्याप्त रूप से यह समझाया कि स्वाध्याय कैसे करना चाहिए ?

८७. यदि छात्राध्यापक ने आज के पाठ के बाद निरीक्षित स्वाध्याय[1] कराया तो क्या छात्र उसमें अपने नये सीखे हुए ज्ञान का उपयोग कर सके ?

८८. क्या उद्देश्य-कथन, आज के पाठ तथा गृहकार्य में स्वाभाविक सम्बन्ध था ?

८९. क्या दिया हुआ गृहकार्य पढ़ाये हुये पाठ को और पुष्ट कर सकेगा ?

९०. गृहकार्य इतना तो नहीं है कि उसे छात्र कर ही न पावे ?

९१. अपने अध्यापन में आज छात्राध्यापक ने सामान्यतः किस पद्धति का प्रयोग किया ? क्या यह पद्धति पाठ के उपयुक्त थी ?

९२. आज के पाठ का उद्देश्य क्या था ? क्या पाठ नियोजन इस उद्देश्य के अनुरूप था ? क्या छात्राध्यापक ने इस उद्देश्य को पूरा किया ?

---

1. Supervised study.

१०८. आज के पाठ के विभिन्न पदों में समुचित अनुपात तो रहा ? क्या किसी पद पर अत्यधिक ध्यान दिया गया और दूसरे पर कम ?

१०९. पाठ का प्रभाव समालोचक पर कैसा पड़ा ?

११०. पाठ का सबसे अधिक रोचक और आकर्षक पहलू क्या था ?

१११. अध्यापन में सुधार के लिए किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए ?

उपर्युक्त प्रश्नों को और भी लम्बा बनाया जा सकता है और प्रत्येक प्रश्न में और कई उप-प्रश्न बनाये जा सकते हैं। परन्तु इन प्रश्नों की सख्या काफी अधिक हो गई है। इनके आधार पर छात्राध्यापक अन्य प्रश्नों और उप-प्रश्नों की कल्पना सरलता से कर सकते हैं। इस कल्पना के सहारे वे अपनी शिक्षण-कला को और अधिक परिष्कृत कर सकते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट हैं। इन प्रश्नों से यह प्रकट होता है कि अपनी शिक्षण-कला को प्रौढ़ बनाने के लिए छात्राध्यापक को किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए। अच्छा होगा यदि कक्षा में जाने के पूर्व छात्राध्यापक नित्य इन प्रश्नों का पाठ कर लिया करें। इससे आवश्यक बातें सदा उनके ध्यान में बनी रहेंगी। यह याद रखना चाहिए कि कक्षा-शिक्षण एक कला है और यह कला अभ्यास से और परिष्कृत बनाई जा सकती है। अतः अभ्यास करने से छात्राध्यापकों को न चूकना चाहिए।

अगले अध्याय में पाठ-नियोजन सम्बन्धी कुछ बातों को समझाया जायगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. पाठ-समालोचना में किन-किन बातों पर विशेषतः ध्यान दिया जाता है ?

२. कक्षाध्यापन में सफलता प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए ?

नोट—इस अभ्यास में प्रायः सभी बातें अति संक्षेप में सूत्र-रूप से दी गई हैं। अतः इस अध्याय का सारांश देना अनावश्यक समझा जाता है।

"तत्त्व"[1] के अन्तर्गत पाठ्य-वस्तु के केवल तत्त्व की ही ओर संकेत होना चाहिए। तत्त्व की ओर संकेत कर देने के बाद यह दिखलाना चाहिए कि उस तत्त्व को छात्रों को किन विधियों से समझाया जायगा। जो अध्यापक जितना ही अधिक उपयुक्त अध्यापन-विधियों[2] की कल्पना कर पाता है उसका अध्यापन उतना ही सफल होता है। हाँ यह सत्य है कि सभी अध्यापन-विधियों की कल्पना एक साथ ही नहीं की जा सकती क्योंकि अध्यापन के क्रम में कुछ ऐसी समस्याएँ अथवा बातें अवश्य उपस्थित होंगी जिनके अनुसार उसी समय अध्यापन-विधि के बारे में सोचा जा सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अध्यापक पहले से ही अध्यापन-विधियों के बारे में सोचे। जो तत्त्व हमारे सामने हैं और जिन्हें हमें छात्रों के सामने रखना है उनके बारे में अध्यापन-विधियों का पहले ही सोच लेना अत्यन्त आवश्यक है। पाठ की तैयारी अथवा पाठ-नियोजन का तात्पर्य ही यह है कि अध्यापक पहले से ही अधिक से अधिक उपयुक्त अध्यापन-विधियों की कल्पना कर ले।

पाठ-नियोजन का आकार

कुछ छात्राध्यापकों की धारणा होती है कि पाठ-सूत्र को लम्बा बनाया जाय तो अच्छा है। वस्तुतः यह धारणा एकदम गलत है। पाठ-सूत्र छोटे से छोटा होना चाहिए परन्तु वह अपर्याप्त न हो। पाठ-सूत्र में तत्त्व-सम्बन्धी सभी आवश्यक बातों की ओर अति संक्षेप में संकेत होना चाहिए, और अध्यापन-विधियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख होना चाहिए। अध्यापन-विधियों के उल्लेख का अर्थ यह नहीं है कि केवल दो-तीन प्रश्नों को ही लिख दिया जाय। अध्यापन-विधियों का उल्लेख इस क्रम से करना चाहिए कि उनकी सहायता से छात्रों से सभी अपेक्षित ज्ञान अथवा बातें निकाली जा सकें।

अन्वितियाँ[3]

किसी भी पाठ को दो या तीन अन्वितियों में विभाजित करके पढ़ाना चाहिए, क्योंकि इससे छात्रों को कई प्रकार की बातें सुनने और करने को मिल जाती हैं और फलतः उनका मन जल्दी नहीं ऊबता। उदाहरणार्थ; यदि

1. Matter. 2. Teaching Devices. 3. Units.

को छात्रों के सामने टाँग देना एकदम गलत है, क्योंकि इससे बालकों को कुछ सोचने का अवसर नहीं मिलता और इसमें यह डर रहता है कि कदाचित् बहुत सी बिना समझी हुई बातें ही वे नकल कर लेते हैं। पढ़ाने के क्रम में ही श्यामपट्ट-सारांश को देते जाना एकदम गलत है। बहुत से अध्यापक ऐसा करते देखे जाते हैं। इस विधि की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है, क्योंकि इससे छात्रों की विचार-प्रक्रिया[1] में बड़ी बाधा पड़ती है। इस विधि में छात्रों का प्रयास श्यामपट्ट पर दी हुई बात को पूरा-पूरा लिख लेना होता है—चाहे उसे वे समझें या न समझें। स्पष्ट है कि इस लिखने के प्रयास में उनकी विचार-प्रक्रिया एकदम ठप्प हो जाती है, और कई स्थलों पर बिना कुछ समझे ही वे श्यामपट्ट की बातें लिखते जाते हैं। यदि प्रत्येक अन्विति के बाद में छात्रों की सहायता से श्यामपट्ट-सारांश निकलवाया जाता है तो इससे छात्रों की विचार-प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस विधि में पाठ को समझ लेने के बाद ही वे श्यामपट्ट-सारांश पर आते हैं। दूसरे, इस विधि में उनकी रुचि भी कुछ अधिक बनी रहती है, क्योंकि इसमें उन्हें दो या तीन बार लिखने का अवसर मिलता है और हर समय अध्यापक की बात को सुनते ही रहना अथवा प्रश्नों का उत्तर ही नहीं देना होता। कार्य-परिवर्तन से रुचि के बने रहने में सहायता मिलती है—यह एक मनोवैज्ञानिक नियम है। अतः प्रत्येक अन्विति के अन्त में श्यामपट्ट-सारांश निकलवाना अधिक उपयुक्त होगा।

श्यामपट्ट-सारांश का रूप बहुत विस्तृत नहीं होना चाहिए। इसमें सभी तत्त्व आ जाएँ, परन्तु विस्तार न बढ़ने पावे। विस्तार को कम करने के लिए यदि वाक्यों को पूर्ण न लिखा जाय तो कोई हर्ज नहीं। श्यामपट्ट-सारांश में यथासम्भव प्रत्येक स्वतन्त्र विचार के लिए एक स्वतन्त्र पैराग्राफ होना चाहिए। श्यामपट्ट-सारांश की लिखावट स्पष्ट और सुन्दर अक्षरों में होनी चाहिए। श्यामपट्ट-सारांश लिखते समय अध्यापक यदि शब्दों को बोलता जाता है तो इससे छात्रों को बड़ी सुविधा होती है। इससे न दिखलाई पड़ने वाले शब्दों को वे पकड़ लेते हैं; दूसरे इससे उनका ध्यान भी बँधा रहता है।

---

1. Thinking-process.

अतः हमारी यह निश्चित धारणा है कि अध्यापक किसी की बतलाई हुई प्रणाली को ही न माने। वस्तुतः उसे वही प्रणाली माननी चाहिए जो उसे सबसे उपयुक्त जान पड़े और इसलिए किसी भी विधि को अपनाने के लिए हम उसे पूरी स्वतन्त्रता देते हैं। परन्तु वह जो कुछ भी स्वतन्त्रता ले उसका वह प्रमाण द्वारा मण्डन करने के लिए सदा तैयार रहे। परन्तु जब हम हरबार्ट के पदों का अनुसरण करना ही किसी पाठ में अधिक उपयुक्त समझते हैं तो हमारे पाठ नियोजन का अन्तिम पद 'प्रयोग' होना चाहिए, न कि 'गृहकार्य' अथवा 'एसाइनमेण्ट'। किसी बात को पढ़ा देने के बाद उसमें हम प्रयोग करवाते हैं अर्थात् उसमें बालकों को हम अभ्यास देते हैं, जिससे वह बात छात्रों के मन में अच्छी तरह जम जाय। हाँ, यह हो सकता है (जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं) कि इस 'प्रयोग' के अन्तर्गत हम कभी 'गृहकार्य' अथवा कोई 'एसाइनमेण्ट' दे दें, परन्तु यह 'गृहकार्य' अथवा 'एसाइनमेण्ट' 'प्रयोग' का ही एक अङ्ग है, न कि हमारे पाठ-नियोजन का कोई एक स्वतन्त्र पद। अतएव पाठ-नियोजन में हमें 'प्रयोग' शब्द का ही व्यवहार करना चाहिए, जब तक हम किसी अपनी नई विधि का अनुकरण करने के लिए तैयार नहीं हो जाते।

सस्वर तथा मौन पाठ

कुछ अध्यापक यह निर्णय नहीं कर पाते कि गद्य अथवा पद्य के पाठ में छात्रों से 'सस्वर पाठ'[1] तथा 'मौन पाठ'[2] कब कराना चाहिए। इस सम्बन्ध में किसी निश्चित नियम का ही पालन करना गलत है। इसमें जब जैसा अवसर आये तब तैसा करना चाहिए। अध्यापक की कुछ सहायता के लिए यहाँ यह कहा जा सकता है कि छोटी कक्षाओं में सस्वर पाठ पर अधिक बल देना चाहिए, क्योंकि छोटे बालकों को शुद्ध उच्चारण तथा दूसरे के सामने बोलने और पढ़ने में अधिक अभ्यास देना चाहिए। बड़ी कक्षाओं में भी इसकी आवश्यकता अवश्य है परन्तु अपेक्षाकृत कम है। मौन पाठ का स्थान विषय को समझने के क्रम में आता है। अतः बोध-परीक्षा अथवा पुनरावृत्ति के पूर्व मौन पाठ का स्थान है। सस्वर पाठ के पूर्व भी कभी-कभी मौन पाठ आवश्यक हो सकता है, जिससे

---

1. Reading Aloud. 2. Silent Reading.

विचार कर सकेंगे। उन्हें आगे विचार करने के लिए अभिप्रेरित करना ही हमारा यहाँ उद्देश्य है।

सारांश

पाठ-नियोजन में प्रत्येक अध्यापक को स्वतन्त्रता।

शिक्षण-विधियों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

पाठ-नियोजन का आकार बड़ा न हो।

पाठ अन्वितियों में विभाजित हो।

श्यामपट्ट-सारांश प्रत्येक अन्विति के अन्त में दिया जाय।

'प्रयोग' शब्द का प्रयोग किया जाय; 'गृहकार्य' अथवा 'एसाइनमेण्ट' का नहीं।

सस्वर तथा मौन पाठ परिस्थिति के अनुसार देना चाहिए।

गलत उच्चारण का संशोधन अवसर और परिस्थिति के अनुसार करना चाहिए।

पाठ-नियोजन में किसी निश्चित नियम का ही पालन करना आवश्यक नहीं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. पाठ-नियोजन में किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए?

२. श्यामपट्ट-सारांश कब और कैसे निकलवाना चाहिए?

३. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखो:

प्रयोग, सस्वर और मौन पाठ, गलत उच्चारण को शुद्ध करना।

कूबड़ निकल आते थे, नेत्र शक्ति क्षीण हो जाती थी, आये दिन बीमारियों के चंगुल में फँसे रहते थे। अन्त में परिणाम यह होता था कि अपने अर्जित ज्ञान से स्वयं अथवा समाज को पूर्णतया लाभान्वित करने के पूर्व ही वे काल-कवलित हो जाते थे।

आज की जनतन्त्रात्मक शिक्षा-व्यवस्था के अनुसार विद्यार्थियों अर्थात् भावी नागरिकों के सर्वांगीण विकास का उत्तरदायी विद्यालय को बनाया गया है। अतः यह विद्यालय का कर्त्तव्य है कि वह बालकों के शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विकास की आवश्यक व्यवस्था करके उन्हें कुशल नागरिक बनावे।

विद्यालय में बालकों को परिश्रम करना पड़ता है। वे अधिक संख्या में एक ही कमरे में बैठे रहते हैं। एक ही प्रकार के कार्य करने से कुछ ऐसे अवयव हैं जिन पर लगातार बल पड़ता रहता है। इससे वे बहुत थक जाते हैं। साथ ही अन्य अवयवों का अभ्यास न होने से वे कमजोर हो जाते हैं। व्यायाम द्वारा कमजोर अवयवों को मजबूत बनाया जा सकता है और अत्यधिक थके हुए अंगों को कुछ आवश्यक विश्राम भी दिया जा सकता है।

यदि हम शारीरिक व्यायाम के प्रभावों पर विचार करें तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जायगा कि शिक्षा में व्यायाम को अनिवार्य रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। शारीरिक व्यायाम के प्रभाव दो रूपों में मिलते हैं। प्रथम को हम शारीरिक तथा द्वितीय को शिक्षात्मक कह सकते हैं। शारीरिक प्रभावों के पुष्टिकर[1], सुधारात्मक[2] तथा विकासात्मक[3] तीन रूप निश्चित किए जा सकते हैं। जहाँ तक शिक्षात्मक प्रभाव का सम्बन्ध है, व्यायाम द्वारा बालकों में विचार-शीलता, दृढ़ता, स्फूर्ति, त्वरित निर्णयात्मकता, अनुशासन-प्रियता, आत्म-निर्भरता तथा सहयोग आदि सद्गुणों से सम्बन्धित भावनाओं का विकास होता है। अतः व्यायाम-शिक्षा को विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान देना अत्यन्त आवश्यक है।

यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने भी शिक्षा-क्षेत्र में व्यायाम को महत्त्व-पूर्ण स्थान प्रदान किया था और अन्य देशों में भी इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया जा चुका है।

---

1. Nutritive. 2. Corrective. 3, Development.

शक्ति स्फूर्ति उत्पन्न कर लेते हैं। परन्तु व्यायाम के उद्देश्य की पूर्ति इतने से ही नहीं हो पाती। इस डण्ड-बैठक से कभी-कभी उनका पेट निकल आता है। शरीर भद्दा हो जाता है। कोई अवयव अत्यधिक विकसित हो जाता है और कोई समुचित विकास का अवसर न पाने के कारण निर्बल तथा शिथिल पड़ जाता है। अतः अध्यापकों को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि व्यायाम इस प्रकार के हों जिससे शरीर के प्रत्येक अवयव को क्रमिक विकास का समुचित अवसर मिलता रहे और शरीर संतुलित, सुगठित और सुन्दर बन सके। व्यायाम द्वारा शरीर की विकृतियों को दूर करने का भी प्रयास करना चाहिए। व्यायाम की समुचित शिक्षा द्वारा ही शरीर के विभिन्न अवयवों का संतुलित विकास हो सकेगा और वे पुष्ट होते रहेंगे तथा उनमें अपने कार्यों के करने की क्षमता और कुशलता आयेगी।

२. व्यायाम सम्बन्धी स्थायी आदतों की उत्पत्ति :

व्यायाम के प्रथम उद्देश्य से प्राप्त लाभों को अक्षुण्ण बनाए रखना ही इसका दूसरा उद्देश्य है। जितना कठिन शरीर को पुष्ट, संतुलित तथा स्वस्थ बनाना है उससे अधिक कठिन है उसके स्वास्थ्य की रक्षा करना। अतः प्राप्त की हुई शक्ति की रक्षा करना ही व्यायाम का दूसरा उद्देश्य होना चाहिए। इसकी पूर्ति हेतु अध्यापकों को चाहिए कि वे बालकों में व्यायाम के प्रति ऐसी रुचि उत्पन्न करें कि व्यायाम करना उनकी स्थायी आदत हो जावे और वे आजीवन पालन करते रहें जैसे फुटबॉल या वॉलीबॉल के खेल में बालक की इस प्रकार रुचि उत्पन्न कर देनी चाहिए कि वह विद्यालय छोड़ने के पश्चात् भी इन खेलों में भाग लेता रहे। इस प्रकार उसके द्वारा अर्जित शक्ति की रक्षा होती रहेगी और व्यक्ति सदैव व्यायाम के लाभों को पाता रहेगा। यदि विद्यालय में व्यायाम के इस उद्देश्य की अवहेलना की गई तो व्यायाम-शिक्षा का परिणाम केवल उसके विद्यार्थी जीवन तक ही सीमित रह जावेगा।

३. वैयक्तिक गुणों का विकास :

विद्यालय और व्यायाम शीर्षक के अन्तर्गत हम यह बता चुके हैं कि व्यायाम का एक पहलू शारीरिक तथा दूसरा शिक्षात्मक होता है। अतः व्यायाम के उद्देश्य की पूर्ति में अध्यापकों को चाहिए कि इस शिक्षात्मक पहलू पर भी

साथ-साथ बालकों में शारीरिक विकृतियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि उनके समुचित रूप में बैठने तथा चलने आदि के कारण कूबड़ निकल आता है, पाँव टेढ़े हो जाते हैं, वक्ष सिकुड़ जाता है और मांस पेशियों में शिथिलता आ जाती है। इन बुराइयों को दूर करने तथा उनके अंग प्रत्यंग को समुचित रूप में विकसित करने के लिए उन्हें स्वस्थ, सुन्दर, चपल, अनुशासनप्रिय तथा क्रियाशील बनाने के लिए ड्रिल करना आवश्यक है। ड्रिल द्वारा व्यायाम के शारीरिक एवं शिक्षात्मक दोनों उद्देश्यों की पूर्ति होती है। यहाँ तक कि इसके द्वारा बालकों में विद्यमान शारीरिक विकृतियों को विशेष रूप में ध्यान देने से दूर किया जा सकता है। मार्चिंग से वे उचित रूप में अंग संचालन की क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उन्हें उचित ढंग से चलने, फिरने, उठने, बैठने तथा हँसने व बोलने की शिक्षा मिलती है। जिमनास्टिक द्वारा रक्त-संचालन समुचित रूप में होता है। इसके प्रभाव से बालकों में सहज सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। उनका चेहरा कान्तिमय रहता है और शरीर के समस्त अवयवों का समुचित रूप में विकास होता है।

अन्य विषयों की भाँति अध्यापक को इस विषय में भी मनोवैज्ञानिकता का पूर्ण पालन करते हुए पाठ संकेतों का निर्माण कर लेना चाहिए। पाठ के प्रथम सोपान अर्थात् प्रस्तावना में वह ड्रिल-सम्बन्धी वे क्रियाएँ, जो विषय के प्रति बालक में उत्सुकता उत्पन्न करते हुए पाठ का प्रारम्भ करती हैं, ले सकता है। जैसे, एक पंक्ति में खड़ा होना, एक ओर चलना, धीरे-धीरे दौड़ना, पुनः चलते-चलते दूसरी ओर घूम जाना इत्यादि।

मूल पाठ के अन्तर्गत उन व्यायामों को रक्खा जा सकता है जिनसे शरीर के अवयवों को समुचित विकास का आकार प्राप्त होता है। जैसे, हाथ, पाँव, गर्दन, कमर, पेट तथा वक्ष आदि की कसरत करना। इनके अतिरिक्त स्फूर्ति-दायक अन्य कसरतें भी करानी चाहिए। इस प्रकार १५, २० मिनट तक का व्यायाम ही बालकों के समुचित शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए समीचीन होगा परन्तु इन व्यायामों को कराते समय अध्यापक को बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। यदि कोई व्यायाय किसी बालक द्वारा अनुचित रूप में किया गया तो उससे लाभ के स्थान पर हानि की अधिक सम्भावना है।

नीची कक्षा के सभी बालकों को एक साथ मिल कर खेलने के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। टीमों के निर्माण में केवल खेल-सम्बन्धी योग्यता को वरीयता देनी चाहिए।

व्यायाम तथा खेल के सामान

व्यायाम के लिए प्रत्येक विद्यालयों में एक व्यायामशाला का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त व्यायाम-सम्बन्धी छोटे बच्चों तथा बड़े विद्यार्थियों के काम आने वाले उपकरणों के सुरक्षापूर्वक रखने की भी समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। इसी प्रकार खेलों के सामानों के रखने का भी एक अलग कक्ष होना उपयुक्त होगा। इसी में व्यायाम-सम्बन्धी उपयुक्त सामान रक्खे जा सकते हैं। एक अध्यापक को इसका अधीक्षक निर्वाचित कर लेना चाहिए तथा विद्यालय का एक छात्र समस्त खेलों का कैप्टेन हो। इसके अतिरिक्त विभिन्न टीमों के अलग अलग कैप्टेन बनाए जा सकते हैं। सामानों का रख-रखाव इन्हीं के सिपुर्द होना चाहिए। इस प्रकार उनमें उत्तरदायित्व के वहन करने की क्षमता आवेगी।

ग्रामीण विद्यालयों में तो खेल के लिए मैदान सुगमतापूर्वक मिल सकते हैं परन्तु नगर के विद्यालयों के लिए यह एक समस्या हो जाती है। विद्यालय-भवन निर्माण के पूर्व ही इस समस्या का समाधान खोज लेना उपयुक्त होता है। नगरों में यदि छोटा सा क्रीडांगन मिल जावे तो कक्षानुसार या टीम के अनुसार बारी-बारी से सभी बालकों को खेलने का अवसर प्रदान किया जा सकता है।

खेल-सम्बन्धी सामानों के क्रय के लिए साल के प्रारम्भ में ही एक राशि निश्चित कर लेनी चाहिए। उसी से ये सामान खरीदे जावें तथा सम्बन्धी अन्य खर्च भी उसी धन से किये जावें।

सारांश

शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता :

बालकों का शारीरिक, मानसिक, एवं सामाजिक अर्थात् सर्वांगीण विकास करना शिक्षा का प्रमुख ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति में शारीरिक व्यायाम का

खेल में बालकों का व्यायाम हो जाता है। यह व्यायाम की बड़ी ही मनोवैज्ञानिक पद्धति है। इन खेलों में फुटबॉल, वालीबॉल, हॉकी, कबड्डी आदि आते हैं।

व्यायाम तथा खेल के सामान :

एक अध्यापक को इस कार्य के लिए निर्वाचित कर लेना चाहिए वह व्यायाम तथा खेल के सामानों के प्रबन्ध हेतु प्रत्येक टीम से एक एक विद्यार्थी को चुन लेगा तथा एक विद्यार्थी स्कूल का कैप्टेन बना दिया जाय। स्कूल में व्यायामशाला का प्रबन्ध किया जाय। व्यायाम तथा खेल के सामानों का रख-रखाव टीम के कैप्टेनों के हाथ तथा कैप्टेन और अध्यापक की देख रेख में हो।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. जीवन में शारीरिक व्यायाम का क्या महत्त्व है ?
२. विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास में व्यायाम से कहाँ तक सहायता प्राप्त हो सकती है ?
३. वर्तमान विद्यालयों में व्यायाम और खेलों का कौन सा रूप प्रचलित है ?
४. खेलों की महत्ता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–१ इं० लम्बा तथा १ इं० चौड़ा छात्र खानों की लम्बाई एवं चौड़ाई नाप कर बनावेंगे। छात्रों को बता दिया जाय कि १ इं० लम्बे एवं १ इं० चौड़े खाने को १ वर्ग इं० कहते हैं।

प्रारम्भ में चित्र सही नाप में प्रस्तुत करने चाहिए, धीरे-धीरे बड़े क्षेत्रों के चित्र बनाने के लिए पैमाने का प्रयोग भी सिखा देना चाहिए।

प्र० : चित्र में ऊपर की पंक्ति में कितने खाने हैं ? उ०–५

प्र० : दूसरी पंक्ति में कितने खाने हैं ? उ०–५

प्र० : तीसरी पंक्ति में कितने खाने हैं ? उ०–५

प्र० : चौथी पंक्ति में कितने खाने हैं ? उ०–५

प्र० : प्रत्येक पंक्ति में कितने खाने हैं ? उ०–५

प्र० : कुल कितनी पंक्तियाँ हैं ? उ०–४

प्र० : कुल कितने खाने हुए ? उ०— ५ × ४=२०

प्र० : एक खाना १ वर्ग इंच है, तो २० खाने में कितने वर्ग इंच हुए ? उ०–२० वर्ग इंच

इस प्रकार के कई उदाहरण प्रस्तुत करने पर छात्रों को इस बात का स्वयं आभास होने लगेगा कि यदि लम्बाई को चौड़ाई से गुणा कर दिया जाय तो आयत का क्षेत्रफल ज्ञात हो जावेगा और तब छात्रों से इस नियम का निरूपण कराया जा सकता है कि आयत का क्षेत्रफल = लम्बाई × चौड़ाई।

सिद्धान्त अथवा नियम के निरूपण के उपरान्त उनका अभ्यास कराना एवं कभी-कभी निरूपित सिद्धान्त अथवा नियम को नवीन उदाहरणों द्वारा सिद्ध करना निगमनात्मक विधि है। गणित में इन दोनों का उपरोक्त क्रम से प्रयोग करना अत्यन्त लाभप्रद है। इस विधि से छात्रों की बुद्धि का पूर्ण रूप से प्रयोग होता है और सिद्धान्त एवं नियम सरलतापूर्वक स्मरण हो जाते हैं।

केवल निगमनात्मक विधि के प्रयोग में छात्रों को यह बता दिया जाता है कि "आयत का क्षेत्रफल = लम्बाई × चौड़ाई" और इस सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा प्रश्न हल कराए जाते हैं। परन्तु छात्रों को यह कभी स्पष्ट नहीं होता कि यह नियम इस प्रकार क्यों है ? निगमनात्मक विधि में समय कम

उदाहरणार्थ; यह जाँचने के लिए कि "यदि एक त्रिभुज की तीनों भुजाएँ दूसरे त्रिभुज की तीनों भुजाओं के अलग-अलग क्रमश: बराबर हों तो दोनों त्रिभुज सभी प्रकार से बराबर होंगे"। समान लम्बाई की भुजाओं वाले त्रिभुजों को गत्ते से या कागज से काट कर उनका सर्व प्रकार से निरीक्षण करेंगे।

इस प्रणाली के प्रयोग में एक यह कमी है कि गणित के सभी नियम इस प्रकार प्रयोगशाला में नहीं जाँचे जा सकते। अतः केवल इस प्रणाली पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। इसके प्रयोग में कठिनाई यह है कि इसमें व्यय के लिए अधिक धन की आवश्यकता है, क्योंकि इस प्रणाली के लिए कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या कम होनी चाहिए और सामान भी होने चाहिए। परन्तु यदि सम्भव हो तो इस प्रणाली का प्रयोग अधिक से अधिक करना हितकर है, क्योंकि इसमें छात्र क्रियाशील रहते हैं, तथा वे ज्ञान की प्राप्ति अपनी क्रियाशीलता के माध्यम से करते हैं। इस प्रकार का ज्ञान अधिक स्पष्ट एवं काम आने योग्य होता है। इस प्रणाली पर पूर्णतः कभी अवलम्बित नहीं हुआ जा सकता।

प्रॉजेक्ट प्रणाली

इस प्रणाली में कोई प्रॉजेक्ट (कार्य) जिसकी उपयोगिता का छात्रों को आभास हो, छात्र पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। प्रॉजेक्ट पूरा करने में जिस विषय के जितने ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है उसे वे सीख लेते हैं। इस प्रणाली में गणित का ज्ञान भी छात्रों को यथेष्ट मात्रा में कराया जा सकता है। परन्तु प्रॉजेक्ट प्रणाली से किसी भी विषय का सम्पूर्ण ज्ञान कराना अत्यन्त कठिन है।

किंडरगार्टन प्रणाली, मॉन्तेसरी-विधि एवं खेल-विधि छोटे बालकों को गणित का प्रारम्भिक ज्ञान कराने में उपयोगी हैं।

गणित-शिक्षण के लिए आवश्यक सामग्री एवं साधन

अध्यापन में पाठ को अधिक स्पष्ट, मनोरंजक एवं आकर्षक बनाने के लिए कई प्रकार की सामग्रियों एवं साधनों की आवश्यकता होती है और गणित के लिए भी यह बात पूर्ण रूपेण सत्य है। गणित के अध्यापन में जिन

एपिस्कोप, डायस्कोप, एपिडायस्कोप एवं फिल्मस्ट्रिप प्रदर्शक :

एपिस्कोप के द्वारा अपारदर्शक वस्तुओं पर बने चित्रों को पर्दे पर प्रदर्शित किया जाता है। डायस्कोप से पारदर्शक वस्तुओं पर बने चित्रों को पर्दे पर प्रदर्शित किया जाता है। एपिडायस्कोप दोनों प्रकार की वस्तुओं पर बने चित्रों को पर्दे पर प्रदर्शित करने में समर्थ है। फिल्मस्ट्रिप प्रदर्शक से स्लाइडों, जिनके टूटने की अधिक सम्भावना रहती है, के स्थान पर फोटोग्राफी की फिल्म पर बने चित्र प्रदर्शित किए जाते हैं। ये उन चित्रों के प्रदर्शक में सहायक तथा आवश्यक हैं जिन्हें साधारण तौर से अध्यापक श्यामपट पर नहीं बना सकते।

यात्राएँ तथा भ्रमण :

गणित की व्यावहारिकता एवं उपयोगिता का आभास कराने के लिए तथा विषय को मनोरंजक बनाने के लिए यात्रा तथा भ्रमण का प्रबन्ध किया जा सकता है। गणित के अध्यापक को भ्रमण के पूर्व एक ऐसी योजना बना लेनी चाहिए जिससे भ्रमण के द्वारा गणित-सम्बन्धी ज्ञान विकसित किया जा सके। भ्रमण के उपरान्त छात्रों से भ्रमण के बारे में ऐसा वर्णन लिखवाना भी श्रेयस्कर है जिसे भ्रमण द्वारा प्राप्त गणित सम्बन्धी ज्ञान की पुनरावृत्ति हो जाय।

पाठ-योजना

कार्य को व्यवस्थित रूप से सम्पन्न करने के लिए कार्य को योजना-बद्ध कर लेना लाभदायक होता है। गणित के अध्यापक को चाहिए कि वह सम्पूर्ण विषय का एक संक्षिप्त वार्षिक कार्यक्रम तैयार कर ले तथा सत्रानुसार उसका विभाजन कर ले। यदि कार्यक्रम का मासिक अथवा साप्ताहिक विभाजन भी विस्तृत रूप से कर लिया जाय तो अत्यन्त हितकर हो। परन्तु दैनिक पाठ-योजना तैयार करना नितान्त आवश्यक है।

दैनिक पाठ योजना तैयार करने से कई लाभ हैं। इससे अध्यापक को यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यापक को एक दिन के पाठ में कितना अंश ढंग से प्रस्तुत करना है। किस प्रकार छात्रों से प्रश्न करने हैं तथा छात्र किस प्रकार के प्रश्न अध्यापक से पूँछ सकते हैं। पाठ-योजना तैयार न करने से

छात्र खोजे हुए नियम के अनुसार हल करें। समयानुसार दो-तीन प्रश्न कक्षा में करवाए जा सकते है तथा आठ दस प्रश्न घर के लिए दिए जा सकते हैं।

बेसिक पद्धति में गणित का अध्यापन

बेसिक पद्धति ज्ञान की व्यावहारिकता एवं उपयोगिता पर बल देती है। जो शिल्प (क्राफ्ट) छात्र बेसिक रूप से सीखता है उसी के लिए उपयोगी गणित के नियमों आदि का ज्ञान भी छात्र प्राप्त करता है। इससे दो लाभ हैं। एक तो, छात्र को गणित की व्यवहारिकता एवं उपयोगिता में विश्वास हो जाता है और उसे गणित नीरस नही प्रतीत होती। दूसरे, वह गणित के नियमों को तभी सीखता है जब उसको इसकी आवश्यकता का ज्ञान होता है। अत: उनके सीखने में कठिनाई का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार छात्रों को गणित का ज्ञान वास्तविक स्थितियो में प्राप्त होता है। परन्तु गणित का क्रमानुसार सम्पूर्ण ज्ञान इस प्रकार नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए कुछ ऊँची कक्षाओं में बिना वास्तविक स्थितियों के उपस्थित हुए भी गणित की बहुत सी बातें सिखाना आवश्यक है।

सारांश

साधारण जीवन में गणित की उपयोगिता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता, तो, भी गणित छात्रों को नीरस प्रतीत होती है। अत: यह आवश्यक है कि गणित का अध्यापन इस प्रकार से किया जाय कि छात्रों को गणित की उपयोगिता का आभास प्राप्त होता रहे। गणित अध्यापन के ये उद्देश्य हैं :—छात्रों को जीवनोपयोगी गणित सम्बन्धी ज्ञान दिया जाय, मानव संस्कृति के विकास में गणित ने किस प्रकार योग दिया है इसका ज्ञान कराया जाय, एवं छात्रों को ऐसा मानसिक अनुशासन प्राप्त हो कि वे एकाग्रता के साथ अपने विचारों में शुद्ध तर्क का प्रयोग करने में समर्थ हो।

गणित के अध्यापन में आगमनात्मक एवं निगमनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक, अनुसन्धान, तथा प्रयोगशाला-प्रणाली का प्रयोग यथासम्भव अवसर के अनुकूल करना चाहिए। व्याख्यान-प्रणाली का प्रयोग ऊँची कक्षाओं में किया जा सकता है। परन्तु निम्न कक्षाओं में इसका प्रयोग कदापि

होती है, गणित-शिक्षण देने की अपेक्षा करती है। सम्पूर्ण गणित वास्तविक स्थितियों में सिखाना असम्भव है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. गणित-शिक्षण के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

२. गणित-शिक्षण की मुख्य-मुख्य प्रणालियों पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

३. गणित-शिक्षण के लिए जिन सामग्रियों की आवश्यकता है उनका वर्णन कीजिए तथा गणित-अध्यापन को अधिक मनोरंजक एवं प्रभावपूर्ण बनाने में उन सामग्रियों से किस प्रकार सहायता प्राप्त होती है, इसका भी उल्लेख कीजिए।

४. छात्रों को यह सिखाने के लिए कि

$$\text{साधारण ब्याज} = \frac{\text{मूलधन} \times \text{प्रतिशत} \times \text{समय}}{१००}$$

एक पाठ संकेत तैयार कीजिए।

बालक अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर अपने को व्यक्त करने हेतु अनेक प्रकार की डिजायनों, बेल-बूटे तथा रेखा-चित्र आदि को बनाता है। इनमें वह लय और क्रम के अनुसार किसी इकाई को अनजान में आदर्श मानकर दोहराता है। यह लय उसकी प्राकृतिक लय होती है। इस लय को बालक ध्वनि द्वारा प्रदर्शित करता है और बालक की यह लयमय व्यञ्जना ही संगीत का प्रारम्भिक रूप है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि बालक की प्राकृतिक एवं स्वाभाविक प्रवृत्तियों को विकसित करने की समुचित व्यवस्था की जाय। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से शिक्षा में संगीत को एक महत्त्वपूर्ण स्थान देना आवश्यक होगा।

संगीत द्वारा शारीरिक विकास में सहायता :

संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन तथा नृत्य तीनों क्रियाएं आ जाती है। गायन के अभ्यास में श्वास की पूरी कसरत हो जाती है। इस अभ्यास का प्रभाव वक्ष और फेफड़ों पर पड़ता है। फलतः वक्ष में विशालता और फेफड़ों में मजबूती आती है। क्रियात्मक[1] गानों द्वारा बालकों का समुचित अंग संचालन होता है। इस संचालन की एक लय होती है जिसके द्वारा शरीर के अनुभवों की अभिव्यक्ति होती रहती है। इस प्रकार उनके शरीर के समस्त अंगों का व्यायाम होता रहता है। सामूहिक नृत्य और सामूहिक गानों द्वारा बालकों का अंग संचालन इस रूप में होता रहता है कि उन्हें थकान नहीं मालूम होती। मार्चिग गानों तथा उनसे सम्बन्धित शरीर की गतियों से उनका मनोरन्जन और व्यायाम साथ ही साथ होता रहता है।

संगीत द्वारा मानसिक विकास में सहायता :

संगीत के अभ्यास से बालकों में चित्त के एकाग्रता की क्षमता, सूक्ष्म बोध की तीव्रता, विचारों की क्रमबद्धता तथा नवीन विचारों को जन्म देने की शक्ति उत्पन्न होती है। संगीत द्वारा बालकों की रसानुभूति तथा कल्पना-शक्ति को समुचित विकास का अवसर मिलता है। रसानुभूति व्यक्ति को भावुक बना देती

---

1. Action Songs.

संगीत का क्षेत्र और पाठ्यक्रम

संगीत का क्षेत्र केवल गाने तक ही नही सीमित है, अपितु गायन, वादन तथा नृत्य तीनों इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। यदा कदा इसके तीनों रूप एक साथ ही दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे चेष्टामूलक[1] गानों के साथ-साथ नृत्य एवं वादन दोनों होते रहते है। बालकों को प्रारम्भिक अवस्था में अर्थात् निम्न कक्षाओं में इन तीनों की शिक्षा देनी पड़ती है। ऊँची कक्षाओं के अनुसार पाठ्यक्रम भी परिवर्तित करना आवश्यक हो जाता है। ऊँची कक्षाओं में लोक-गीतों तथा लोक-नृत्यों का समावेश हो जाता है, और साथ-ही-साथ उन्हें शुद्ध और विकृत स्वरों का ज्ञान कराना भी आवश्यक हो जाता है। उन्हें लय, तालों और रागों का भी यथेष्ठ ज्ञान देना चाहिए। उच्च कक्षाओं के बालकों में इतनी क्षमता उत्पन्न कर देनी चाहिए कि वे कल्पना द्वारा गाने की ध्वनि और लय की आत्मा तक पहुँच जावें। परन्तु यह सफलता पाठ्यक्रम के आधार पर पाना दुरूह ही नहीं, अपितु असम्भव है। अध्यापक की वैयक्तिक योग्यता ही इसमें सहायक हो सकती है। गायन-क्रिया में आवाज का बड़ा महत्त्व है। आवाज की सुन्दरता पर ही गायन की कुशलता आधारित है। अतः स्वर के ज्ञान के साथ-ही-साथ गले से आकर्षक एवं स्वस्थ आवाज के निकालने का अभ्यास कराना आवश्यक होगा। पाठ्यक्रम में साधारण तालों से कठिन तालों की ओर जाने का आयोजन होना चाहिए। गायन तथा नृत्य दोनों क्रियाएँ तालों का अनुसरण करती हैं। अतएव अध्यापक को चाहिए कि गाने के साथ तालों का अभ्यास कराने के अतिरिक्त पहिले अलग से भी इसका अभ्यास करा दे।

पाठ्यक्रम में राष्ट्रीय तथा लोक-गीतों को भी यथेष्ठ स्थान मिलना चाहिए। प्रत्येक कक्षा के लिए दो राष्ट्रीय गीत उपयुक्त होंगे। राष्ट्रीय गीतों, लोक-गीतों तथा उत्सव आदि सम्बन्धी गानों का आयोजन प्राय: सामूहिक गानों के अन्तर्गत् करना ठीक होगा। विभिन्न प्रकार के गानों का सामञ्जस्य पाठ्यक्रम में इस प्रकार हो कि अध्यापक संगीत-शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु पाठ्यक्रम में

1. Action Songs.

शारीरिक विकास पर उसका उल्टा प्रभाव पड़ जावे। यह सदैव ध्यान में रक्खा जाय कि साँस पूरे सीने में भर जानी चाहिए। सीने के ऊपरी भाग पर भरी हुई साँस गले को खराब कर सकती है तथा पेट पर बल पड़ने से सम्भव है गला खराब होने के साथ ही साथ बालक रोगी भी हो जाय।

स्वर का अभ्यास

अध्यापक को स्वर स्थान का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। बालकों को सदैव खुले तथा ऊँचे स्वर में गाना चाहिए। आवाज दबा कर गाने से ध्वनि के खराब हो जाने की सम्भावना अधिक है।

कुछ ऐसे भी लड़के होते हैं जो स्वर से अलग अथवा गाने के सभी शब्दों को एक ही स्वर पर टिका कर गाते हैं। उनसे अध्यापकों को हताश नहीं होना चाहिए, क्योंकि लय का ज्ञान उनको भी उसी भाँति होता है जैसे अन्य बालकों को। अतः ऐसे बालकों को अन्य बालकों के गानों को सुनने का अवसर देना चाहिए तथा अध्यापक को चाहिए कि वह यह देखता रहे कि उनमें स्वर-सम्बन्धी जानकारी आ गई अथवा नहीं। समय-समय पर उनसे गाने के लिए कह कर जाँच की जा सकती है। फिर उनको योग्यतानुसार अन्य विद्यार्थियों के साथ कर देना चाहिए।

आवाजों के प्रति सतर्कता :

अध्यापक को बालकों की सामान्य आवाज पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उसे अपनी तथा बालकों की आवाज की विभिन्नता के प्रति सदैव सतर्क रहना चाहिए। प्रयत्न यह करना चाहिए कि प्रत्येक बालक अपनी स्वाभाविक आवाज का ही प्रयोग करे। असाधारण रूप में आवाजों की खींचातानी बड़ी हानिकारक सिद्ध होती हैं। सामान्य आवाज से ऊँची आवाज निकालने पर बालकों की आवाज फट जायेगी तथा नीची करने पर उसमें खसखसाहट पैदा हो जाती है। इस प्रकार स्वर में खराबी उत्पन्न हो जावेगी।

आयु के अनुसार स्वाभाविक स्वर भद :

कक्षा में विभिन्न आयु के बालक होते हैं। उनके स्वरों में पर्याप्त भिन्नता होना स्वाभाविक है। बहुत से बालक ऐसे होते हैं जो कक्षा में स्थापित स्वर

इससे ज्ञात होता है कि अध्यापक के स्वाभाविक स्वर-स्थान से बालक का स्वाभाविक स्वर-स्थान लगभग आधा सप्तक नीचे होता है। अतः अध्यापक को चाहिए कि स्वर-स्थान के निर्धारण में वह इस अन्तर को अवश्य ध्यान में रक्खे।

शारीरिक विकास का स्वर पर प्रभाव :

आयु के साथ-साथ बालकों का शरीर भी विकसित होता जाता है। इस विकास का प्रभाव उनकी आवाज और स्वर पर भी पड़ता है। यह अनुभव किया गया है कि १३ वर्ष की आयु के बाद बालकों की आवाज में महान परिवर्तन हो जाता है। इस आयु पर पहुँचने पर कभी-कभी बालकों के गले से एक साथ ही मोटा और पतला स्वर निकलने लगता है। उनके स्वर में भर्राहट उत्पन्न हो जाती है और पुराना स्वर एकदम परिवर्तित हो जाता है तथा नया स्वर स्थायी एवं स्वाभाविक स्वर का स्थान पा जाता है। यह परिवर्तन बालिकाओं में भी होता है, परन्तु उन्हें अपना स्थायी स्वर निश्चित् करने में उतना समय नहीं लगता जितना कि बालकों को।

छोटी आयु में मन्द्र तथा तार सप्तक में गाते समय विद्यार्थियों पर अधिक परिश्रम पड़ता है और इस परिश्रम से उनके स्वर के खराब हो जाने का भय रहता है। अत: शिक्षक को चाहिए कि छोटी अवस्था के विद्यार्थियों से अधिक परिश्रम न कराए। अच्छा तो होगा कि कुछ समय के लिए ऐसे विद्यार्थियों का गायन अभ्यास बन्द करा दिया जाय। यदि किसी कारण से बन्द न किया जा सके तो अध्यापक पूर्णतया सतर्क होकर ऐसे विद्यार्थियों से इस प्रकार अभ्यास करावे कि उनके गले के खराब होने की सम्भावना न रहे।

स्वरों की शिक्षा-विधि

संगीत के उद्‌गम स्वर हैं। ये बारह प्रकार के होते हैं। इनके भेदों से विद्यार्थियों को परिचित कराना ही स्वरों की शिक्षा प्रदान करना है। जिस विद्यार्थी को स्वरों का जितना ही ठोस ज्ञान होता है उतना ही वह संगीत में दक्ष हो सकता है। स्वर ज्ञान पर ही संगीत की दक्षता निर्भर करती है। भारतीय संगीत कला में एक मुख्य स्वर को आधार मान कर उसी के अनुपात

सकता है परन्तु आगरा में रहने वाले विद्यार्थियों के लिए ताजमहल का प्रत्यक्ष रूप में दिखाना ही उपयुक्त और अधिक लाभप्रद होगा। संगीत में यही परिस्थिति स्वर-लिपि की है। ताजमहल के विषय में बालकों को यदि पहिले से कुछ ज्ञान कराया गया होगा तब तो वे उसके चित्र को देख कर उसे पहिचान सकेंगे अन्यथा वह चित्र उनके लिए केवल एक साधारण भवन के चित्र के समान होगा। इसी प्रकार यदि स्वरों के विषय में पहिले से विद्यार्थियों को कुछ ज्ञात रहेगा तो वे स्वर-लिपि से लाभ उठा सकते हैं, अन्यथा नहीं। अतः अध्यापक की उपस्थिति में स्वर-लिपि का प्रयोग अनुचित है। ऊँची कक्षाओं के बालकों के लिए जिन्हें स्वर के विषय मे जानकारी प्राप्त हो गई हो, अभ्यास करने हेतु यह उपयोगी सिद्ध हो सकता है, परन्तु प्रारम्भिक कक्षाओं में नहीं। क्योंकि उन्हें स्वतंत्र रूप में अभ्यास कराना भी ठीक नहीं है। सम्भव है अध्यापक की अनुपस्थिति में वे गलत अभ्यास करें जो कि बड़ा ही हानिकर सिद्ध हो सकता है। अतएव स्वरों के नामों से परिचित करा देना अथवा उनके लिखने का साधारण अभ्यास करा देना ही समीचीन होगा।

संगीत के पाठ्यक्रम के अंग

पाठ्यक्रम के क्षेत्र का वर्णन करते हुए बताया जा चुका है कि गायन, वादन तथा नृत्य संगीत के प्रमुख अंग हैं। अब गायन के प्रकारों तथा उनके पाठ्यक्रम में समावेश सम्बन्धी उपयोगिता पर विचार किया जावेगा। इनके समावेश में इस बात पर सदैव ध्यान रखना चाहिए कि संगीत शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है तथा इसके द्वारा शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति में पर्याप्त सहायता मिलती है। संगीत द्वारा बालकों में उदात्त वृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है और वे सौन्दर्य प्रेम की शिक्षा प्राप्त करते हैं। गायन के पाठ्यक्रम में मुख्य चार विषयों का समावेश किया जाता है। इनका परिचय इस प्रकार है :—

लोक-गीत :

लोक-गीत अपने वातावरण से पूर्णतया प्रभावित होता है। लोकगीतों को हम समाज की गतिविधि, परिस्थितियों तथा वातावरण का परिचायक मान सकते हैं। अतः वातावरण के अनुकूल शिक्षा प्रदान करने के ध्येय से गायन

उन्हें अपनी भूलों को समझ कर शुद्ध करने का अवसर मिलता है। उनमें स्वावलम्बन की प्रेरणा उत्पन्न होती है।

शास्त्रीय संगीत :

शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति लोक-गीतों से होती है। परन्तु लोक-गीतों का क्षेत्र संकुचित होता है और इनमें रागों एवं तालों के नियमों का पालन उतनी सतर्कता पूर्वक नहीं हो पाता जितना शास्त्रीय गानों में होता है। शास्त्रीय गीतों में शब्द-रचना के स्थान पर स्वर-रचना की सुन्दरता को महत्त्व प्रदान किया जाता है। इसमें संस्कृति की तुष्टि का अवसर मिलता है और स्वावलम्बन की भावना का उद्रेक होता है। इनके नियमबद्ध होने के कारण छोटी से लेकर बड़ी कक्षाओं तक के विद्यार्थियों को इसकी शिक्षा सुगमता-पूर्वक दी जा सकती है। अतः इसे कक्षाओं के स्तर के अनुसार क्रमबद्ध करके पाठ्यक्रम में स्थान प्रदान करना आवश्यक है।

वादन :

संगीत का दूसरा अंग वादन है। इसकी शिक्षा का वही महत्त्व है जो गायन की शिक्षा का। वाद्य यन्त्रों के तीन प्रकार होते हैं। पहिले प्रकार में ढोल, तबला तथा ढप इत्यादि ऐसे यन्त्र आते हैं। इनके द्वारा लय और तालों का सहारा लिया जाता है। दूसरे वे यन्त्र हैं जिनके द्वारा राग को बनाया जाता है। इन यन्त्रों में सारंगी, सितार, सरोद, एकतारा तथा बैन्जों आदि की गणना की जा सकती है। तीसरे प्रकार के वाद्य-यन्त्रों में मुँह से फूँक कर बजाने वाले, बाँसुरी तथा शहनाई आदि को लिया जा सकता है। वाद्यों से बालक अपने हाथों द्वारा लय तथा स्वरों का प्रयोग करना सीखते हैं। विद्यालयों में इन वाद्य-यन्त्रों का प्रबन्ध होना आवश्यक है। अच्छा होगा यदि प्रत्येक विद्यालय का अपना एक वाद्य-संघ[1] हो।

नृत्य :

संगीत का तीसरा अंग नृत्य है। नृत्य बालकों के शारीरिक संतुलन, मानसिक विश्रान्ति और मनोरंजन का साधन होने के साथ ही साथ उनको स्वाभि-

---

1. Orchestra.

सर्व प्रथम सबसे सरल भाग की शिक्षा देनी चाहिए तत्पश्चात् कठिन भागों की शिक्षा देकर अन्त में पूरे गाने का अभ्यास कराना चाहिए। लय के अभ्यास के लिए क्रियात्मक गानों का सहारा लेना समीचीन होगा, क्योंकि ये लयपूर्ण होते हैं और इनका अनुसरण बालक स्वभावतया करने लगते हैं। ऊँची कक्षाओं में इस लय को तालों में विभाजित करके तालियों द्वारा इसकी मात्राओं का ज्ञान कराना चाहिए।

शास्त्रीय गाने तालों और रागों के नियमों से आबद्ध होते हैं। अत: इनकी शिक्षा प्रदान करने में अध्यापक को अधिक सतर्क रहना चाहिए। कठिन गानों को गीत तथा स्वर-रचना के अनुसार कई भागों में विभाजित करके पहिले स्थायी तत्पश्चात् अन्तरा का ज्ञान प्रदान करना चाहिए। शास्त्रीय गानों में प्रयोग होने वाले स्वरों के आरोह तथा अवरोह से पहिले ही बालकों को परिचित करा देना चाहिए। स्वरों की मात्राओं में व्यतिक्रमता आने पर गाने की रोचकता समाप्त हो जाती है। अत: उनके समुचित पालन हेतु अध्यापक को चाहिए कि तालियों के सहारे बालकों को संकेत प्रदान करता रहे।

सारांश

रेडियो, संगीत सम्मेलन तथा अन्य प्रोग्राम संगीत की व्यापकता के द्योतक हैं।

संगीत की प्राचीनता :

संगीत भारतीय जीवन का एक अंग रहा है। प्राचीन, अर्वाचीन तथा वर्तमान काल के इतिहास से स्पष्ट होता है कि इसकी निष्पत्ति मानव के आविर्भाव के साथ की है। सभी कालों में इस कला को सम्मान मिलता रहा है।

शिक्षा में सङ्गीत का महत्त्व :

जनतंत्रात्मक शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगीत द्वारा महत्त्वपूर्ण योग प्राप्त होता है। इसके द्वारा बालकों के शारीरिक, मानसिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है।

वादन :

वादन यन्त्र के तीन प्रकार हैं। हाथ से बजाने वाले यन्त्र ढोल, मृदंग, तबला आदि। इनके द्वारा लय और तालों का सहारा लिया जाता है। दूसरे प्रकार के रागों को प्रसारित करने वाले सितार तथा सारंगी आदि हैं; तथा तीसरे मुँह से बजाने वाले बाँसुरी और शहनाई आदि हैं।

नृत्य :

इसके द्वारा गायन, वादन तथा नृत्य तीनों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इससे मानसिक विश्रान्ति और शारीरिक संतुलन प्राप्त होने के साथ ही साथ आत्माभिव्यन्जन का उपयुक्त अवसर मिलता है।

संगीत शिक्षण विधि : अन्य विषयों की भाँति इसमें भी विषय तथा शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति का ध्यान रखते हुए बालक की विभिन्न समस्याओं और परिस्थितियों पर ध्यान देकर शिक्षा प्रदान की जाती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. संगीत का जीवन में क्या महत्त्व है ?
२. इसकी प्राचीनता पर अपने मत प्रगट कीजिए।
३. शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति में संगीत किस सीमा तक सहायक है ?
४. संगीत की शिक्षण-विधि पर प्रकाश डालते हुए विषय की व्यापकता स्पष्ट कीजिए।

सम्भवत: मानव की प्रारम्भिक भाषा पशुओं के समान ही संकेतों पर तथा अर्थहीन ध्वनियों पर आधारित रही होगी। यदि ध्वनियों का कुछ अर्थ भी रहा होगा तो वह नितान्त ही अस्पष्ट। भाव-मुद्राओं का प्रयोग भी अनायास और अस्पष्ट रहा होगा। इस प्रकार की भाषा पशुओं में अब भी दर्शनीय है, परन्तु मानव जाति की भाषा में ये अब उतना महत्वपूर्ण अंग नहीं रह गए हैं। इस प्रकार की भाषा में स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता का सर्वथा अभाव है तथा इसमें भावों के संकलन की सम्भावना नाम मात्र को भी नहीं। ध्वनि-समूहों को शब्दों का रूप देना तथा उनका प्रतीक रूप में प्रयोग करना मानव जाति की महानतम खोज तथा प्रगति के सोपान की पहली सीढ़ी थी। भावों के प्रतीक रूप में शब्दों के प्रयोग ने चिन्तन-प्रक्रिया को गति प्रदान की और चिन्ता-प्रक्रिया की आवश्यकताओं के अनुकूल नए-नए प्रतीकों (शब्दों) का निर्माण हुआ।

यह शब्द प्रतीकों की भाषा प्रारम्भ में केवल मौखिक या श्रव्य रही होगी, परन्तु मौखिक या श्रव्य भाषा भावों के संकलन तथा वितरण में पूर्णत: समर्थ नहीं हो सकती। अत: उसको लिखित रूप दिया गया और लिपि का जन्म हुआ। लिखित भाषा की उत्पत्ति से यह सम्भव हो सका कि कम परिश्रम से ही विचारों और भावों का अगली पीढ़ी के लिए संकलन किया जा सके तथा उनको सम्पूर्ण विश्व में विकीर्ण किया जा सके। इस प्रकार भाषा ने मानव जाति की प्रगति में महान योग दिया।

मातृभाषा का स्थान

यद्यपि संसार की सारी भाषाएँ महत्वपूर्ण हैं परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी मातृभाषा का एक विशेष महत्व है। मातृभाषा व्यक्ति अपने शैशव काल से ही सीखता है। अत: 'मातृभाषा में चिन्तन', बोध, रसानुभूति एवं अभिव्यक्ति सरल, शीघ्र, स्पष्ट, यथार्थ और प्रभावोत्पादक होते हैं। मातृभाषा के प्रयोग में व्यक्ति को आत्मविश्वास होता हैं। वह अपने विचारों और भावों को उसके माध्यम से व्यक्त करने में निर्भयता का अनुभव करता है तथा किसी प्रकार का सकोच नहीं करता। मातृभाषा और व्यक्ति के संस्कारों में

होंगे। बालक के जीवन का चौथाई से भी कम अंश पाठशाला को मिलता है और पाठशाला के समय के छठे अंश से भी न्यून भाषाध्यापक को मिलता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि साधारण बालक जो दिन में तेईस घंटे अशुद्ध भाषा का अभ्यास करता है, केवल एक घंटे शुद्ध भाषा का अभ्यास कर सकेगा, जो सर्वथा अपर्याप्त है। अतः सभी विषयों के अध्यापकों को भाषा की शुद्धता तथा प्रभावोत्पादकता पर ध्यान देना चाहिए, तथा बालकों को अशुद्ध भाषा न तो सीखने देना चाहिए, न बोलने। यदि बालक अशुद्ध भाषा बोलें या लिखें तो उन्हें प्रेम-पूर्वक उनकी अशुद्धि से अवगत कराने के उपरान्त शुद्ध रूप बता देना चाहिए।

अन्य विषयों के अध्यापकों का भाषा की शुद्धता तथा प्रभावोत्पादकता पर ध्यान देना स्वयं उन्ही के विषयों के लिए हितकर है। किसी भी विषय में उससे सम्बन्धित परिभाषाओं और सिद्धान्तों का प्रतिपादन अशुद्ध भाषा में शुद्धता और स्पष्टता के साथ असंभव है, तथा उनका विश्लेषण भी भाषा के शुद्ध ज्ञान के अभाव में असंभव है। अतः यदि बालकों की अशुद्ध भाषा के प्रयोग की आदत है तो वे न तो परिभाषाओं और सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही कर सकेंगे और न विश्लेषण ही। प्रत्येक विषय के अनुकूल भाषा का ज्ञान पूर्णरूप से भाषाध्यापक बालक को नहीं दे सकता, अतः विषयानुकूल शुद्ध भाषा का ज्ञान कराना तो उस विषय के अध्यापक का ही कर्तव्य है। इस अध्याय में हम हिन्दी-शिक्षण-सम्बन्धी बातों का विवेचन करेंगे। यहाँ हम हिन्दी को मातृभाषा के रूप में ले रहे हैं। अतः इस अध्याय में कही हुई बातें किसी भी मातृभाषा के अध्यापन में लागू की जा सकती हैं।

हिन्दी अध्यापक

राजनैतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के उपरान्त भी अभी हमारे मध्य भाषीय तथा सांस्कृतिक पराधीनतायें विद्यामन हैं। अभी हम इस योग्य नहीं हो पाए है कि अपनी मातृभाषा के माध्यम से सर्व प्रकार के ज्ञान को ग्रहण कर सकें तथा अपने विचारों को व्यक्त कर सकें। इनके लिए अभी हमें विदेशी भाषाओं, विशेष तौर से अंग्रेजी का मुख जोहना पड़ता है। इस भाषा-सम्बन्धी पराधीनता के कारण हमारा सम्बन्ध अपनी संस्कृति से भी टूट गया है। अतः मातृभाषा

विभिन्न स्तरों पर हिन्दी शिक्षण के अलग-अलग उद्देश्य निश्चित कर लेना आवश्यक है।

प्राथमिक स्तर में अक्षर ज्ञान, सुलेख, श्रुतांकन, उच्चारण की शुद्धता तथा वाचन की शुद्धता एवं गति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। साथ ही साथ बालकों के शब्द-कोष की क्रमशः वृद्धि करना चाहिए। उनके विचारों के ग्रहण तथा प्रकाशन में धीरे-धीरे स्पष्टता एवं तर्क संगतता का विस्तार करना चाहिए। इस स्तर की अन्तिम कक्षाओं तक बालकों में यह क्षमता भी उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए कि वे अपने पढ़े हुए विषयों तथा देखी हुई वस्तुओं के बारे में अन्य लोगों के विचारों को समझ सकें तथा अपने भावों और विचारों को मौखिक और लिखित दोनों रूपों में, साहस और स्पष्टता के साथ व्यक्त कर सकें। निम्न माध्यमिक स्तर पर भी अक्षर ज्ञान को छोड़कर प्राथमिक स्तर की अन्य सभी बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। परन्तु इस स्तर पर भाषा की शुद्धता पर अधिक ध्यान की आवश्यकता है। इस स्तर पर समुचित भाव-भंगियों के साथ वाचन, कविता, पाठ, संवद तथा अभिनय की क्षमता एवं सौन्दर्यानुभूति के विकास पर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए और बालकों को साहित्य से अधिकाधिक परिचय कराते हुए स्वाध्याय के लिये भी प्रेरित करना चाहिए।

पूर्व माध्यमिक स्तर पर साधारण तौर से सुलेख और श्रुतांकन छोड़े जा सकते हैं, यद्यपि कुछ छात्रों के सम्बन्ध में इनकी भी आवश्यकता हो सकती है। इस स्तर पर बालकों में भाषा की शुद्धता के साथ-साथ प्रभावोत्पादकता भी उत्पन्न करनी चाहिए। बालकों को विविध शैलियों का परिचय कराना चाहिए और उनको स्वयं अपनी शैली का विकास करने में सहायता करनी चाहिए। उनमें भाषण, वाद-विवाद, निबन्धलेखन, तथा गोष्ठियों आदि में भाग लेने की आकांक्षा एवं क्षमता का विकास भी इसी स्तर पर अपेक्षित है। इस स्तर पर बालकों में सौन्दर्य-भावना का विकास करके तथा साहित्य में रुचि उत्पन्न करके साहित्यिक समालोचना की ओर भी प्रेरित करना चाहिए तथा स्वाध्याय को अधिकाधिक प्रोत्साहन देना चाहिए। बालकों की भाषा-

प्रदर्शन से छात्र स्वयं नियम, उपनियम खोजते हैं। यह प्रणाली हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति में अधिक मान्य है।

२. निगमन विधि[1] : इसमें पहले व्याकरण के नियमों या सूत्रों को स्मरण कर लिया जाता है, तत्पश्चात् इनका प्रयोग उदाहरणों पर किया जाता है। संस्कृत पाठशालाओं में इसी विधि का प्रयोग होता है। हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति में अगमन विधि द्वारा खोजे हुए नियमों के अभ्यास के लिए निगमन विधि का प्रयोग होता है।

व्याकरण के शिक्षण के लिए पाठ-सूत्र बनाने में अध्यापक को ध्यान रखना चाहिए कि अगमन तथा निगमन दोनों विधियों का प्रयोग किया जाय। सर्वप्रथम अगमन विधि से व्याकरण के नियमों की खोज छात्र स्वयं करें और तदुपरान्त निगमन विधि से उन नियमों का अभ्यास।

वाचन

वाचन लिखित भाषा का होता है। इसके दो मुख्य भेद हैं : १—सस्वर वाचन[2], तथा २—मौन वाचन[3]। यह वाचन वाचन को ज्ञान-प्राप्ति में, आनन्द प्राप्ति में, समय के सदुपयोग में, तथा विविध भाषण शैलियों से परिचित कराने में सहायक होता है।

१. सस्वर वाचन :

अध्यापक द्वारा : अध्यापक के सस्वर वाचन के तीन मुख्य उद्देश्य होते हैं, छात्रों के सम्मुख आदर्श उपस्थित करना, छात्रों को मौन वाचन में सहायता करना, तथा उनको यह सूचित करना कि कितना अंश पढ़ लेने के उपरान्त उनसे उस पर बोध-प्रश्न पूछे जायेंगे।

आदर्श वाचन पाठ्य-पुस्तकों के अध्यापन में बालकों के अनुकरण वाचन से पूर्व किया जाता है। परन्तु यदि प्रस्तुत गद्यांश या पद्यांश कठिन हो तो 'आदर्श वाचन' उद्देश्य कथन, भाव विश्लेषण तथा पुनरावृत्ति तीनों के उपरान्त किया जा सकता है। कठिन द्रुत पाठों में भी आदर्श वाचन किया जा सकता

1. Deductive method. 2. Reading aloud. 3. Silent Reading.

निवारण न हो तो किसी चिकित्सक की सहायता से शारीरिक अथवा मानसिक विकारों की खोज और चिकित्सा का प्रबन्ध करना चाहिए।

सस्वर वाचन का ढंग : वाचक को पुस्तक बायें हाथ में लेकर शरीर से ४५० कोण बनाते हुए उसे आँख से कम से कम एक फुट दूर रखना चाहिए। वाचक केवल पुस्तक की ओर ही न देखे वरन् उसकी आँखें छात्रों को ओर घूमती रहें। अध्यापक किसी निश्चित क्रम से वाचन के लिए छात्र को चुने और वाचन सम्पूर्ण कक्षा में विस्तीर्ण रहे। कुछ सुवाचक छात्र तथा कुछ पिछड़े हुए छात्र वाचन के लिए चुनने चाहिए और सुवाचकों से वाचन करवाने के उपरान्त पिछड़े हुए छात्रों से वाचन करवाना चाहिए। अशुद्धियों का संशोधन आदर्श वाचन द्वारा उचित है और संशोधन के लिए वाक्य पूर्ण हो जाने पर ही छात्र को टोकना चाहिए। संशोधन कार्य में अध्यापक का व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए और छात्रों का सहयोग प्राप्त करते रहना चाहिए।

२. मौन वाचन

मौन वाचन में थकान देर में आती है और समय कम लगता है। बालकों के मौन वाचन में एक दूसरे से किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। मौन वाचन में चिन्तन-प्रक्रिया भी गम्भीरतापूर्वक रहती है। अतः आनन्द एवं ज्ञान प्राप्ति के लिए किए जाने वाले स्वाध्याय में मौन वाचन बहुत ही लाभप्रद है।

मौन वाचन के भेद और उद्देश्य

(१) गंभीर मौन वाचन : इस वाचन का उद्देश्य वाच्य वस्तु के विभिन्न अंशों का सार ग्रहण करना एवं चिन्तन-प्रक्रिया द्वारा अपने पूर्व ज्ञान तथा वाचन द्वारा प्राप्त नवीन जानकारी का समन्वय करते हुए, परिणाम निकालना होता है। अतः इस प्रकार के मौन वाचन में वाच्यवस्तु को स्थान-स्थान पर आवश्यक समय देना, आवश्यक टिप्पणियाँ लिखते जाना तथा टिप्पणियों को प्रश्नों के रूप में संगठित करके उनके उत्तरों को सोचते हुए पुनरावृत्ति करना अत्यन्त लाभप्रद है।

(२) त्वरित मौन वाचन : इस प्रकार का मौन वाचन आनन्द प्राप्ति तथा संकलन के लिए होता है। समाचार-पत्रों के पढ़ने में इस प्रकार के वाचन का

और वाक्यांशों को समझते जा रहे हैं तथा आवश्यकता के समय उनका प्रयोग भी कर सकते हैं। सम्पूर्ण पाठ, उसका प्रस्तुत करना, उसकी विस्तृत व्याख्या करना, विचार विश्लेषण, पुनरावृत्ति, स्वाध्याय, अभ्यास एवं गृह कार्य सभी का प्रयोजन केवल पाठ्य वस्तु पर अधिकार प्राप्त कराना होता है।

कविता-पाठ

कविता-पाठ का मुख्य उद्देश्य रसास्वादान होता है। अतः कविता पाठ में छात्रों के हृदयों में उन अनुभूतियों को जागृत करने की आवश्यकता है जो कवि हृदय को आन्दोलित करने में समर्थ हुईं और जिनके कारण उस कविता का सृजन हुआ।

कविता पाठों में सस्वर वाचन ही अधिक उपयुक्त है तथा यह वाचन ऐसा होना चाहिए कि कवि के भाव एवं विचार वाचन के द्वारा ही मूर्तिमान हो सकें, परन्तु संगीत का प्रदर्शन न हो। कविता पाठों में विस्तृत व्याख्या करना उचित नहीं होता, केवल-काठिन्य-निवारण के लिए कठिन स्थलों का अर्थ-कथन पर्याप्त है। आवश्यक वाक्य प्रयोग भी पद्यात्मक ही उचित है, तथा व्याकरण-सम्बन्धी विवेचना अनावश्यक है। केवल कवि के भावों को स्पष्ट करने के लिए भाव-विश्लेषण किया जा सकता है। उसी कवि की अन्य कविताओं से, अन्य कवियों की कविताओं से तथा अन्य भाषाओं की कविताओं से तुलना करते हुए भाव साम्य एवं भाव वैभव का प्रदर्शन करना भी उपयुक्त होगा। छात्रों में भाषा, भाव और संगीत तीनों की अनुभूति के लिए रस, छन्द, अलंकार तथा गुण दोषों का भी विवेचन करना चाहिए।

यथासंभव सम्पूर्ण कविता को अखण्ड रूप में प्रस्तुत करना छात्रों को सौन्दर्य का दर्शन करने में अधिक उपयोगी है। अतः कविता को खण्डों में उसी समय विभाजित करना चाहिए जब कविता इतनी बड़ी हो कि उसका एक साथ प्रस्तुत करना असम्भव हो। खंडों में विभाजन ऐसे ढङ्ग से करना चाहिए कि सौन्दर्य भंग की सम्भावना कम से कम हो। कविता-पाठ के अध्यापन में वे ही अध्यापक सफलता प्राप्त कर सकते हैं जिनके हृदय में कवि की भावुकता

चिकित्सकों की सहायता ही एक मात्र उपाय है। वातावरण और संगति के द्वारा उत्पन्न दोष दूर करने के लिए अभिभावकों से सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता है।

वाचन के अत्यधिक दोष शिक्षण प्रणाली के दोष से उत्पन्न होते हैं जिनमें मुख्य ये हैं :—पाठ्य वस्तुओं का चुनाव, विभाजन एवं क्रम, अध्यापक की असावधानी तथा अशुद्ध उच्चारणों का अभ्यास, अपर्याप्त एवं अनुयुक्त वाचन सहायक सामग्री, अध्यापक का असहानुभूतिपूर्ण व्यवहार और फलस्वरूप वाचन में अरुचि। यदि ऐसे कारणों से वाचनदोष उत्पन्न हो चुके हैं तो उन्हें उचित प्रबन्ध और शिक्षा-प्रणाली द्वारा दूर किया जा सकता है। सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार एवं प्रत्येक छात्र का व्यक्तिग रूप से ध्यान इनमें सहायक होगा।

पुस्तकें

भाषाध्यापन में दो प्रकार की पुस्तकें प्रयुक्त की जाती हैं :—पाठ्य-पुस्तकें तथा सहायक पुस्तकें।

पाठ्य-पुस्तकें : ये पुस्तकें छात्रों के गंभीर अध्ययन के लिए होती हैं। इनके अध्ययन में प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्यांश तथा प्रत्येक भाव को पूर्णतया: समझने तथा उनको प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती है।

प्रारम्भिक तथा निम्न माध्यमिक कक्षाओं में पाठ्य पुस्तकों का उपयोग दो प्रयोजनों से किया जाता है। प्रथम कक्षा में पाठ का प्रस्तुत करना तथा द्वितीय कक्षा में पाठ पढ़ चुकने के उपरान्त एवं परीक्षा की तैयारी के लिए पाठ्य पुस्तकों का पुनः अध्ययन या पुनरावृत्ति करना आवश्यक होता है। उच्चमाध्यमिक कक्षाओं में यह अत्यन्त आवश्यक है कि छात्र पाठ्य-पुस्तक की सहायता से नवीन पाठ के लिए तैयार होकर कक्षा में आवें, अर्थात् अपनी सामर्थ्य के अनुसार पाठ को कक्षा में आने के पूर्व ही समझने का प्रयत्न करें तथा कठिन स्थलों पर चिह्न लगालें। इस कार्य का प्रशिक्षण अध्यापकों को निम्न माध्यमिक स्तर पर ही देने का प्रयत्न करना चाहिए।

पाठ्य पुस्तकों का चुनाव : अध्यापक को शिक्षा विभाग द्वारा निर्धारित पुस्तकों में से चुनाव करने का कार्य सावधानी के साथ करना चाहिए। पाठ्य

अनुपयोगी अंशों को अलग करने की विधि बताई जाय। इस प्रकार छात्रों में स्वाध्याय की रुचि उत्पन्न होगी। बोध-प्रश्नों द्वारा समय-समय पर यह भी परीक्षा करते रहना चाहिए कि वे वास्तव में पुस्तक पढ़ते हैं या नहीं। इसकी जाँच पढ़ते समय छात्रों द्वारा लिखी गई टिप्पणियों के निरीक्षण से भी की जा सकती है।

आत्म-प्रकाशन

किसी भी व्यक्ति के लिए अपने विचारों तथा अनुभूतियों को प्रकट करना एक स्वाभाविक आवश्यकता है। इसके द्वारा समाज को भी लाभ होता है तथा व्यक्ति को भी आनन्द प्राप्त होता है। जो व्यक्ति किसी न किसी माध्यम से आत्म-प्रकाशन में जितना अधिक समर्थ होता है उतना ही उसे आनन्द प्राप्त होता है और उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

वाणी और लेखनी भी आत्म-प्रकाशन में माध्यम है और भाषाध्यापक का इन्हीं से सम्बन्ध है। आत्म-प्रकाशन पाठों से सम्बन्धित हो सकता है, या पूर्णतयः स्वतन्त्र हो सकता है। पाठों से सम्बन्धित आत्म-प्रकाशन के लिए अवसर प्रस्तुत करना अध्यापक के लिए सरल है। ऐसा अवसर बालकों को पाठ में व्यक्ति विचारों से सहमति या असहमति प्रकट करने के लिए प्रोत्साहित करके प्रदान किया जा सकता है और साहित्य-समालोचना समालोचक का आत्म-प्रकाशन ही है। भाषा में रचना-कार्य भी बालकों को आत्म-प्रकाशन का अवसर प्रदान करता है। भाषाध्यापक को चाहिए कि वह छात्रों को अधिक से अधिक आत्म-प्रकाशन के लिए प्रोत्साहित करे तथा भाषा-पाठों में उसके लिए अवसर प्रदान करे।

स्वतन्त्र आत्म-प्रकाशन के लिए प्रोत्साहित करना कुछ कठिन है, परन्तु बिना स्वतन्त्र आत्म-प्रकाशन के कला का विकास असम्भव है। स्वतन्त्र आत्म-प्रकाशन कक्षा-कार्य का अंग न बनाया जाना चहिए, परन्तु विद्यालय के अन्दर ऐसे अवसर प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिन पर छात्र स्वतन्त्र रूप से आत्म-प्रकाशन कर सकें, उदाहरणार्थ वाद-विवाद प्रतियोगितायें, कहानी प्रतियोगितायें, कवि-सम्मेलन इत्यादि से ऐसे अवसर छात्रों को मिलते हैं।

कहने में भाव के अनुसार स्वर में स्वाभाविक उतार-चढ़ाव तथा भाव-मुद्राओं में स्वाभाविक परिवर्तन होने चाहिए। कथा सुनाने वाला बीच-बीच में छात्रों से प्रश्न भी करता रहे, प्रश्न या तो सुनाए हुए अंश से सम्बन्धित हो सकते हैं या सम्भावित घटनाओं के बारे में। अन्त में कहानी छात्रों से भी सुन लेनी चाहिये।

कहानी के पाठ सूत्र में प्रस्तावना, उद्देश्य-कथन, कहानी का प्रस्तुत करना तथा गृह-कार्य मुख्य अंग हैं। गृह-कार्य में सुनी हुई कहानी को संक्षेप में लिखना, कहानी को निम्न रूप में लिखना, उसे नाटक रूप में लिखना, विभिन्न छात्रों से भिन्न-भिन्न भूमिकायें याद कराना आदि कार्य दिए जा सकते हैं।

लिखना

लिखना सिखाने के बारे में विशेषकर उसके प्रारम्भ करने के बारे में बड़ा मत-वैषम्य है। कुछ शिक्षाविदों का मत है कि पढ़ना सिखाने के उपरान्त जब बालक स्वयं लिखने की आवश्यकता अनुभव करने लगे तब उसे लिखना सिखाया जाय, कुछ का मत है कि प्रारम्भ में लिखना ही सिखाया जाय, पढ़ने का अभ्यास बाद में दिया जाय, या लिखने के साथ ही साथ पढ़ना सिखाया जाय। अधिकतर लोग पढ़ना और लिखना दोनों साथ ही साथ छः वर्ष की आयु में सिखाना उचित समझते हैं। बालक अनुकरणशील होता है अतः उसमें दूसरों को लिखते देखकर स्वयं लिखने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। पढ़ना और लिखना साथ-साथ सीखने से कहना, सुनना तथा करना तीनों साथ साथ होते हैं जिससे दोनों का सीखना सरल हो जाता है। अतः इस आयु में लिखना तथा पढ़ना दोनों साथ-साथ सिखाना अनुचित नहीं है।

पहले बालू में और फिर स्लेट पर सीधी-टेढ़ी रेखायें खींचने के लिए बच्चों को प्रेरित करना चाहिए। तदन्तर परिचित वस्तुओं की आकृति बनाने के लिए प्रेरित करके विभिन्न प्रकार की रेखायें खींचने का अभ्यास करना चाहिये। फिर खाकों पर अभ्यास करना चाहिये। इसके उपरान्त ऐसे वर्णों का लिखना सिखाया जाय जिनकी सहायता से बालक के परिचित शब्द बन सकते हों। अध्यापक श्यामपट पर अलग-अलग वर्ण लिखे तथा बालक अपनी पट्टियों पर

उत्तर, वाक्य-पूर्ति, शब्दों, वाक्यों तथा मुहावरों का वाक्यों में प्रयोग इत्यादि का अभ्यास कराया जाता है। परन्तु रचनाध्यापन के मुख्य उद्देश्य हैं तर्क संगत ढंग से सोचने एवं विचारों को संगठित करने के अभ्यास द्वारा शुद्ध एव प्राभावोत्पादक भाषा में भावों तथा विचारों के प्रकाशन की क्षमता उत्पन्न करना और इस प्रकार सत्साहित्य के सृजन की प्रेरणा देना।

उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधारण वाक्य निर्माण से प्रारम्भ करके, अनेक प्रकार की रचनाओं से छात्रों को अवगत कराया जाता है जो इस प्रकार है : कहानी सुनाना, देखी हुई घटनाओं एवं वस्तुओं का वर्णन करना, पत्र एवं आवेदन-पत्र लिखना, पढ़ी हुई कहानी फिर से लिखना, भावार्थ लिखना, सूत्र रूप में दिए हुए तथ्यों का विस्तार करना, भावार्थ, निबन्ध, कविता, कहानी एवं नाटक लिखना, तथा भाषण देना। ध्यान यह रखना चाहिए कि पहले सरल रचनाओं के लिए प्रेरित किया जाय और उसके उपरान्त कठिन रचनाओं की ओर बढ़ा जाय।

रचनाध्यापन में सबसे विषद समस्या है रचनाओं का संशोधन, क्योंकि छात्र इतनी अशुद्धियाँ करते है कि अध्यापक को संशोधन में अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। परन्तु उन अशुद्धियों का निवारण करने के उपाय हैं और उनका प्रयोग अध्यापक के कार्य को सरल कर देगा। छात्रों को लिखित कार्य देते समय ध्यान रखना चाहिए कि कार्य छात्रों की योग्यता के अनुरूप हो। लिखित कार्य किये हुये मौखिक कार्य पर आधारित होना चाहिए तथा कार्य अधिक लम्बा न होना चाहिए। निबन्ध आदि के विषय-निर्वाचन में छात्रों को यथासम्भव स्वतन्त्रता देनी चाहिए जिससे वे अपनी रुचि और आवश्यकताओं के अनुसार विषय का चुनाव कर सकें। छात्रों को केवल अपने विचार व्यक्त करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। उन्हें किसी प्रकार की शैली के लिए वाध्य न करना चाहिए। रचनाएँ छात्रों के उस ज्ञान से सम्बन्धित रहनी चाहिए जिसे उन्होंने पढ़कर, सुनकर यथा अपने सामाजिक तथा अन्य प्रकार के वातावरण के निरीक्षण से प्राप्त किया है। छात्रों के सम्मुख अच्छी-अच्छी रचनायें आदर्श रूप में प्रस्तुत करना भी उपयोगी है। छात्रों को भली प्रकार समझा देना चाहिए कि वे एक वाक्य में केवल एक विचार व्यक्त करें, वाक्य

लिखने में शुद्धता और सुन्दरता के साथ-साथ उचित गति भी हो, और वर्तनी एवं विराम प्रयोग की दृढ़ता उत्पन्न हो।

श्रुतांकन के लिए चुने हुए गद्य खंड से छात्रों को पहले परिचित करा देना तथा कठिन शब्दों की वर्तनी का अभ्यास करा देना अत्यन्त उपयोगी है। तदन्तर अध्यापक द्वारा गद्यांश का स्वर वाचन, विराम चिन्हों को ध्यान में रखते हुए धीरे-धीरे खण्डशः पुनः सस्वर वाचन तथा छात्रों का साथ-साथ श्रुतांकन, पुनः एक बार अध्यापक का सस्वर वाचन और साथ-साथ छात्रों का मौन वाचन, तथा स्वयं संशोधन, अध्यापक द्वारा अशुद्धियों पर चिन्ह लगाना, छात्रों द्वारा शब्द-कोष की सहायता से शब्दों को शुद्ध लिखना, तथा अन्त में अध्यापक के हस्ताक्षर क्रमशः होने चाहिए।

द्रुत पठन

वास्तव में सहायक पुस्तकों का उपयोग द्रुत पठन के अभ्यास कराने के लिए होता है। द्रुत पठन गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों प्रकार का होता है। इसमें प्रत्येक शब्द को पढ़ना आवश्यक नहीं होता। छात्रों को इसका अभ्यास कराने के लिये सर्वप्रथम पाठ से सम्बन्धित प्रश्न श्यामपट पर लिख देना चाहिये, और तब छात्रों से मौन वाचन करवाना चाहिये। मौन वाचन का समय धीरे-धीरे कम करते जाना चाहिये। इस प्रकार उन्हें शीघ्र पढ़कर सार ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त होगी।

द्रुत पठन के पाठ-सूत्र में उद्देश्य कथन, सस्वर वाचन (स्वयं अध्यापक द्वारा अथवा सुवाचक छात्र द्वारा) कक्षा द्वारा मौन वाचन, कठिन स्थलों का रेखांकन, काठिन्य-निवारण, पुनः मौन वाचन और अन्त में बोध-प्रश्न यही पद होने चाहिए। गृह-कार्य ऐसा होना चाहिए कि छात्र घर पर पाठ को पुनः पढ़े।

छन्द-शास्त्र का शिक्षण

भाषा की प्रभावशीलता एवं शब्दों की क्षमता बढ़ाने का संगीतात्मक विन्यास एक सुगम साधन है और संगीतात्मक विन्यास को ही छन्द कहते हैं। अतः कविता के अध्यापन में छन्द शास्त्र का ज्ञान कराना उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है।

सारांश

मनुष्य जाति की उन्नति में उसके भाषा-ज्ञान ने बड़ी महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की है, क्योंकि भाषा के अभाव में चिन्तन-प्रक्रिया और विचारों का संकलन असम्भव है। शब्दमयी भाषा और लिपि ने मानव-ज्ञान के विकास को गति प्रदान की। अतः पाठ्यक्रम में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान न्यायसंगत है।

मातृभाषा व्यक्ति के लिए अन्य भाषाओं से अधिक उपयोगी है, क्योंकि मातृभाषा के माध्यम से चिन्तन तथा आत्मप्रकाशन अधिक सरल, प्रभावोत्पादक एवं विश्वसनीय होता है। मातृभाषा का स्थान पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण तो होना ही चाहिए, परन्तु मातृभाषा का अन्य विषयों का माध्यम होना भी आवश्यक है।

छात्रों में मातृ भाषा के समुचित विकास का उत्तरदायित्व विद्यालय के सम्पूर्ण अध्यापकों पर है, परन्तु मातृभाषा के अध्यापक पर विशेष रूप से है। भाषाध्यापक को प्रयत्न करना चाहिए कि वह ध्यान रक्खे कि छात्र भाषा का प्रयोग शुद्धता एवं प्रभावोत्पादकता के साथ करते हैं तथा उनमें भाषा के प्रति निष्ठा और प्रेम भी उत्पन्न हो रहा है।

मातृ भाषा के शिक्षण का मुख्य उद्देश्य है छात्रों में ऐसी क्षमता उत्पन्न करना कि वे मातृभाषा के माध्यम से विचारों और भावों को यथार्थ रूप में ग्रहण कर सकें, तथा स्वयं अपने भावों और विचारों को व्यक्त कर सकें। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए विभिन्न कक्षाओं में मनोवैज्ञानिक आधार पर भाषाध्यापन के उद्देश्य निश्चित करने चाहिए।

भाषाध्यापकों को शुद्ध उच्चारण पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वाचन में शुद्ध उच्चारण के लिए स्वयं आदर्श स्वरूप वाचन करना चाहिये। छात्रों को सस्वर और मौन, दोनों प्रकार के समुचित वाचनों का अभ्यास कराना चाहिए तथा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वाचन के साथ-साथ वे भाव भी ग्रहण करते हैं। इसकी परीक्षा वाचन के उपरान्त बोध-प्रश्नों द्वारा करते रहना चाहिए।

व्याकरण, छन्द शास्त्र एवं अलंकार-शास्त्र के अध्यापन में नियम तथा लक्षण आगमन रीति से निकलवाकर निगमन रीति से उनका अभ्यास कराना लाभप्रद है। व्याकरण एवं छन्द शास्त्र का शिक्षण निम्न माध्यमिक स्तर से तथा अलंकार-शास्त्र का अध्यापन उच्च या माध्यमिक स्तर से प्रारम्भ करना चाहिये।

छात्रों की साहित्य में रुचि उत्पन्न करने के लिये पाठ्य पुस्तकों के चयन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। पुस्तकों में संकलन साहित्यकारों की सर्वोत्तम रचनाओं का होना चहिये। अध्यापन काल में सुन्दर-सुन्दर उद्धरणों को प्रस्तुत करना भी साहित्यिक रुचि को उत्पन्न करने में सहायक होता है। छात्रों के लिये ऐसे अवसर एवं साधन उपलब्ध करना चाहिये कि वे भाषा एवं साहित्य के माध्यम से आत्मा-प्रकाशन कर सकें और इस प्रकार उनमें साहित्यिक रुचि स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होगी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. छात्रों में हिन्दी के समुचित ज्ञान के विकास का उत्तरदायित्व भाषाध्यापक के अतिरिक्त अन्य अध्यापकों का किस सीमा तक है? भाषाध्यापक के विशेष उत्तरदायित्व पर एक छोटा सा लेख लिखिये।

२. सस्वर एवं मौन वाचनों के उद्देश्य बताते हुये स्पष्ट कीजिये कि वाचनों के समय अध्यापक को किन बातों पर ध्यान देना चाहिये।

३. गद्य और पद्य पाठों के उद्देश्यों में क्या अन्तर है तथा अध्यापक को दोनों की अध्यापन प्रणालियों में क्या अन्तर रखना चाहिये?

४. व्याकरण, छन्द-शास्त्र एवं अलंकार-शास्त्र के अध्यापन में आगमन और निगमन विधि के प्रयोग पर प्रकाश डालिये।

५. रचनाध्यापन में अध्यापक कौन से ऐसे ढंग अपनावे कि छात्रों को शुद्ध एवं प्रभावोत्पादक भाषा प्रयोग करने का अभ्यास हो, आत्म-प्रकाशन के लिये प्रोत्साहन मिले तथा उनमें स्वाध्याय एवं साहित्य सृजन की रुचि उत्पन्न हो?

होता है । यदि अध्यापक में शराब पीने का दुर्व्यसन है तो वह शराब पीने की निन्दा मौखिक रूप में चाहे जितने प्रभावशाली शब्दों में करे फिर भी विद्यार्थियों के सम्मुख उसकी यह शिक्षा अरण्य-रोदन के अतिरिक्त कुछ न होगी। चरित्र की शिक्षा साक्षात् आदर्श उपस्थित करने से ही प्रदान की जा सकती है ।

अंग्रेजों के एक विद्वान का कहना है कि धन के खो जाने पर सोचना चाहिए कि कुछ भी नहीं खोया है । स्वास्थ्य के बिगड़ जाने पर सोचना चाहिए कि कुछ खो गया तथा चरित्र के खो जाने पर समझना चाहिए कि सब कुछ खो गया। वस्तुत: मानव जीवन में चरित्र के महत्व को दृष्टिगत करते हुए यह कहना होगा कि उपरोक्त उक्ति अक्षरस: सत्य है। अतः अध्यापकों का चाहिये कि वे स्वयं चरित्रवान हों और चरित्र की शिक्षा प्रदान करते समय विद्यार्थियों के सम्मुख आदर्श उपस्थित कर सकें, तभी उनकी शिक्षा से विद्यार्थी प्रभावित होगे। चरित्रवान् व्यक्ति के संसर्ग में रहकर चरित्रहीन भी चरित्रवान बन जाते हैं। बालक स्वभावतया अनुकरण-प्रिय होते हैं। अत: अध्यापक का चरित्रवान होना चरित्र की शिक्षा प्रदान करने के लिये परमाश्यक है । खेद का विषय है कि हमारे स्कूलों में जीवन-सम्बन्धी इस आवश्यक शिक्षा की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। अत: इस ओर यथेष्ट ध्यान प्रदान करना अध्यापकों का प्रमुख कर्त्तव्य है ।

शिष्टाचार की शिक्षा

भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति में नैतिक शिक्षा को विशेष महत्व दिया जाता था। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य जिनमें भारत की पुरानी सभ्यता के दर्शन होते हैं, श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं । परन्तु परतन्त्रता के साथ-साथ प्राचीन सभ्यता का भी ह्रास होता गया और भारतीय शिष्टाचार जो कि नैतिक शिक्षा का प्रमुख अंग है, विलीन सा हो गया। बालक को शिष्टाचार की प्राथमिक शिक्षा उसके माता-पिता से प्राप्त होती है। चरित्र को शिक्षा की भाँति इसमें भी आदर्श का बड़ा महत्व है। वे बालक जिन्हें उनके संरक्षकों द्वारा किसी कारणवश शिष्टाचार की उचित शिक्षा नहीं मिली रहती, सर्वदा अशिष्ट व्यवहार तथा कार्य किया करते हैं । किसी

नैतिक शिक्षा की आवश्यकता उद्देश्य तथा उसके विभिन्न अंगों पर विचार करने के पश्चात् हमें यह निश्चित करना है कि विभिन्न स्तर की कक्षाओं में इसकी शिक्षा प्रदान करने हेतु इसका कौन सा स्वरूप निश्चित किया जाय। नीचे हम इसी की ओर संकेत करेंगे।

प्रारम्भिक कक्षाओं में नैतिक शिक्षा

किसी विषय के पाठ्यक्रम को कक्षा विशेष के लिये निश्चित करने के पूर्व हमें उस कक्षा के विद्यार्थियों की मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक तथा नैतिक क्षमता पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ध्यान देना आवश्यक है। पाठ्यक्रम इतना विस्तृत तथा उससे सम्बन्धित पाठन-विधि ऐसी जटिल न हो जो विद्यार्थियों को भार स्वरूप प्रतीत हो सके।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्राथमिक कक्षा में कहानियों द्वारा नैतिक शिक्षा प्रदान करना समीचीन है। अध्यापक को चाहिये कि वह ऐसी कहानियों का चयन करे जिनसे बालकों को नैतिक शिक्षा मिल सके। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहानियों के पात्र यदि बालक पशु तथा राजा-रानी हों तो अधिक उपयोगी होगा। इस दृष्टि से पंचतन्त्र तथा हितोपदेश की कहाँनियाँ अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। पुराण, महाभारत तथा रामायण के अंशों से भी बालकों को भौतिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है। यथा गुरु-विश्वास की शिक्षा देने के लिए एकलव्य की कहानी सुनायी जा सकती हैं। भ्रातृ-प्रेम तथा पितृ आज्ञा के पालन के सम्बन्ध में राम-लक्ष्मण के बनागमन और वचन निभाने के सम्बन्ध में दशरथ द्वारा राम को बन जाने की आज्ञा देने की कहानियाँ बताई जा सकती है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कहानी द्वारा बालकों में सच बोलने की भावना उत्पन्न की जा सकती है। इसी प्रकार ध्रुव तथा प्रह्लाद आदि की कहानियों द्वारा बालकों को नैतिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है।

मानव धर्म से परिचित कराने के लिए कहानियों द्वारा बालकों की कल्पना में ईश्वर को दयालु पिता के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। उन्हें यह बोध हो कि विभन्न वर्णों तथा जाति के मनुष्य मानवता के नाते आपस में भाई-भाई हैं। पहले वे मनुष्य हैं बाद में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, अमेरिकन,

निष्कर्ष की प्राप्ति में वह मानव धर्म से परिचित हो जावेगा । यहीं पर नैतिक शिक्षा के सिद्धान्त की पूर्ति होती है । अतः अध्यापक को चाहिए कि विद्यार्थियों में उक्त गुणों के सृजन के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे । नैतिक शिक्षा प्रदान करने में अध्यापक की नैतिकता का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । अतः अध्यापक का आदर्श बनना अत्यन्त आवश्यक है । यदि अध्यापक चरित्रवान, शिष्ट, तथा आदर्श अध्यापक के रूप में होगा तो उसके द्वारा दी गई नैतिक शिक्षा अत्यधिक प्रभावशाली तथा देश, समाज और विश्व में सुख शान्ति तथा प्रेम स्थापित करके मानव को मानवीय गुणों से सुसज्जित करने में अवश्य सफल सिद्ध होगी ।

सारांश

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य :

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति की भावनाओं को परिष्कृत करके उसे मानवीय गुणों से सम्पन्न करना है, जिससे वह मनुष्यता का बोध सरलता पूर्वक कर सके।

चरित्र-निर्माण :

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण है । हम उस व्यक्ति को चरित्रवान कह सकते है जिसके कार्यों से किसी को दुख न पहुँचे तथा समाज का अहित न हो। चरित्र निर्माण की शिक्षा आदर्श के माध्यम द्वारा प्रभावशाली हो सकती है । इसके लिये अध्यापक को स्वयं अपने चरित्र पर ध्यान देना होगा ।

शिष्टाचार की शिक्षा :

शिष्टाचार नैतिक शिक्षा का प्रमुख अंग है । बालक को इसकी शिक्षा सर्वप्रथम परिवार संरक्षकों द्वारा प्राप्त होती है । यदि किसी प्रकार की त्रुटि के कारण बालक को उक्त शिक्षा समुचित रूप में नहीं मिल पाती तो वह अशिष्ट बना रहता है ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. वर्तमान शिक्षा प्रणाली में नैतिक शिक्षा का क्या स्थान है ? भारत की प्राचीन नैतिक शिक्षा पर प्रकाश डालिये ।
२. नैतिक शिक्षा की आवश्यकता तथा उद्देश्य का वर्णन कीजिये ।
३. नैतिक शिक्षा में शिष्टाचार का क्या स्थान है ?
४. नैतिक शिक्षा में धर्म कहाँ तक सहायक हो सकता है ?
५. विभिन्न स्तर की कक्षाओं में नैतिक शिक्षा का स्वरूप निश्चित कीजिए ।

उच्चारण की शुद्धता

शुद्ध उच्चारण प्रत्येक भाषा में महत्त्वपूर्ण है । अशुद्ध उच्चारण से अर्थ-भ्रम उत्पन्न होता है तथा वह वक्ता के लिए उपहास का कारण होता है। संस्कृत में तो उच्चारण का महत्व और भी अधिक है, क्योंकि इसमें साधारण उच्चारण दोष से अर्थ का अनर्थ हो जाता है । उदाहरणार्थ 'श' और 'स' के उच्चारण भेद पर ध्यान न देने से वक्ता 'स्वजन' (आत्मीय जन) 'श्वजन' (कुत्ते लोग); 'सकल' (सम्पूर्ण) 'शकल' (खंड) तथा 'सस्कृत' (एक बार) 'शकृत' (विष्ठा) के प्रयोग में ऐसी भूलें करेगा जो केवल उपहास ही नहीं वरन् शत्रुता भी आमंत्रित कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि संस्कृत के अध्यापक को बालकों के उच्चारण पर ध्यान देना चाहिए और बालकों को स्वयं शुद्ध उच्चारण बताने के उपरान्त उसका अभ्यास करवाना चाहिए । शुद्ध उच्चारण के अभ्यास कराने के लिए दो ढंग अपनाये जा सकते हैं; प्रथम, कक्षा के सम्पूर्ण बालकों को सामूहिक रूप में शब्दोच्चारण का अभ्यास करवाना; द्वितीय, प्रत्येक बालक को पृथक्-पृथक् अभ्यास करवाना । प्रथम ढंग में कुछ त्रुटियाँ हैं। एक तो इस ढंग से इतना भीषण कोलाहल उत्पन्न होगा कि निकटवर्ती कक्षाओं में अध्यापन-कार्य असम्भव हो जायेगा । दूसरे, अध्यापक को यह समझना कठिन हो जायेगा कि कोई बालक अशुद्ध उच्चारण का ही अभ्यास तो नहीं कर रहा है या कोई बालक ऐसा तो नहीं है जो उच्चारण कर ही न रहा हो। दूसरे ढंग में यह त्रुटि है कि बड़ी कक्षा में प्रत्येक बालक को एक शब्द के उच्चारण का अभ्यास करवाना दुष्कर है; फिर भी दूसरा ढंग पहले से उत्तम है । उच्चारण का अभ्यास केवल उच्चारण करने से ही नहीं, उच्चारण सुनने से भी होता है । जिस शब्द के उच्चारण का अभ्यास किया जाय, उसे अध्यापक को चाहिए कि श्यामपट पर लिखदे तथा छात्रों को उनकी अभ्यास-पुस्तिका पर लिखवा दे । इससे छात्रों को शुद्ध लिखने का भी अभ्यास हो जायगा ।

संस्कृत-शिक्षण की विविध विधियाँ

संस्कृत शिक्षण की सुगम प्रणाली :

इस प्रणाली में शब्द और अनुभव के पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना द्वारा

अर्थ समझने का, भाव-प्रकाशन का, तथा शुद्ध उच्चारण का अभ्यास छात्रों को एक साथ होता था।

मौखिक भाव-प्रकाशन के अवसर पर मातृभाषा का प्रयोग तब तक वर्जित होना चाहिये, जब तक किसी शब्द या वाक्य को समझाने के लिये अनुवाद के सिवा कोई दूसरा उपाय उपलब्ध ही न हो। शब्दों के अर्थ के साथ सम्बन्ध सीधा स्थापित होना, मातृभाषा के माध्यम से स्थापित होने से अधिक उपयोगी है।

भाव-प्रकाशन के अभ्यास में व्याकरण का स्थान नगण्य है, और व्याकरण विद्यार्थियों के लिए अनावश्यक है। तथापि अध्यापक के लिए व्याकरण पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है, और पाठ संकेत के निर्माण में तो उसे व्यकारण से अवश्य सहायता लेनी चाहिए। भाषा सिखाते समय यद्यपि व्याकरण के सिद्धान्तों पर अधिक बल देना अनावश्यक है तो भी अध्यापक को अपनी सफलता के लिये तथा शुद्धता के लिये व्याकरण पर अवलम्बित होना स्वाभाविक है। व्याकरण के वे सिद्धान्त जो भाषा सीखने के लिये उपयोगी हों, बालकों को बताना अहितकर भी नहीं। व्याकरण-शिक्षण की ओर आगे संकेत किया गया है।

मौखिक भाव-प्रकाशन :

मौखिक भाव-प्रकाशन भाषा का मौलिक अंग है। वास्तव में भावों के मौखिक प्रकाशन के साथ-साथ ही भाषा की प्रारम्भिक प्रगति हुई है। अत: किसी भी भाषा के, विशेष रूप से मातृभाषा से भिन्न किसी भाषा के, अध्यापक को मौखिक भाव-प्रकाशन पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। मौखिक भाव-प्रकाशन दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है, प्रथम तो इसकी क्षमता के अभाव में भाषा का ज्ञान अपूर्ण है, दूसरे यह बालक के मन में भाषा के प्रति रुचि उत्पन्न करता है।

मौखिक भाव-प्रकाशन के लिए संस्कृत अध्यापक को कक्षा में ऐसी परिस्थिति और ऐसा वातावरण उत्पन्न करने की आवश्यकता है जिससे बालक संस्कृत भाषा में बोलने के लिए उत्साहित हो। अध्यापक को स्वयं संस्कृत भाषा में

करना चाहिये। यदि परस्पर बालक भी संस्कृत में वार्तालाप करने के लिये प्रोत्साहित किये जा सकें तो यह अत्यन्त उत्तम हो।

कहानी कथन-पद्धति :

संस्कृत में कहानी-साहित्य की प्रचुरता है। पंचतन्त्र तथा अन्य कई ग्रन्थ कहानियों के भन्डार हैं। इन कहानियों को पढ़ने से स्पष्ट रूप से यह विदित हो जाता है कि ये विशेषकर शिक्षा के ध्येय से ही प्रेरित होकर लिखी गईं थी तथा प्राचीन भारत में कहानी कथन-पद्धति का दैनिक शिक्षण में प्रयोग होता था। इन कहानियों का लक्ष्य लोगों को व्यवहार कुशल, नीतिवान एवं सांसारिक परिस्थितियों का सामना करने में चतुर बनाना था।

बालक को कहानी में स्वाभाविक रुचि होती है। अत: कहानियों का उनके मन पर स्थाई प्रभाव पड़ता है। छत्रपति शिवाजी को वीरत्व की शिक्षा उनकी माँ ने कहानियों द्वारा ही दी थी। परन्तु बालकों की रुचि उन्हीं कहानियों में होती है जिनमें अत्यधिक मानसिक अभ्यास की आवश्यकता न हो, वरन् साधारण परन्तु कौतूहलपूर्ण वर्णन हों। वर्णन सजीव, वीरतापूर्ण तथा साहसिक हों और अन्तिम विजय वीरता और साहस को प्राप्त हो।

कहानियों को सुनकर बालकों को भाव-प्रकाशन का अभ्यास प्राप्त होता है, तथा शब्दों, वाक्यों, मुहावरों आदि का प्रभावशील ढंग से प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त होती है। कहानियों से बालकों को व्यहार-कुशलता से परिचित कराया जा सकता है तथा उनकी तर्क-शक्ति, विवेक एवं संकल्प को विकसित किया जा सकता है। कहानियाँ कहकर तथा सुनकर बालकों को निर्भीकता पूर्वक तथा धाराप्रवाह और प्रभावोत्पादक ढंग से विचारों को प्रकट करने का अभ्यास होता है।

कहानी कथन के सम्बन्ध में संस्कृत अध्यापकों को निम्न बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए :—

(१) कहानी बालकों के समक्ष प्रेमपूर्वक प्रस्तुत की जाय तथा कहानी कहते समय बालकों को यह आभास न हो कि अध्यापक केवल चारित्रिक शिक्षा

लिखवा देना अति उपयोगी है। प्रत्येक भाग सुनने के उपरान्त कुछ प्रश्न बालकों से पूछ कर अध्यापक को पता लगा लेना चाहिये कि बालक किस मात्रा में कहानी समझ रहे हैं। सम्पूर्ण कहानी कहने के पश्चात् पुनरावृत्यात्मक प्रश्नों द्वारा कहानी दुहराना भी आवश्यक है। तदुपरान्त कहानी पुस्तक से पढ़ी जानी चाहिये और किसी अच्छे बालक से संस्कृत में ही कहानी कहलाई जानी चाहिए।

अनुवाद प्रणाली :

संस्कृत शिक्षण-संस्थाओं में अधिकतर अनुवाद-प्रणाली का ही प्रयोग किया जाता है, अतः इस प्रणाली के गुण-दोषों पर विचार करना आवश्यक है।

अनुवाद प्रणाली के गुण : एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद करना एक कला है जिसमें अनुवादक के लिए उस कला-सम्बन्धी ज्ञान की आवश्यकता है। सर्वप्रथम दोनों भाषाओं का यथेष्ट ज्ञान हो। मूल भाषा में व्यक्त भावों को समझने की शक्ति तथा जिस भाषा में अनुवाद करना है उस भाषा में भाव व्यक्त करने की सामर्थ्य तथा पर्याप्त शब्द-भंडार होना भी अनिवार्य है। अतः बालक में यदि अनुवाद करने की रुचि है तो वह इन सभी गुणों को प्राप्त करने के लिए अथक परिश्रम करेगा और इस प्रकार दोनों भाषाओं में ज्ञान की वृद्धि होगी।

अनुवाद-प्रणाली के दोष : इस प्रणाली के गुण में ही इसका दोष भी निहित है। यद्यपि प्रतिभाशील और परिश्रमी बालक अनुवाद के लिये आवश्यक गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा और सफल भी हो सकता है, परन्तु साधारण बालक इस प्रणाली में नीरसता का अनुभव करेगा तथा मनःस्थिति पर ऐसा प्रभाव पड़ सकता है कि उसे संस्कृत भाषा में कोई रुचि ही न रहे। अनुवाद के आधार पर सीखने से संस्कृत भाषा के माध्यम से सोचने और समझने की सामर्थ्य नहीं उत्पन्न होगी। बालक के मन में सर्वप्रथम विचार मातृभाषा में उत्पन्न होंगे, फिर वह उनको संस्कृत भाषा में अनुवाद करेगा। इस प्रकार जो कुछ भी वह संस्कृत में बोलेगा या लिखेगा उसमें मौलिकता तथा धारा-प्रवाहता का अभाव होगा, और समय का भी दुरुपयोग होगा। उसी

संस्कृत गद्य-शिक्षण

संस्कृत में गद्य-रचना प्राचीन काल से मिलती है। वैदिक काल में तैत्तरीय संहिता इसका प्राचीनतम उदाहरण है। संस्कृत गद्य की संक्षिप्तता इसका विशेष गुण है। समासों के प्रयोग के कारण संस्कृत गद्य में भाव थोड़े ही स्थान में व्यक्त हो जाते हैं तथा उनमें ओज होता है।

गद्य-शिक्षण के लिए पाठ्य पुस्तकों को संग्रहीत करने में कुछ विशेष बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। संग्रहीत गद्य खंड बालकों की स्वाभाविक रुचि, उनके वातावरण एवं बौद्धिक स्तर के अनुकूल होना चाहिए। गद्य पाठों का संग्रह करने के लिये बालकों की आयु के अनुसार, उनको रुचि एवं कक्षाओं के अनुसार उनके बौद्धिक स्तर का अनुमान करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रारम्भिक कक्षाओं के लिये चुने हुए गद्य-खंड सरल तथा सुबोध होने चाहिये और उनमें छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग होना चाहिये। इनमें समास और संधियों का प्रयोग बहुत ही कम होना चाहिये। छोटी-छोटी कहानियों का संग्रह पंचतंत्र और हितोपदेश से किया जा सकता है। कहानियों में बालकों की विशेष रुचि होती है। अतः संग्रह में कहानियों का बाहुल्य होना नितान्त ही आवश्यक है। संग्रह में प्रथम पाठ अति सरल हो और अन्तिम पाठ तक क्रमशः कठिनाई बढ़ती रहे। उससे अगली कक्षा के संग्रह भी क्रमशः प्रथम संग्रह से कठिनतर होते जाँय। ऐसे गद्य पाठों का भी संग्रह करना चाहिये जिनमें यात्रा, प्राकृतिक दृश्य, जीवन चरित्र, विभिन्न देशों का रहन-सहन और आचार-व्यवहार, तथा वैज्ञानिक आविष्कारों का वर्णन हो। पाठों में अभिनय योग्य सम्वाद भी होने चाहिये। उपरोक्त सभी विषयों के संग्रह में समावेश करने में बालकों की रुचि का अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

संस्कृत गद्य-शिक्षण के उद्देश्य

गद्य शिक्षण का मुख्य उद्देश्य होता है बालकों को इस योग्य बनाना कि वे मौखिक या लिखित गद्य में व्यक्त भावों को अधिक से अधिक स्पष्टता के साथ समझ सकें, तथा अपने भावों और विचारों को मौखिक या लिखित गद्य में स्पष्टता के साथ तथा प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त कर सकें। इसके लिये छात्रों के शब्द-भंडार की वृद्धि करने और शब्दों के प्रयोग तथा वाक्यों की

संयोग, विप्रयोग : प्रसिद्ध सम्बन्ध-विभाग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ प्रकरण, लिंग सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर आदि पर ध्यान देना चाहिए।

व्याख्या करने के लिए आधुनिक पद्धतियों के अनुसार निम्न साधन अपनाये जाने चाहिये :—(१) रेखा चित्र दिखाना, (२) सम्बन्धित वस्तु का प्रस्तुत करना (३) चित्र, मानचित्र,अथवा प्रति मूर्ति दिखाना, (४) प्रश्न करना, (५) तुलना करना (६) उदाहरण प्रस्तुत करना, (७) अन्तर्गत कथाओं का वर्णन करना (८) पर्याय वाची शब्द बताना, (९) वाक्य प्रयोग करना (१०) अभिनय करना, (११) वाक्य विच्छेद करना : मिश्रित तथा संयुक्त वाक्यों का साधारण वाक्यों में विच्छेद, (१२) व्युत्पत्ति करना।

पाठ समाप्त हो जाने के पश्चात् आवृत्यात्यक प्रश्न पूछकर अभ्यास के लिये ऐसी समस्यायों और प्रश्न दिए जाने चाहिए कि घर पर उनको करने के उपरान्त बालकों को पठित पाठ का अभ्यास हो जाय। यदि समय हो तो कक्षा में ही इसका अभ्यास कराया जा सकता है।

संस्कृत कविता पढ़ना

उद्देश्य :

संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने काव्य की रचना तथा पठन-पाठन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करना बताया है। स्तोत्र आदि के पठन-पाठन से धर्म की प्राप्ति, राजाओं के आश्रम में काव्य रचना करने से धन और काम की प्राप्ति, तथा कामना रहित भक्ति-काव्य की रचना एवं पठन-पाठन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। भामह, कुन्तक और मम्मट आदि आचार्यो ने इन्हीं उद्देश्यों पर जोर दिया है। कुन्तक ने तो कविता का उद्देश्य व्याधियों का अन्त तथा विवेक और आनन्द की प्राप्ति भी बताया है। वर्तमान युग में भी कविता का उद्देश्य विवेक तथा आनन्द की प्राप्ति मात्र है। कविता का विशेष गुण रस है अत: रसास्वादन ही कविता की रचना तथा पठन-पाठन का मुख्य उद्देश्य माना गया है।

कवि के हृदय में जिन संवेगों की अनुभूति होती है उनको वह छन्दाबद्ध कर कविता के सुन्दर रूप में श्रोता तथा पाठकगण के सम्मुख प्रस्ततु करता है

कविता पाठ के उपरान्त पदच्छेद, जिसमें सन्धि विच्छेद मुख्य है, कराना चाहिए और तत्पश्चात् अन्वय। अन्वय की दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं (१) दण्डान्वय प्रणाली, अर्थात् सर्व प्रथम प्रधान वाक्य को ढूंढना और कर्त्ता, कर्म और क्रिया का ज्ञान कराना और तदुपरान्त वाक्य में प्रयुक्त विशेषण, अव्यय एवं अन्य क्रियाओं का ज्ञान कराना, और इस प्रकार सम्पूर्ण पद्य को एक पूर्ण वाक्य में बदलना। इस प्रकार का अन्वय कराने में अध्यापक मातृभाषा के माध्यम का अवलम्बन करता है। (२) खण्डान्वय-प्रणाली अर्थात् सम्पूर्ण पद्य का भाव खण्डों में विभाजित करके संस्कृत प्रश्नों द्वारा छात्रों को भावों से अवगत करना, तथा वाक्यान्तर्गत कर्त्ता, कर्म तथा विशेषण आदि का बोध कराना। प्रश्न अधिकतर व्याकरण-सम्बन्धी न होकर साहित्यिक होते हैं।

वास्तव में खण्डान्वय-प्रणाली प्रश्नोत्तर प्रणाली का ही एक रूप है, यह प्रणाली मीमांसा शास्त्र के आधार पर बनी है। मीमांसा शास्त्र के अनुसार, वाक्यार्थ के लिए आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि तीनों आवश्यक हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रश्नोत्तर प्रणाली का आधार मनोवैज्ञानिक है।

खण्डान्वय-पद्धति की विशिष्टतायें : इस पद्धति में संस्कृत में प्रश्न किए जाने के कारण छात्रों की आकांक्षा सदैव जागृत रहती है और संस्कृत के माध्यम से ही विचार करने की सामर्थ्य छात्रों में उत्पन्न होती है। अतः यह दण्डान्वय पद्धति से उत्तम है। व्यक्तिगत शिक्षण में यह उतनी उपयोगी नहीं है जितनी सामूहिक शिक्षण में। इस प्रणाली से पद्य में व्यक्त भाव प्रश्नों द्वारा ही प्रकट् हो जाते हैं।

अन्वय के उपरान्त पद के अर्थ को कहने तथा पद्य के तात्पर्य को समझाने का अवसर होता है। पदों के अर्थ और समास-विग्रह साथ ही साथ बताना उचित है, क्योंकि बिना पदों के अर्थ जाने समास का समझाना असम्भव है। पदों (शब्दों) के अर्थ समझाने के उपरान्त पद्य का तात्पर्य समझाना सरल हो जाता है। वास्तव में खण्डान्वय के अन्तर्गत बिना भावों का विश्लेषण किया जाता है। उन्हीं का संश्लेषण करना तात्पर्य-कथन या भावार्थ समझाना है।

व्याकरण वास्तव में नीरस और दुरूह होता तो संस्कृत भाषा का इतने लम्बे समय तक और इतना व्यापक प्रयोग सम्भव न होता। संस्कृत का व्याकरण तो इतना वैज्ञानिक है कि इसमें वह कठिनाई उत्पन्न ही नहीं हो सकती जो अंग्रेजी जैसी भाषा में उत्पन्न होती है। अंग्रेजी में तो सारे व्याकरण के नियम सीख लेने के पश्चात भी भाषा के शुद्ध प्रयोग में, तथा उच्चारण इत्यादि में भ्रम बना ही रहता है। पाणिनी व्याकरण अत्यन्त ही सरस तथा सरल है, और सम्भवतः संसार में दूसरी किसी भी भाषा का इतना सरल व्याकरण प्राप्य नहीं है। वास्तव में बालकों के हृदय में यह धारणा उत्पन्न करने की आवश्यकता है कि संस्कृत व्याकरण हिन्दी व्याकरण का प्राचीनतम् रूप है। इससे बालक के हृदय में संस्कृत व्याकरण सीखने की उत्कण्ठा जागृत होगी और व्याकरण की दुरूहता का भय समाप्त हो जायगा।

पाणिनीय शिक्षण विधि :

महर्षि पाणिनि के अष्टाध्याई के सूत्रों का अध्ययन करने से सिद्ध होता है कि इसकी रचना में अगमन-प्रणाली का प्रयोग किया गया है। पाणिनि ने शब्दों को समूहों में तथा धातुओं का गणों में वर्गीकरण किया। 'गण पाठ' वर्गीकरण के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करके एक ही प्रकार के शब्दो को एकत्रित करना तथा उनका नियमानुकूल रूप निश्चित करके उनका प्रयोग करना सरल बना देता है। इस पद्धति से पाणिनि ने शब्दों का समूहों में वर्गीकरण किया है। गण पाठों के अन्तर्गत नवीन उत्पन्न शब्दों का समावेश भी हो सकता है, और गण विशेष के अन्तर्गत आये हुए शब्दों के समान रूप चलाया जा सकता है। गणों की रचना ध्वनि के आधार पर हुई है और इसी आधार पर शब्दों और धातुओं का वर्गीकरण। जब कोई विशेष अर्थ और ध्वनि बार-बार एक साथ आते हैं तो उनके निरीक्षण से शब्द की प्रकृति एवं प्रत्यय का विश्लेषण तथा उनके अर्थों का निश्चित करना स्वाभाविक है, तथा अन्वय प्रतिरेक द्वारा उसी प्रकार के अन्य शब्दों के सभी रूपों का ज्ञान प्राप्त करना सरल है।

शब्दों और धातुओं का वर्गीकरण वैज्ञानिक ढङ्ग से किया गया है, अतः उन्हें थोड़े ही समय में और थोड़े ही परिश्रम द्वारा समझना सम्भव है।

पर नियम निर्धारित करना पूर्णरूप से उचित नहीं कहा जा सकता। अतः अगमन और निगमन दोनों विधियों का आवश्यकतानुसार प्रयोग अधिक लाभप्रद है।

संस्कृत व्याकरण-सम्बन्धी पाठनीय विषय : सर्वप्रथम संस्कृत वर्णमाला की वैज्ञानिकता का परिचय बालकों को कराना चाहिए। पाणिनीय शिक्षा के आधार पर वर्णों का शुद्ध उच्चारण, उनका वर्गीकरण, वर्णोद्भव स्थान, प्रयत्न, काल और आघात के अनुसार ज्ञान अति आवश्यक है। वर्णमाला के क्रम पर भी ध्यान देना आवश्यक है, इससे बालकों को ध्वनि-परिवर्तन समझने में सरलता होगी। संधियों का ज्ञान भी ध्वनि परिवर्तन के ज्ञान पर निर्भर है।

संधियों को समझाने में सरल से कठिन की ओर जाने के नियम का ध्यान रखना चाहिए और संधियाँ इस क्रम से सिखानी चाहिए– दीर्घ,गुण,वृद्धि, यण, अय्, आय् और आव्। इनको सिखाने में अगमनात्मक पद्धति का प्रयोग करना अधिक रोचक है, परन्तु उदाहरणों के प्रयोग में ध्यान रखना चाहिए कि बालक उनसे पूर्व परिचित हों, इसी प्रकार स्वर सन्धि और व्यंजन का भी ज्ञान कराया जा सकता है।

अगमन विधि से ही क्रमशः नाम, संज्ञा, आख्यात, क्रिया, उपसर्ग और निपात सिखाना चाहिए। संज्ञा के साथ उनके लिङ्ग, वचन, और कारकों का बोध कराना भी आवश्यक है। क्रियाओं के तीन वर्ग ऊपर दिए जा चुके हैं, उसी क्रम से उनका बोध कराना ठीक होगा। क्रियाओं के रूपों का बोध दसों लकारों : कालों : में कराना चाहिए। सर्वप्रथम भ्वादिगण की धातुओं का बोध कराना उत्तम है। बालकों को उपसर्गों और कृदन्तों का भी ज्ञान कराना चाहिए, परन्तु कृदन्त सिखाना ऊँची ही कक्षाओं में उपयुक्त होगा।

संस्कृत व्याकरण सिखाते समय इस बात पर ध्यान देना बड़ा ही आवश्यक है कि केवल वे ही नियम और उपनियम प्रारम्भ में सिखाए जाँय जो अधिक प्रयुक्त होते हों। वे नियम और उपनियम जिनकी भाषा सीखने में अधिक आवश्यकता पड़ती है, विश्वविद्यालय की श्रेणियों में सिखाना अधिक श्रेयस्कर है।

गद्य-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य छात्रों को गद्य समझाने तथा अपने विचारों को गद्य में व्यक्त करने के लिये समर्थ बनाना है। उचित प्रस्तावना के उपरान्त, अध्यापक द्वारा आदर्श पाठ करना, सन्धि-विच्छेद और उच्चारण का अभ्यास कराना, छात्रों से प्रश्न पूछना, समास-विग्रह करना, कठिन पदों का अर्थ समझाना, तथा कठिन भावों की व्याख्या करना, और सबसे अन्त में आवृत्यात्मक प्रश्न पूछना, यह क्रम संस्कृत गद्य शिक्षण के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

कविता शिक्षण का मुख्य उद्देश्य है बालकों को आनन्द की प्राप्ति और रसास्वादन के योग्य बनाना। कविता के अध्यापन के पाँच मुख्य सोपान इस प्रकार हैं : (१) पदच्छेद, (२) अन्वय, (३) पदार्थोक्ति, (४) तात्पर्य कथन तथा (५) प्रयोग।

कविता पाठ की दो पद्धतियाँ हैं : (१) छन्द की गति, गति और लय पर ध्यान देकर, (२) भावों की अभिव्यक्ति पर ध्यान देकर। इन दोनों का अवसरानुकूल प्रयोग वांछनीय है।

अन्वय करने की दो प्रणालियाँ (१) दन्डान्वय और (२) खन्डान्वय में, खन्डान्वय प्रणाली अधिक अच्छी है।

कविता शिक्षण में व्यास प्रणाली और तुलना प्रणाली का भी प्रयोग होना चाहिए। व्यास प्रणाली में कथावाचक की शैली अपनाई जाती है, तथा तुलना-प्रणाली में प्रस्तुत कविता की तुलना उसी कवि की अन्य कविता, अन्य कवि की कविता या अन्य भाषा की कविता से की जाती है।

व्याकरण शिक्षण के लिए दो पद्धतियों का वर्णन किया गया है : (१) पाणिनीय पद्धति तथा (२) अगमनात्मक पद्धति । वास्तव में पाणिनीय पद्धति अगमनात्मक पद्धति है । इसमें अगमनात्मक रीति द्वारा शब्दों, धातुओं और क्रियाओं के वर्गीकरण का सिद्धान्त निरूपित करके, उनका वर्गीकरण किया गया है। अगमनात्मक विधि सिद्धान्त-निरूपण करने के लिए उपयोगी है, परन्तु अभ्यास के लिये निगमनात्मक विधि का भी प्रयोग करना चाहिये।

३५
इतिहास

इतिहास क्या है ?

मानव संस्कृति एवं सभ्यता का वर्तमान रूप अनादि काल से लेकर आज तक घटित सम्पूर्ण घटनाओं से प्रभावित है । अतः मानव संस्कृति एवं सभ्यता के वर्तमान रूप का स्पष्ट दिग्दर्शन अतीतकालीन अधिकाधिक घटनाओं के सम्यक् ज्ञान पर अवलम्बित है । हमारी संस्कृति एवं सभ्यता की भविष्यकालीन रूपरेखा का अनुमान भी इन घटनाओं के आधार पर लगाया जाता है । इतिहास में गम्भीर गन्वेषणात्मक अध्ययन द्वारा भूतकालीन घटनाओं की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करके उनका यथातथ्य वर्णन करने का प्रयत्न किया जाता है एवं इस बात को समझने समझाने का भी प्रयत्न किया जाता है कि उन घटनाओं की मानव-संस्कृति एवं सभ्यता पर प्रतिक्रिया किस रूप में तथा किस ढंग से होती है । अत: इतिहास का महत्त्व मानव संस्कृति एवं सभ्यता के विशाल रूप का स्पष्ट एवं वास्तविक दिग्दर्शन कराने में है ।

इतिहास मानव जीवन से सम्बन्धित भूतकालीन घटनाओं का संकलन है । घटनाओं का संकलन कालानुक्रम के अनुसार किया जाता है तथा उनका एक दूसरे से कारण प्रभाव रूप में यथासम्भव सम्बन्ध भी स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है । इन घटनाओं के संकलन एवं विवेचन में इतिहासकारों से निष्पक्षता की अपेक्षा की जाती है । परन्तु निष्पक्षता में कई प्रकार की बाधायें उत्पन्न होती हैं । सर्वप्रथम, ऐतिहासिक तथ्यों की खोज में जो सामग्री प्राप्त होती है वह इतनी अपूर्ण होती है कि उसके आधार पर निर्धारित तथ्यों के साथ इतिहासकार की कल्पना का मिश्रण स्वाभाविक सा हो जाता है । यही कारण है कि विभिन्न इतिहासकारों में विभिन्न घटनाओं के बारे में मतवैषम्य पाया जाता है । द्वितीय बाधा इतिहासकार के निजी विश्वास एवं मान्यतायें

बड़ा मतभेद रहता है। कभी-कभी तो एक दूसरे के विरोधी तथ्य विभिन्न व्यक्तियों द्वारा या एक ही व्यक्ति द्वारा भी मान्य रहते हैं। इतिहास में किसी घटना के बारे में किसी आधार पर निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती जैसा कि गणित, भौतिक विज्ञान या रसायन विज्ञान में सम्भव है। इतिहास के अध्यापन में छात्रों को इतिहास की इस अवैज्ञानिकता का भी आभास कराना चाहिए।

इतिहास-शिक्षण के उद्देश्य

इतिहास-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य मानव संस्कृति एवं सभ्यता का दिग्दर्शन कराना है। इतिहास के अध्ययन से छात्रों को इस बात का आभास प्राप्त होना चाहिए कि किस प्रकार से मनुष्य जाति ने सांस्कृतिक प्रगति की तथा किस प्रकार की घटनाओं ने उस प्रगति में किस प्रकार योग दिया, समय-समय पर संस्कृति का क्या स्वरूप रहा, एवं सांस्कृतिक प्रगति में किस प्रकार की घटनायें बाधक सिद्ध हुईं। इस प्रकार से इतिहास का ज्ञान आधुनिक सामाजिक समस्याओं का हल ढूंढ़ने में सहायक सिद्ध होगा एवं भविष्य के प्रति हमारे कर्त्तव्यों का बोध कराएगा।

इतिहास के अध्यापन का एक उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि छात्रों को इस बात का भी आभास प्राप्त हो कि किस प्रकार विभिन्न परिस्थितियाँ (भौगोलिक एवं आर्थिक आदि) घटनाओं को प्रभावित करती हैं तथा मनुष्यों को विभिन्न प्रकार के कार्य-कलापों एवं व्यवहारों के लिये विवश करती हैं, एवं मनुष्य किस प्रकार परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है, या उनका दास हो जाता है। इससे दो लाभ होंगे—एक तो उनमें परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने का साहस उत्पन्न होगा, दूसरे उन जातियों एवं राष्ट्रों से जिनसे अपने राष्ट्र से परिस्थितियोंवश अतीत में बैर रहा है परिस्थितियों के समाप्त हो जाने पर बैर की भावना भी समाप्त हो जायेगी। वे राष्ट्र जिन्होंने परिस्थितयों से विवश होकर कुछ अनुचित कार्य किये हैं, अब परिस्थितियों के समाप्त होने पर उनके प्रति घृणा की भावना न रहेगी, तथा उन राष्ट्रों या जातियों के प्रति जिन्होंने परिस्थितियोंवश सांस्कृतिक प्रगति नहीं की है

इतिहास-शिक्षण की पद्धतियाँ

कहानी पद्धति : निम्न श्रेणियों में इतिहास शिक्षण के लिये कहानी पद्धति ही सर्वोत्तम है। रोचक ढंग से बालकों को कहानी सुनाना बड़ा लाभदा-दायक सिद्ध होता है। कहानी में सुनी हुई बातें बालकों को शीघ्र स्मरण हो जाती हैं, क्योंकि वे उनको ध्यानपूर्वक सुनते हैं। अतः इतिहास के अध्यापक को ऐतिहासिक घटनायें एवं ऐतिहासिक व्यक्तियों की जीवनियाँ कहानियों के रूप में सुनाना चाहिये। कहानी अध्यापक को स्मरण होनी चाहिये तथा मौखिक रूप से सुनाना चाहिये, पढ़कर सुनाना उचित नहीं है। कहानी की भाषा कक्षा के ज्ञान के स्तर के अनुकूल होनी चाहिये। कहानी-कथन अभिनय-पूर्ण होना चाहिए एवं स्वर में आवश्यकतानुसार चढ़ाव-उतार होना चाहिए। कहानी धीरे-धीरे परन्तु प्रवाहपूर्ण ढंग से सुनाना चाहिये। आवश्यकतानुसार चित्र भी दिखाने चाहिये तथा बीच-बीच में बोध प्रश्न भी करते जाना चाहिये। अन्त में कहानी की मुख्य-मुख्य बातों को श्याम पट पर लिखकर कहानी की संक्षेप पुनरावृत्ति कर देनी चाहिये एवं छात्रों की अभ्यास-पुस्तकों पर उसे लिखवा देना चाहिए, गृह-कार्य में छात्रों से अपनी भाषा में कहानी लिखवाना चाहिए एवं कभी-कभी अपनी लिखी हुई कहानी को कक्षा में सुनाने का अवसर एवं प्रेरणा भी देना चाहिए। कभी-कभी उन्हें इसके लिये भी प्रेरित करना चाहिए कि वे अपनी स्मरण-शक्ति से ऐतिहासिक घटनाओं सम्बन्धी कहानियाँ सुनावें। कहानी में कल्पना को केवल इतना स्थान देना चाहिये जिससे ऐतिहासिक तथ्य विकृत न होने पावें।

निम्न श्रेणी के बालकों के लिए इतिहास की पुस्तकें भी ऐसी होनी चाहिए जिनमें इतिहास कहानी के रूप में प्रस्तुत किया गया हो।

अभिनय पद्धति : ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं से सम्बन्धित छोटे-छोटे रूपक छात्रों से लिखवाए जांय, अध्यापक उन्हें रूपक लिखने में सहायता करें एवं छात्रों के लिखे हुए रूपक में आवश्यकतानुसार संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्धन कर दें। तत्पश्चात् उस रूपक का अभिनय करने के लिये छात्रों को तैयार करें। ध्यान रखना चाहिये कि अभिनय करने के लिये पात्रों की वेश भूषा

इतिहास लिखता है। इन आधारों के सहारे किस प्रकार अनुसंधान किया जाता है इसका छात्रों को परिचय करा देना आवश्यक है।

इतिहास को आधारभूत सामग्री कक्षा में प्रस्तुत करना दुष्कर है, क्योंकि अधिकतर वस्तुयें ऐसी होती हैं जो अपने स्थान से हटाई नहीं जा सकतीं, और जो वस्तुयें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले भी जाई जा सकती हैं वे अध्यापक को प्राप्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि ऐतिहासिक सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में प्राप्य नहीं है कि उसको जो भी चाहे अपने पास रख सके। अतः इसके लिए एक ही उपाय इतिहास के अध्यापक को उपलब्ध है, वह है छात्रों को उन स्थानों पर ले जाना जहाँ ऐतिहासिक सामग्री दिखाई जा सके। जैसे ऐतिहासिक वस्तुओं के संग्रहालय, या वे स्थान जहाँ ऐतिहासिक भवनों इत्यादि के अवशेष विद्यमान हों।

जो सामग्री कक्षा में मूल रूप में प्रस्तुत की जा सके उसको मूल रूप में प्रस्तुत करना चाहिए अन्यथा मूल रूप की प्रतिलिपियाँ, चित्र एवं लेखों के अनुवाद छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इन सबके आधार पर छात्रों से ऐतिहासिक तथ्यों को स्वयं खोजने के लिए प्रेरित किया जाय। अंत में उन्हीं आधारों पर इतिहासकारों द्वारा खोजे हुए तथ्यों को यह समझाते हुए कि वे उन इतिहासकारों ने किस प्रकार वे तथ्य प्राप्त किए, प्रस्तुत करना चाहिए। जिन तथ्यों के बारे में इतिहासकारों के दृष्टिकोण में अन्तर हो, उनके बारे में अधिक से अधिक इतिहासकारों के दृष्टिकोण को समझाते हुए कि दृष्टिकोण में अन्तर होने के क्या कारण है, बताना चाहिए। तथ्यों के बारे में विदेशी इतिहासकारों के दृष्टिकोण बताना भी अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा इतिहास का निष्पक्ष ज्ञान असम्भव है। उदाहरण स्वरूप सिकन्दर के बारे में केवल भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करना पर्याप्त नहीं है, यूनानी दृष्टिकोण निश्चित करने की स्वतंत्रता देनी चाहिए, किसी विशेष दृष्टिकोण के लिए बाध्य न करना चाहिए।

इस अनुसंधान पद्धति का अधिक प्रयोग निम्न श्रेणियों में नहीं किया जा सकता, परन्तु जैसे-जैसे उच्च श्रेणियों की ओर अध्यापक बढ़े, इस पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग करना चाहिए।

धिकार के लिए किये गये युद्धों का औचित्य अथवा अनौचित्य समझना अत्यन्त सरल हो जाएगा।

(४) मानचित्र : स्थान-ज्ञान के लिए मानचित्रों का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। साम्राज्यों का विस्तार, राजधानियों के स्थान, युद्ध के मैदान आदि मानचित्रों के अवलम्ब से समझना एवं स्मरण रखना अत्यन्त सरल है। विभिन्न समयों के विभिन्न राजनैतिक मानचित्र होने चाहिए। मानचित्रों में केवल वे ही स्थान अंकित होने चाहिए जिनको जानना छात्रों के लिये आवश्यक हो। अच्छा हो कि मानचित्र स्वयं छात्र बनावें। छोटे-छोटे मानचित्र तो छात्रों को बनाने का अभ्यास अवश्य कराना चाहिए। यदि कुछ विशेष प्रकार के मानचित्र जैसे संसार के समकालीन राजवंशों के साम्राज्य बताने वाले मानचित्र, किसी शताब्दी के युद्ध के मैदान बताने वाले मानचित्र, अथवा संसार के समकालीन एतिहासिक भवनों के मानचित्र आदि, यदि उपलब्ध हो सकें तो इतिहास का अध्यापन सरल हो जाय।

(५) तालिकायें : महत्वपूर्ण घटनाओं एवं तथ्यों को सूत्र रुप में थोड़े स्थान में व्यवस्थित ढंग से संकलित करने को तालिका बनाना कहते हैं। छात्रों से स्वयं तालिकायें बनवानी चाहिए। इससे इतिहास के स्मरण करने में सहायता प्राप्त होती है।

(६) चित्र : ऐतिहासिक भवनों के चित्र छात्रों के लिये बड़े रोचक होते हैं। इनसे उनको इतिहास का अध्ययन करने के लिये प्रेरणा मिलती है। बड़े चित्र पाठ के समय दीवाल पर टाँग कर दिखाये जा सकते हैं। छोटे चित्र किसी ऐसे स्थान पर लगाने चाहिये जहाँ छात्र सरलतापूर्वक उन्हें देख सकें और पाठ के समय उनकी ओर केवल संकेत करने से ही काम चल जाय।

(७) इतिहास कक्ष : विद्यालयों में इतिहास कक्षा का होना अत्यन्त आवश्यक है। इससे कई लाभ हैं। एक तो, पृथक इतिहास कक्षा होने से उसको ऐसा सजाया जा सकता है कि कक्षा में एक प्रकार का ऐतिहासिक वातावरण सा बन जाय। दूसरे, इतिहास-कक्ष होने से ऐतिहासिक सामग्रियों, एवं इतिहास के अध्यापन से सम्बन्धित सामग्रियों को बनाना, संग्रह करना एवं

प्रस्तावना : इसके लिये ४-५ मिनट से अधिक समय न लगाना चाहिये। इसका कार्य होता है छात्रों में पाठ के लिये जिज्ञासा उत्पन्न करना, एवं छात्र के उस पूर्व ज्ञान का स्मरण कराना जो नवीन पाठ के लिये आवश्यक है। प्रस्तावना में प्रश्नों का अधिकतर प्रयोग किया जाता है।

विषय-प्रतिपादन : यदि जीवन-चरित्र बताना है तो सर्वप्रथम जीवन में घटित घटनाओं का वर्णन क्रमश: बाल्यावस्था से लेकर अन्त तक करना चाहिये। फिर उसके किये हुये आवश्यक कार्यों का विवरण प्रस्तुत करना चाहिये और सबसे अन्त में उसकी योग्यता का तुलनात्मक वर्णन, युद्ध का कारण, प्रत्यक्ष युद्ध का वर्णन एवं अन्त में परिणाम। राज्य-प्रबन्ध-सम्बन्धी पाठ में मताधिकार, धारा-सभा की रचना, तथा धारा-सभा के अधिकार एवं कार्य इस प्रकार से पाठ को भागों में विभक्त करके पूर्ण करना चाहिये कि प्रत्येक भाग की समाप्ति पर बोध प्रश्न भी करने चाहिये और प्रश्नों द्वारा प्रत्येक अन्विति के बाद श्यामपट पर सारान्श भी लिख देना चाहिये। आवश्यकतानुसार सामग्री; जैसे चित्र, आलेख, मानचित्र आदि का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

पुनरावृत्ति एवं प्रयोग : छात्रों को यथा सम्भव सहायता से पाठ को दुहरा देना चाहिये। कालपट, आलेख एवं मानचित्र आदि भी छात्रों से बनवा लेना चाहिये।

गृह-कार्य : चित्र या मानचित्र बनाने, पठित भाग से सम्बन्धित सम्वाद एवं व्यक्तियों के आत्मचरित्र इत्यादि लिखने के कार्य गृह-कार्य के रूप में दिये जा सकते हैं।

सारांश

इतिहास विषय का महत्त्व मानव-संस्कृति एवं सभ्यता के विशाल रूप का स्पष्ट दिग्दर्शन कराने में है। इतिहास लिखने में यद्यपि इतिहासकार से निष्पक्षता की अपेक्षा की जाती है, परन्तु पूर्णरूपेण निष्पक्षता असम्भव है, अत: अध्यापक को भी कुछ ऐसे ढंग अपनाने चाहिए कि छात्रों को अधिक से अधिक निष्पक्ष इतिहास का ज्ञान हो सके।

३६
साधारण ज्ञान

साधारण ज्ञान की शिक्षा का तात्पर्य उस 'सब कुछ' के 'कुछ' से बालकों को परिचित कराना है जो कि वर्तमान काल में व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परतन्त्र भारत की शिक्षा-पद्धति में इस ओर किंचित मात्र भी ध्यान नहीं दिया गया। फलत: विज्ञान का विद्यार्थी साहित्य के ककहरे से भी अनभिज्ञ रहता था और साहित्य का विद्यार्थी दैनिक जीवन-सम्बन्धी वैज्ञानिक बातों से अपरिचित रहता था।

साधारण ज्ञान की शिक्षा का उद्देश्य

साधारण ज्ञान को शिक्षा-विधान में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने का मुख्य कारण जनतन्त्र एवं नागरिकता का समुचित प्रसार करना है। प्रत्येक व्यक्ति को संसार की नागरिकता से परिचित कराना है, क्योंकि साधारण ज्ञान के अन्तर्गत सभी विषयों की सामान्य शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था होती है जिससे व्यक्ति विषय विशेष का पंडित होते हुए भी समस्त विषयों की सामान्य बातों से परिचित होता है। इस प्रकार उसे बहुमुखी ज्ञान प्राप्त होता है।

साधारण ज्ञान का क्षेत्र

यह तो स्पष्ट ही है कि दैनिक जीवन में साधारण ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि जनतन्त्र में साधारण ज्ञान की स्थिति का निर्धारण किया जाय तो ज्ञात होगा कि साधारण ज्ञान ही जनतन्त्र की आधार-शिला है। साधारण ज्ञान जनतन्त्र की स्थापना तथा प्रसार का मूल स्तम्भ है। इसी प्रकार नागरिकता के क्षेत्र में भी साधारण ज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

---

1. General Knowledge.

साधारण ज्ञान से अपरिचित होने के कारण ही आज लोगों का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित हो गया है। एक दूसरे के कार्य अथवा बात को हम सदैव अपने दृष्टिकोण से देखते हैं। उसके पीछे हम उस व्यक्ति के उद्देश्य को समझने का प्रयास ही नहीं करते। हमें चाहिए कि दूसरे के उद्देश्य को उसके दृष्टि-कोण से देखें तथा अपने और उसके विचारों के विवेचन द्वारा दोनों में समा-नता लाने का प्रयास करें। ऐसा करने के लिए ऐसे विस्तृत दृष्टिकोण का निर्माण करना होगा जो अनेकता में एकता का पक्षपाती हो। स्थायी साधा-रण ज्ञान की शिक्षा का यही प्रमुख उद्देश्य है। इस प्रकार साधारण ज्ञान की शिक्षा को संक्षेप में हम अनेकता को एकता में दर्शन कराने वाली शिक्षा कह सकते हैं। अनेकता को एकता में परिवर्तित करने के लिए हमें देश तथा वर्ग की संकुचित भावना का उन्मूलन करना होगा। हमें व्यक्ति अथवा समाज विशेष की संस्कृति, सभ्यता तथा इतिहास का ज्ञान नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव-समाज तथा विश्व की संस्कृति, सभ्यता और इतिहास का ज्ञान प्राप्त करना होगा। यह सदैव दृष्टि में रखना होगा कि हिन्दुस्तानी, अमेरिकन, चीनी, जापानी, अंग्रज तथा यूनानी आदि सभी मानव जाति के सदस्य हैं। अतएव स्थायी साधारण ज्ञान के स्वरूप के निर्धारण में इसी विस्तृत दृष्टिकोण को सम्मुख रखना पड़ेगा। स्थायी साधारण ज्ञान के स्वरूप के निर्धारण अर्थात् विषय के संकलन के प्रश्न को सरल करने के हेतु अध्यापकों का विषय-सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन होना आवश्यक है।

सामयिक साधारण ज्ञान

संसार और देश को प्रभावित करने वाली दिन प्रतिदिन की घटनाओं के ज्ञान का समावेश सामयिक साधारण ज्ञान के अन्तर्गत होता है। इस प्रकार की घटनाओं के ज्ञान-प्राप्ति के प्रमुख साधन सामाचार-पत्र है। पत्रों में प्रका-शित सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा सामयिक विचारों का ज्ञान होता है जो कि व्यक्ति के सामायिक साधारण ज्ञान के आधार है। अत: सामयिक साधा-रण ज्ञान की प्राप्ति में समाचार-पत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दैनिक समाचार पत्रों के अतिरिक्त सामायिक साधारण ज्ञान के प्राप्ति के साधन दैनिक समाचार पत्रों के विशेषांक, साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक

साधारण ज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था अलग से नहीं की गई है और न इसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। शिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार आरम्भ में बालकों को विशेष से सामान्य की ओर ले जाना चाहिए, न कि पहिले ही सामान्य का स्वरूप उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जाय। कक्षा पाँच तक के विद्यार्थी इस आयु के नहीं होते कि उनका मानसिक विकास प्रौढ़ रूप में हो चुका हो। अतः साधारण ज्ञान की शिक्षा के लिए अलग से विषय निश्चित करना उन पर अनावश्यक बोझ लादने के अतिरिक्त और कुछ न होगा। फलस्वरूप उन्हें शिक्षा से ही अरुचि हो जायगी, जिसका फल समाज तथा देश के लिए बड़ा ही अनिष्टकारी होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें ऐसे साधारण ज्ञान की शिक्षा से भी वंचित किया जाय जो उनके लिए आवश्यक हो और विद्यार्थी उसे ग्रहण करने में समर्थ हों। बालकों द्वारा पूछे जाने वाले साधारण ज्ञान-सम्बन्धी ऐसे प्रश्न जो पाठ से सम्बन्धित हों अथवा जिसके लिए बालक जिज्ञासु हों, अवश्य बताना चाहिए। हाँ, इस बात का ध्यान अवश्य रक्खा जाय कि उनके ज्ञान का स्वरूप इतना विस्तृत न होने पावे कि जिसे ग्रहण करने में विद्यार्थी समर्थ न हो सकें। इन कक्षाओं के अध्यापकों को अपने साधारण ज्ञान का प्रदर्शन कदापि नहीं करना चाहिए, वरन् बालकों के कौतूहल को शांत करने के ध्येय से उनके समक्ष साधारण ज्ञान का इतना संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करना चाहिए जो उनके मानसिक विकास एवं ज्ञान वृद्धि में सहायक हो सके। पत्रिकाएँ तथा बाल-कहानियों द्वारा इन कक्षाओं में साधारण ज्ञान की शिक्षा देनी चाहिए।

माध्यमिक कक्षाओं में साधारण ज्ञान

माध्यमिक कक्षाओं का तात्पर्य जूनियर हाई स्कूल की शिक्षा से है जिसके अन्तर्गत कक्षा ६, ७ तथा ८ की शिक्षा दी जाती है। कक्षा ६ तक पहुँचते समय तक बालकों का मानसिक विकास पर्याप्त रूप में हो चुका होता है। उनमें कल्पना, विवेक एवं तुलना की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। वे अपने मौलिक विचार निश्चित करने योग्य हो जाते हैं और ये शक्तियाँ ऊपर की कक्षाओं में क्रमशः बढ़ती जाती हैं। अतः माध्यमिक कक्षाओं में साधारण ज्ञान की शिक्षा की सीमा कुछ विस्तृत रूप में निर्धारित करना आवश्यक है।

पुस्तकें लिखी गई हैं। अंग्रेजी में जनरल नालेज[1] की पुस्तकें अधिक संख्या में हैं, परन्तु हिन्दी में अब भी इनका अभाव है।

सारांश

उद्देश्य :

साधारण ज्ञान की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को 'कुछ' का 'सब कुछ' तथा 'सब कुछ के कुछ, का ज्ञान कराके सम्पूर्ण मनुष्य बनाना है। उसे विश्व-नागरिक बनाना है।

क्षेत्र :

साधारण ज्ञान जनतन्त्र की आधार-शिक्षा और उसकी स्थापना और प्रसार का मूल स्तम्भ है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य प्रायः कुशल नागरिक बनाना है। अतः साधारण ज्ञान में कुशल नागरिक बनाने से सम्बन्धित समस्त साधारण बातों का ज्ञान कराया जाता है। इस प्रकार संसार की प्रगति से परिचित कराने वाले ज्ञान प्रदान करने के कारण इसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत हो जाता है। इसे हम निम्नलिखित दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :

१. स्थायी साधारण ज्ञान।
२. सामयिक साधारण ज्ञान।

स्थायी साधारण ज्ञान :

स्थायी साधारण ज्ञान का सम्बन्ध मानव जाति की प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति से है। इसकी प्रगति से परिचित होकर हम समाज को उत्पन्न कर सकते हैं। स्थायी साधारण ज्ञान के अन्तर्गत हमें अनेकता में एकता देखनी होगी। सम्पूर्ण मानव-समाज के विषय में ज्ञान प्राप्त करना होगा। दूसरे के कार्य अथवा बातों के उद्देश्य का विवेकात्मक अध्ययन करके अपने विचारों से उसकी तुलना करनी होगी। संकुचित भावना का उन्मूलन करके वृहद् दृष्टिकोण बनाना होगा।

सामयिक साधारण ज्ञान :

संसार तथा देश को प्रभावित करने वाली दिन प्रतिदिन की घटनाओं के

सामयिक परिस्थितियों से भली भाँति परिचित होकर उनके सम्बन्ध में अपना निश्चित मत निर्धारित कर सकें। उनका दृष्टिकोण इतना विस्तृत हो कि अनेकता में एकता का दर्शन कर सकें ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. भारतीय शिक्षा विधान में साधारण ज्ञान का क्या स्थान है ?
२. साधारण ज्ञान की शिक्षा के उद्देश्य और इसके क्षेत्र पर प्रकाश डालिए ।
३. स्थायी तथा सामयिक साधारण ज्ञान पर अपने विचार प्रकट कीजिए ।
४. भिन्न-भिन्न स्तर के विद्यालयों में साधारण ज्ञान की शिक्षा का स्वरूप निर्धारित कीजिए ।

लिये पहले शल्य चिकित्सा की ट्रेनिंग आवश्यक है, और नये सैनिक के लिये हथियारों का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार देश की सरकार चलाने और उसकी समस्याओं को सुलझाने के लिए बालकों को नागरिक-शास्त्र की आवश्यकता है।

उपरोक्त विचारों का प्रचार सर्वप्रथम योरोप और अमेरिका में हुआ, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया इसका क्षेत्र भी बढ़ता गया। सर्व प्रथम इसका अध्ययन प्रारम्भ करने का श्रेय अमेरिका को है। किन्तु उस समय का नागरिक-शास्त्र केवल अधिकारों और कर्त्तव्यों और संविधान तक सीमित ही था। आज के नागरिक-शास्त्र की भाँति उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और विशाल नहीं था। उस समय का नागरिक-शास्त्र छात्रों को केवल शासन में भाग लेने के योग्य बनाता था, और कुछ नहीं। परन्तु ऐसे सीमित और दोषपूर्ण नागरिक-शास्त्र का अध्ययन लोगों ने उचित नहीं समझा और लगभग एक शताब्दी के बाद ही, ब्राइस, लेस्टर वफ वर्ड, जॉन डीवी और हरबर्ट स्पेन्सर आदि शिक्षा शास्त्रियों ने उसके परिवर्तन कर उसका क्षेत्र व्यापक बनाया। अब नागरिक-शास्त्र का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत हो गया और वह मानव के स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तथा भूत, वर्तमान और भविष्य का भी अध्ययन करने लगा। अब नागरिक शास्त्र उन सभी बातों का अध्ययन करने लगा जो मानव जीवन को प्रभावित करती हैं।

प्रजातंत्रीत्मक विचारधारा की नींव अब चारों ओर पड़ चुकी है और वह दृढ़ होती जा रही है। इसलिए धीरे-धीरे लगभग सम्पूर्ण विश्व में इसकी लहर दौड़ गई है और आज प्रजातंत्र का बोलबाला है। इस समय लगभग सभी देशों की सरकारें स्वतंत्रता, समानता, राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। आज के संसार में प्रत्येक व्यक्ति को स्थानीय ज्ञान होना आवश्यक है, और स्थानीय ही नहीं, वरन् सारे संसार का ज्ञान होना चाहिए। इन सब बातों का ज्ञान तभी हो सकता है जब बालकों को प्रारम्भ से ही नागरिक-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान कराया जाय। इससे उनको अधिकारों और कर्त्तव्यों का उचित ज्ञान प्राप्त होगा और वे आगे चलकर उसका समुचित प्रयोग करेंगे। इस शास्त्र के अध्ययन से उनको केवल अधिकारों और कर्त्तव्यों

उदारता और त्याग सिखाता है। वह व्यक्ति को सिखाता है कि उसका अपने परिवार, पड़ोसी, नगर, जिला, प्रान्त, देश और पूरे मानव-समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है।

४. नागरिक-शास्त्र सरकार के प्रकार, स्वरूप, उसके अंग और कार्यों का ज्ञान कराता है। बालकों को कर्त्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान कराता है। ये ही बालक आगे चलकर कार्य-पालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका के सदस्य होंगे तथा सरकार चलायेंगे। जब उनको इनका उचित ज्ञान होगा तो वे इस बात का प्रयत्न करेंगे कि सरकार ऐसे लोगों के हाथ में न चली जाय जो अयोग्य और स्वार्थी हों।

५. नागरिक-शास्त्र से बालकों को विभिन्न प्रकार के राजनीतिक दलों तथा उनके उद्देश्य का ज्ञान हो जाता है। इसके अध्ययन से उनमें प्रारम्भ से ही राजनीति में रुचि पैदा हो जाती है और वे इस प्रकार आगे चलकर देश का अधिक हित कर सकते हैं।

६. नागरिक-शास्त्र देश-प्रेम तथा सच्ची नागरिकता हमारे अन्दर भरता है। यों तो राष्ट्रीयता का अर्थ सभी लोग जानते हैं परन्तु उसका सही अर्थ कम ही लोग समझते हैं। नागरिक-शास्त्र मनुष्य को सदैव सतर्क रखता है कि वह राष्ट्रीयता का गलत अर्थ लगाकर गलत कदम न उठा दें।

७. नागरिक-शास्त्र शोषण-सिद्धान्त का विरोध करता है। वह मनुष्य को यह पाठ पढ़ाता है कि सबल और निर्बल सभी को जीने का अधिकार एक समान है, और इस प्रकार वर्तमान समाज को शोषण से बचाता है। नागरिक-शास्त्र पढ़कर बालक स्वयं तो सुखी बनेंगे ही परन्तु वे एक आदर्श-समाज का निर्माण करेंगे जिसमें सभी लोग सुख की नींद लेंगे।

८. यों तो अन्य शास्त्रों की भाँति नागरिक-शास्त्र भी एक शास्त्र है परन्तु इसकी अपनी अलग विशेषता है। वह व्यक्ति में कल्पना तथा तर्क आदि शक्तियों के साथ-साथ उसके आचरण-सम्बन्धी गुणों पर भी विशेष प्रभाव डालता है। अपने आचरण को ठीक रखकर ही व्यक्ति दूसरों को लाभ पहुँचा सकता है। वह बालकों में निःस्वार्थ भावना, दूसरों के लिये अपनी इच्छाओं को बलिदान

की आवश्यकता है। इस प्रकार के व्यक्तियों को नागरिक-शास्त्र ही पैदा कर सकता है।

उपर्युक्त समस्याओं का निदान करने वाला केवल नागरिकशास्त्र ही है। भारत बहुत दिनों तक गुलामी की जंजीर में जकड़ा रहा। अतः बहुत से बड़े-बूढ़े भी नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों से प्रायः अनभिज्ञ ही हैं। परिणामतः जो शिक्षा बालकों को परिवार में मिलनी चाहिये उन्हें वह नहीं मिल पाती। अतः विद्यालयों के ऊपर यह भार आ जाता है। इस प्रकार विद्यालयों में नागरिक-शास्त्र को सिखाकर हम बालकों में अनुशासन, समाज-सेवा, सहयोग, त्याग और न्याय की भावना भरकर उन्हें नवीन धारा की ओर मोड़ सकते हैं। उनमें नयी चेतना और नयी प्रेरणा का संचार होगा तथा इससे वे वर्तमान समाज के दोषों को दूर कर उसे एक आदर्श और प्रगतिशील समाज बना सकते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि इन समस्याओं के सुलझाने का एक मात्र तरीका नागरिक-शास्त्र ही है।

विद्यार्थी जीवन में व्यावहारिक ज्ञान का अधिक अवसर रहना है और आज भारतवर्ष के बालकों को व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता है। अतः उन्हें अच्छी नागरिकता का पाठ पढ़ाने, राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत करने, अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराने तथा उसे ठीक-ठीक निभाने के लिए नागरिक-शास्त्र को पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य विषय होना चाहिए।

नागरिक-शास्त्र की शिक्षण-विधियाँ

नागरिक-शास्त्र के शिक्षण के लिए विधियों का चुनाव करने में मुख्यतः दो तथ्यों पर ध्यान देना आवश्क है। सर्वप्रथम यह याद रखना है कि छात्रों की आयु, योग्यता, क्षमता एवं रुचि में समानता नहीं होती। अतः यदि किसी एक ही शिक्षण-विधि का अपरिवर्तनीय रूप में प्रयोग किया जाता है तो वह केवल थोड़े से उन छात्रों को लाभान्वित कर सकती है जिनकी आयु, योग्यता, क्षमता एवं रुचि उसके अनुकूल है। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि नागरिक-शास्त्र विषय के दो अंग है : व्यावहारिक नागरिक-शास्त्र और सैद्धान्तिक नागरिक-शास्त्र। अतः नागरिक-शास्त्र की विभिन्न शिक्षण-विधियों को हम

हो जाय। ऐसी दशा में उपदेश का प्रभाव विपरीत ही पड़ेगा। समालोचना बहुत ही सहानुभूति पूर्ण होनी चाहिए तथा कभी एक छात्र के व्यवहार की तुलना दूसरे छात्र के व्यवहार से न करनी चाहिए। अच्छा हो कि एक छात्र के व्यवहार को तुलना उसी छात्र के समान परिस्थितियों के अन्य व्यवहारों से की जाय। इन सभी विधियों का प्रयोग करने में यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि स्वयं अध्यापकों का, विशेषकर नागरिक-शास्त्र के अध्यापक का, आचार-व्यवहार अवांछनीय है तो अन्य सभी विधियाँ निरर्थक ही नहीं सिद्ध होंगी, वरन प्रतिकूल प्रभाव छोड़ेंगी तथा छात्रों में मिथ्या की भावना उत्पन्न करेंगी।

समालोचनात्मक आत्म-निरीक्षण की क्षमता छात्रों में धीरे-धीरे उत्पन्न की जानी चाहिए। जैसे-जैसे छात्र नागरिक-शात्र का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करते जाँय वैसे-वैसे उन्हें प्रोत्साहित किया जाय कि वे उन सिद्धान्तों के आधार पर स्वयं अपने आचरण का मूल्यांकन करें। मूल्यांकन करने के उपरान्त भी साहस की कमी के कारण छात्र अपने आचरण का परिशोधन करने में असफल होते हैं। अध्यापक छात्रों से सदैव अपनी इच्छा के अनुकूल आचरण की अपेक्षा करता है, तथा छात्रों के ऐसे आचरण जो उसकी इच्छा के प्रतिकूल होते हैं, सहन नहीं करता और कठोरता के साथ उनका दमन करने का प्रयत्न करता है। फलस्वरूप या तो छात्र में विद्रोह की भावना उत्पन्न होती है या वह अध्यापक पर इतना आश्रित हो जाता है कि आत्म-समालोचना द्वारा परिशोधन करने का साहस ही छात्र में नहीं रह जाता। छात्रों के अनुचित व्यवहारों की परिशुद्धि के लिए अधिक उचित यह है कि अध्यापक सहिष्णुतापूर्वक आत्म-समालोचना के लिये अवसर एवं प्रेरणा प्रदान करें।

सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्ति हेतु शिक्षण-विधियाँ :

निरीक्षणात्मक विधि : नागरिक-शास्त्र के अध्यापक को चाहिये कि समाज एवं राजनीति-सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं नियमों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये छात्रों को समाज तथा सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं का प्रत्यक्ष निरीक्षण करने के लिये प्रोत्साहित करें और उन्हें यथासम्भव अवसर

प्रबन्ध भी करना चाहिए कि समय-समय पर छात्र अपने स्वाध्याय द्वारा प्राप्त ज्ञान का मौखिक प्रकाशन करें। कक्षा में छात्रों के व्याख्यान का प्रबन्ध करके विचार गोष्ठियों का आयोजन करके तथा वाद-विवाद के आयोजन करके इस प्रकार के अवसर छात्रों को दिए जा सकते हैं।

प्रयोगात्मक विधि : छात्रों को इसके लिए प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे स्कूल में ही कुछ ऐसी संस्थाओं का संगठन करें जिनके द्वारा वे प्रयोगात्मक रूप से नागरिक जीवन एवं नागरिक-शास्त्र के सिद्धान्तों आदि की शिक्षा प्राप्त करें। स्कूल की छात्र-परिषद् या स्कूल में छात्रों के प्रतिनिधियों की संसद आदि स्थापित करके छात्रों को चुनाव के ढंग एवं नियम, तथा संसदीय प्रणाली आदि का परिचय दिया जा सकता है। परन्तु छात्र-परिषद् अथवा छात्रों की संसद आदि केवल हास्य के लिए न होना चाहिए। इन पर कुछ उत्तरदायित्व भी होना चाहिये जिससे वास्तव में ये गम्भीरता के साथ कार्य करें। यदि कुछ सीमा तक छात्रों को स्वायत्त शासन का अवसर दिया जाय तो ये लोकतंत्रीय जीवन को अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।

नागरिक-शास्त्र-शिक्षण में सहायक सामग्री

श्यामपट्ट : श्यामपट्ट का प्रयोग सभी विषयों के अध्यापन में तथा सभी कक्षाओं में उपयोगी है। सर्वप्रथम श्यामपट्ट पर दिनांक, विषय एवं कक्षा आदि लिखना चाहिए, जिससे विषय के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो जाय। पाठ के प्रस्तुत करते समय आवश्यक चार्ट, रेखाचित्र एवं नक्शे आदि श्यामपट्ट पर बनाने की आवश्यकता पड़ती है तथा सुन्दर एवं स्पष्ट अक्षरों में पाठ की मुख्य-मुख्य बातें भी श्यामपट्ट पर लिख देना अत्यन्त आवश्यक है। पाठ के प्रत्येक सोपान के अन्त में तथा सम्पूर्ण पाठ के अन्त में सारांश देते समय भी श्यामपट्ट की आवश्यकता होती है।

श्यामपट्ट प्रयोग करने में दो बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए : (१) छात्रों को श्यामपट्ट पर लिखित वस्तुओं को देखने में कठिनाई न हो, तथा (२) लिखते समय भी अध्यापक छात्रों पर अपनी दृष्टि रख सके जिससे अनुशासन भंग न होने पावे। प्रारम्भिक कक्षाओं में श्यामपट्ट पर अध्यापक को

मौखिक उदाहरण : छात्रों के सम्मुख मौखिक उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मौखिक उदाहरण अधिकतर ऐसे होने चाहिये जिनकी पाठ समझने में आवश्यकता हो तथा जिनका निरीक्षण या तो अध्यापक के प्रोत्साहन से या स्वयं के दैनिक जीवन में छात्र कर चुके हों।

मौखिक उदाहरणों का प्रयोग प्रारम्भिक कक्षाओं में कम करना चाहिये, वहाँ प्रत्यक्ष निरीक्षण के अतिरिक्त मॉडलों, चित्रों, चार्टों, रेखाचित्रों, एवं नक्शों आदि का उपयोग ही अधिक ठीक है। जितनी अधिक ऊँची कक्षा हो उतना अधिक मौखिक उदाहरणों का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि अवस्था के साथ-साथ छात्रों की कल्पना-शक्ति, अनुभव एवं विचार-शक्ति का विकास होता जाता है। उनमें मौखिक तर्क करने एवं सुनने की क्षमता का भी विकास होता जाता है।

पाठ्य पुस्तकें : ऊपर लिखा जा चुका है कि नागरिक-शास्त्र की पाठ्य-पुस्तकों में प्रारम्भिक कक्षाओं में रोचक कहानियाँ होनी चाहिए जिनसे छात्र आचरण-सम्बन्धी शिक्षा ग्रहण कर सकें। माध्यमिक स्तर पर छात्रों में कल्पना-शक्ति, अनुभव एवं विचार-शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है; और कहानी से अधिक आनन्द वे तर्क करने, एवं सत्य की खोज करने तथा देश एवं समाज की समस्याओं को समझने में प्राप्त करते हैं। अतः इस स्तर की पाठ्य-पुस्तकों में नागरिक-शास्त्र का प्रतिपादन अधिक सैद्धान्तिक एवं तार्किक रूप में होना चाहिए। इनमें नागरिक-शास्त्र-सम्बन्धी ऐसे विषयों का समावेश होना चाहिए जिनसे छात्रों में संगठन की भावना, आत्म-निर्भरता, सचाई, परोपकारिता, एवं भ्रातृभाव की उत्पत्ति हो, एवं दृष्टिकोण विस्तृत हो। उच्चस्तर-पाठ्य-पुस्तकों में विषय का प्रतिपादन पूर्णतया तार्किक एवं सैद्धान्तिक होना चाहिए।

प्रारम्भिक कक्षाओं में विषय को स्पष्ट करने वाले क्षेत्रों का बाहुल्य होना चाहिए। आवश्यकतानुसार चार्ट सभी स्तरों की पुस्तकों में होना चाहिए।

पाठ-सूत्र का निर्माण

वर्तमान समय में अध्यापन का उद्देश्य विभिन्न प्रकार के तथ्यों को रटा देना मात्र नहीं रह गया है। अब अध्यापन का उद्देश्य नियमित तथा वांछित

मुख्य उद्देश्य : इसमें प्रस्तुत पाठ से सम्बन्धित उद्देश्य लिखे जाते है, तथा यह बताया जाता है कि उस पाठ द्वारा किस विशेष प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति छात्रों को होगी। एक ही प्रकार का पाठ कई दिनों तक चलने पर मुख्य उद्देश्य में कोई परिवर्तन नहीं होता।

सहायक सामग्री : पाठ को रोचक बनाने के लिए तथा अधिक स्पष्ट करने के लिए जिन सामग्रियों की सहायता की आवश्यकता हो उनका उपयोग करना आवश्यक है। इन सामग्रियों की सूची पाठ-सूत्र में अवश्य दे देनी चाहिए।

पूर्व ज्ञान : किसी नवीन ज्ञान को प्रस्तुत करने में सदैव छात्रों के पूर्व ज्ञान का अवलम्बन लेना अत्यन्त लाभदायक एवं आवश्यक है। पाठ-सूत्र में छात्रों के उस पूर्व ज्ञान का उल्लेख कर देना चाहिए जिसकी छात्रों से अपेक्षा की जाती है तथा जो नवीन ज्ञान को ग्रहण करने एवं समझने में सहायक है। यदि आवश्यक जान पड़े तो प्रश्नों द्वारा छात्रों के पूर्व ज्ञान का परीक्षण भी कर लेना चाहिए।

प्रस्तावना : प्रस्तावना का उद्देश्य होता है पाठ के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करना। पाठ को प्रस्तुत करने के पूर्व कुछ ऐसे साधनों का प्रयोग अवश्य करना चाहिए जिससे छात्रों में पाठ के प्रति उत्सुकता एवं रुचि उत्पन्न हो जाय। ऐसे वातावरण को उत्पन्न करने के लिए चित्र, चार्ट कोई छोटी सी कहानी इत्यादि प्रस्तुत किए जा सकते हैं अथवा छात्रों से ऐसे प्रश्न किए जा सकते है जो उनके पूर्व ज्ञान से, या छात्रों के वातावरण एवं अनुभव से सम्बन्धित हों। प्रश्न तीन या चार से अधिक न होने चाहिये तथा अन्तिम प्रश्न ऐसा होना चाहिए कि पाठ के उद्देश्य का आभास छात्रों को मिल जाय। सभी प्रश्न एक दूसरे से सम्बन्धित होने चाहिये। इससे यह लाभ होगा कि छात्रों में वे विचार-समूह जागृत हो जायेंगे जिससे उन्हें नवीन पाठ समझने में सरलता होगी।

उद्देश्य कथन : प्रस्तावना के उपरान्त छात्रों को यह बता देना अत्यन्त आवश्यक है कि उन्हें क्या पढ़ाया जायेगा। यह बहुत ही रोचक एव स्पष्ट रूप से छात्रों को बताना चाहिये, जिससे उनका ध्यान पाठ पर केन्द्रित हो जाय।

पुनरावृत्ति : यह सम्पूर्ण पाठ का निचोड़ होता है । सम्पूर्ण पाठ की समाप्ति पर छात्रों से तीन चार ऐसे प्रश्न पूछने चाहिए कि पाठ की सम्पूर्ण बातें एक बार संक्षेप में दुहर जाय ।

गृह-कार्य : इसके तीन उद्देश्य हैं : (१) नागरिक जीवन, विभिन्न सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं तथा राष्ट्र निर्माण के कार्यों आदि के निरीक्षण के लिए प्रेरित करना, (२) स्वाध्याय के लिये प्रेरित करना, तथा (३) पढ़ाए हुये पाठ का अभ्यास । यदि गृह-कार्य निरीक्षण की प्रेरणा देने के लिये दिया जाय तो दो बातों का ध्यान रखना चाहिये । निरीक्षण ऐसी वस्तुओं का करने के लिये कहा जाय जो उस दिन के पाठ से सम्बन्धित हो, तथा जिसको समझने की सामर्थ्य उस कक्षा के बालकों में हो । विभिन्न अवस्था एवं कक्षा के बालकों की सामर्थ्य में अन्तर होता है । स्वाध्याय के लिये प्रेरित करना हो तो भी ध्यान रखना चाहिये कि छात्रों को दी हुई समस्या के समाधान के लिये ऐसी पुस्तकें बताई जाँय जो सरलता पूर्वक प्राप्य हों और जो छात्रों की अवस्था एवं कक्षा के लिये अनुकूल हों । समस्या सदैव पढ़ाये हुए पाठ से सम्बन्धित होनी चाहिये । अपने निरीक्षण अथवा स्वाध्याय के आधार पर जो कुछ छात्र लिख कर लावें उसे देखकर अशुद्धियों को शुद्ध अवश्य कर देना चाहिये । गृह-कार्य में प्रश्न ऐसे देना चाहिए कि उनके उत्तर खोजने से छात्रों में मानसिक शक्ति, विचार-शक्ति, अभिव्यंजना-शक्ति, तर्क-शक्ति तथा ग्राह्य शक्ति का विकास हो ।

नागरिक-शास्त्र में परीक्षा

लिखित परीक्षा नागरिक-शास्त्र की उचित परीक्षा नहीं है । यह नागरिक-शास्त्र के केवल सैद्धान्तिक अंग को परीक्षा ले पाती है और उसके बारे में भी पूर्ण विश्वास नहीं होता कि छात्रों ने वास्तव में सिद्धान्तों को समझा है या केवल परीक्षा के लिए शाब्दिक स्मरण मात्र कर लिया है । नागरिक-शास्त्र के व्यवहारिक अंग की परीक्षा लिखित रूप में नहीं हो सकती । इसके लिए तो छात्रों के नित्यप्रति के व्यवहारों के निरीक्षण की आवश्यकता है जो केवल अध्यापक एवं प्रधानाचार्य कर सकते हैं । लिखित परीक्षा पर अधिक

माध्यमिक स्तर पर वर्णन कहानी के रूप में न होकर सैद्धान्तिक होने चाहिये और सैद्धान्तिक आदि के प्रस्तुत करने में अधिकाधिक प्रश्नोत्तर-पद्धति का अनुसरण करना चाहिये। उच्च स्तर पर व्याख्यान- पद्धति का अनुसरण करना उचित है तथा व्याख्यान तर्क पूर्ण होने चाहिए। वर्णनों में भाषा का प्रयोग सतर्कता के साथ करना चाहिये। भाषा सदैव कक्षा के भाषा के ज्ञान स्तर के अनुकूल होनी चाहिये।

स्वाध्याय के लिये प्रारम्भिक कक्षाओं में सरल एवं रोचक कहानियों को, जिनमें नागरिकता सम्बन्धी आदर्श आचरणों के उदाहरण हों, पुस्तकें बतानी चाहिए। उन कहानियों के पढ़ने के उपरान्त छात्र कहानियों का सारांश लिखें तथा पढ़ी हुई कहानियों से जो आचरण-सम्बन्धी शिक्षा उन्होंने ग्रहण की हो उसे लिखें।

माध्यमिक स्तर पर ऐसे नागरिक-शास्त्र सम्बन्धी तथ्यों, सिद्धान्तों एवं नियमों का निरूपण करने वाली पुस्तकें हों जो साधारण नागरिक जीवन से सम्बन्धित हों। उच्च स्तर पर पुस्तकों में ऐसे सिद्धान्तों आदि का भी निरूपण हो जो सापेक्ष रूप से जटिल हों, जिनके बारे में मतवैभिन्य हो तथा जिनका सामान्य जीवन से अधिक सम्पर्क न हो।

नागरिक-शास्त्र का अध्यापक

नागरिक-शास्त्र के अध्यापन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये स्वयं नागरिक-शास्त्र के अध्यापक में कुछ विशिष्ट गुणों की आवश्यकता है। पहले लिखा जा चुका है कि नागरिक-शास्त्र के शिक्षण में व्यावहारिक नागरिकता का शिक्षण देना अधिक महत्त्वपूर्ण है। नागरिक-शास्त्र की शिक्षा के द्वारा छात्रों के व्यवहार में ऐसा परिमार्जन करने की आवश्यकता है कि वे राष्ट्र, समाज एवं मानवता का कल्याण करने वाले हों। अतः छात्रों को चरित्रवान् बनाना, तथा उनमें सहृदयता, समानता, देश प्रेम एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना जागृत करना नागरिक-शास्त्र के अध्यापक का कर्त्तव्य है। केवल नागरिक-शास्त्र का सैद्धान्तिक ज्ञान मात्र दे देने से अध्यापक के कर्त्तव्य की इति श्री नहीं हो जाती।

सारांश

नागरिक-शास्त्र समाज-शास्त्र का उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। नागरिक-शस्त्र का शिक्षण महत्त्वपूर्ण होने का मुख्य कारण यह है कि अब राष्ट्र का संचालन नागरिकों द्वारा चुने हुये प्रतिनिधियों द्वारा होता है, जिनकी कार्य विधि का अवलोकन करना तथा उसके प्रति जागरूक रहना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है और इस शास्त्र का अध्ययन व्यक्तियों में इस कर्त्तव्य के प्रति चेतना उत्पन्न करता है।

राष्ट्र एवं समाज के उचित संचालन के लिये विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का निर्माण हुआ है तथा हो रहा है। इन संस्थाओं को भली प्रकार समझने के लिये नागरिक-शास्त्र का अध्ययन अनिवार्य सा है।

नागरिक-शास्त्र का क्षेत्र विस्तृत है और दिन पर दिन विस्तृत होता जा रहा है। इसके अन्तर्गत नागरिक के अधिकार एवं कर्त्तव्य, विभिन्न प्रकार की राजनैतिक एवं सामाजिक संस्थाओं, तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं आदि का अध्ययन किया जाता है। एक ओर तो नागरिक-शास्त्र इन सभी बातों का ज्ञान प्रदान करने का प्रयत्न करता है। दूसरी ओर छात्रों के चारित्रिक विकास का भी ध्यान रखता है।

छात्रों को आदर्श नागरिक व्यवहार की शिक्षा देने एवं उनका चारित्रिक विकास करने के लिये उनके सम्मुख आचार व्यवहार के अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करने चाहिये तथा उनको समालोचनात्मक आत्म-निरीक्षण के लिये प्रेरित करना चाहिये। छात्रों को नागरिक-शास्त्र का सैद्धान्तिक ज्ञान देने के लिये निम्न अध्यापन विधियों का प्रयोग करना चाहिये।

(१) निरीक्षणात्मक विधि (२) वर्णनात्मक विधि (प्रश्नोत्तर प्रणाली सहित) (३) स्वाध्याय-विधि तथा (४) प्रयोगात्मक विधि।

शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर इन विधियों के प्रयोग में कुछ अन्तर हो जाता है, परन्तु किसी न किसी रूप में सभी स्तरों पर इन सभी विधियों का प्रयोग करना नागरिक-शास्त्र के प्रभावोत्पादक अध्यापन के लिये लाभप्रद है।

४. नागरिक-शास्त्र की विभिन्न अध्यापन विधियों पर प्रकाश डालिये।

५. प्रारम्भिक कक्षाओं में नागरिक-शास्त्र कहानियों द्वारा क्यों प्रस्तुत किया जाता है ?

६. नागरिक-शास्त्र के अध्यापन के लिये एक आदर्श पाठ-योजना बनाइये।

७. छात्रों को आदर्श नागरिक बनाने के लिए अध्यापक में किन गुणों का होना आवश्यक है ?

८. सिद्ध कीजिये कि वर्तमान परीक्षा प्रणाली छात्रों को आदर्श नागरिक बनाने में सहायक नहीं है।

४. बागवानी तथा कृषि की शिक्षा में बालकों को खुरपी, फावड़े आदि कृषि-सम्बन्धी औजारों को प्रयोग करना होता है। इनके प्रयोग में उन्हें सदैव सतर्क और सावधान रहना पड़ता है। फलतः उनमें सावधानी से कार्य करने की क्षमता उत्पन्न होती है। अपने हाथों से लगाये हुए फूल तथा पौधों से उन्हें प्रेम होता है। उनके पालन-पोषण में वे सर्वदा सतर्क रहते हैं। दूसरों के परिश्रम के मूल्यांकन की भावना उन्हें छोटी-छोटी शरारतों जैसे ग्रामीण पाठशालाओं में आते-जाते समय रास्ते में पड़ने वाले खेतों की फसलों को नष्ट करने की आदत से वंचित कर देती है। विद्यार्थियों में सृजनात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

बागवानी तथा कृषि की शिक्षा का प्रबन्ध :

कृषि तथा बागवानी की शिक्षा प्रदान करने में सर्वप्रथम खेती और बाग के लिए भूमि की आवश्यकता होती है। देहात के विद्यालयों में सुगमतापूर्वक भूमि मिल सकती है, परन्तु नगर में स्थिति सभी विद्यालयों के पास आवश्यक भूमि का होना सम्भव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में यथासाध्य कुछ भूमि प्राप्त करके छोटी-छोटी क्यारियों द्वारा बालकों को विभिन्न फसलों को बोने, उगाने तथा उनके पालन-पोषण का ज्ञान प्रदान किया जा सकता है। बागवानी के लिए गमले का प्रयोग किया जाना चाहिए। विद्यालय-भवन के निर्माण में सर्वप्रथम यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विद्यालय के समीप कृषि तथा बागवानी के लिए उपयुक्त क्षेत्र उपलब्ध हों, क्योंकि फुलवारी एवं उद्यान पाठशाला को विद्याध्ययन-सम्बन्धी उचित वातावरण प्रदान करते हैं।

ग्रामीण विद्यालयों में कृषि तथा बागवानी के लिए इतनी भूमि का प्रबन्ध होना चाहिए जिससे प्रत्येक बालक को कार्य करने की सुविधा मिल सके, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कृषि और बागवानी की शिक्षा का ध्येय देश के समस्त बालकों को कृषक बनाना है, अपितु उन्हें अपने देश के प्रधान कार्य से परिचित कराना है, जिससे कृषि-सम्बन्धी देश की समस्याओं से अवगत होकर वे देश की उन्नति में योग दे सकें।

फूल के पौधे लगाने के लिए आवश्यकतानुसार अधिकाधिक गमलों का प्रयोग किया जा सकता है। अध्यापक को चाहिए कि विभिन्न प्रकार के फूलों के पौधे बालकों से लगवायें जिससे वे अनेक प्रकार के फूलों के पौधे, बीज, पत्ती और सुगन्ध तथा उपयोग से परिचित हो सकें। अन्य देशों की अपेक्षा भारत वालों को फूलों के विषय में कम ज्ञान है। इसका कारण अंग्रेजी राज्य में विद्यालयों में बागवानी की शिक्षा की व्यवस्था का न होना है। फूलों के पौधों के लगाने के पूर्व अध्यापक को बागवानी विषय के समन्वयात्मक अंग पर भी ध्यान देना आवश्यक है। सामान्य विज्ञान से इसका गहन सम्बन्ध है। अतः ऐसे फूलों का लगाना जो सामान्य विज्ञान अथवा अन्य विषयों की शिक्षा के लिए उपयोगी तथा सहायक सामग्री के रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हों आवश्यक है।

फूलों के लगाने और उनके पालन-पोषण के प्रति बालकों में रुचि उत्पन्न करने के लिए अध्यापक को चाहिए कि पुष्प प्रतियोगिताओं[1] का आयोजन करें। इस प्रतियोगिता में विद्यालय की सभी कक्षाओं को भाग लेना चाहिये। प्रतियोगिता के आयोजन में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पूरे विद्यालय के विद्यार्थी आयोजित प्रतियोगिता से लाभान्वित हो सकें। एक-दूसरी कक्षा से होड़ लेने पर कार्य तो अच्छा हो सकता है, परन्तु कभी-कभी शरारती लड़के दूसरों को हराने के लिये अनुचित एवं अवांछनीय मार्ग का भी अनुसरण करने लगते हैं—यथा, दूसरी कक्षा की फुलवारी के फूलों को तोड़ डालना, पौधों को उखाड़ लेना और क्यारियों को नष्ट कर देना आदि। अतएव अध्यापक को चाहिये कि प्रतियोगिता के पूर्व ही इस प्रकार के अनुचित एवं जघन्य कार्यों के प्रति बालकों के मन में घृणा उत्पन्न कर दें जिससे वे प्रतियोगिता का उचित लाभ उठा सकें। उनमें आपस में द्वेष एवं विद्रोह न जगह कर सके। प्रतियोगिता में विजयी कक्षा को पुरस्कार भी देना चाहिये जिससे उस कक्षा तथा अन्य कक्षाओं के विद्यार्थी अग्रिम प्रतियोगिता के लिये नवीन उत्साह से तैयारी करें, परन्तु हारी हुई कक्षा के विद्यार्थियों को लज्जित

---

1. Flower Show.

खाने का रिवाज कम है। इसका एक कारण विद्यालयों में तरकारियों के उगाये जाने तथा उसके महत्व की शिक्षा का न देना है। यद्यपि देहातों में हरी सब्जियों के पैदा करने की बड़ी सुविधा है, परन्तु इनका प्रयोग न होने के कारण इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। शहरों में भी कम सब्जियाँ उत्पन्न की जाती है। फलतः वे बड़ी मंहगी मिलती हैं और सामान्य वर्ग के लोग यथेष्ट मात्रा में उनका प्रयोग नहीं कर पाते। अतः विद्यालयों में तरकारियों के उगाने की शिक्षा देना आवश्यक है जिससे विद्यार्थी अपने घरों में भी सब्जियाँ उत्पन्न करके यथेष्ट मात्रा में उनका प्रयोग कर सकें। भिन्न-भिन्न सब्जियों में विभिन्न प्रकार के विटामिन होते हैं। अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इनका खाना लाभप्रद है।

कुछ सब्जियाँ ऐसी हैं जो बेकार पड़े हुए स्थानों पर उगाई जा सकती हैं; यथा बरसात के मौसम में देहात में छप्परों पर कद्दू, लौकी, तोरई आदि उत्पन्न की जा सकती हैं। शहरों में भी इस प्रकार के सब्जियों के उगाने का प्रबन्ध सुगमता पूर्वक किया जा सकता है। कुछ फसलें भी ऐसी हैं जिनके साथ-साथ सब्जियाँ भी उगाई जा सकती हैं। इस प्रकार तरकारियों के प्रयोग को अत्यधिक प्रचलित करके उनके स्थान पर खाये जाने वाले अन्न की बचत करने के साथ ही साथ 'गहरी खेती[1]' के उद्देश्य की भी पूर्ति किसी सीमा तक की जा सकती है। बेकार पड़ी हुई भूमि से भी लाभ उठाया जा सकता है। अतएव विद्यालयों में सब्जी उत्पन्न करने तथा उनके प्रयोग की शिक्षा देना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है।

भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न स्थानों की जलवायु तथा मिट्टी भिन्न-भिन्न प्रकार की है। अतः मौसम, जलवायु, स्कूल की स्थानीय एवं व्यक्तिगत परिस्थिति के अनुसार स्वास्थ्यवर्द्धक एवं आवश्यक प्रकार की सब्जियों के पौधे स्कूल के बाग में लगवाना चाहिए।

कृषि :

बागवानी के विस्तृत रूप को हम कृषि कह सकते हैं। सामान्य विज्ञान

1. Intensive method of Agriculture.

ज्यामिति से सम्बन्ध स्थापित करता है। कृषि देश का प्रमुख उद्देश्य है। अतः यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि यह विषय अर्थ-शास्त्र तथा वाणिज्य एवम् व्यापार-शास्त्र से कहाँ तक सम्बन्धित है। कृषि तथा बागवानी स्वयं एक प्रकार की कला है। अतः स्पष्ट है कि इसका और कला का अन्योनाश्रिक सम्बन्ध है। इस प्रकार समन्वय की दृष्टि से बागवानी तथा कृषि की शिक्षा की समुचित व्यवस्था का होना प्रत्येक विद्यालय के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य होना चाहिए।

बागवानी और कृषि की शिक्षण-पद्धति :

सामान्य विज्ञान से बागवानी का घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः इसकी शिक्षण-प्रणाली भी सामान्य विज्ञान की शिक्षण-पद्धति के अनुरूप ही होनी चाहिए। यह ऐसा विषय है जिसकी शिक्षा कक्षा में दिये गये अध्यापक के व्याख्यानों से पूरी नहीं हो सकती है। विषय-सम्बन्धी बातों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षा को प्रायोगिक एवम् व्यावहारिक रूप प्रदान करना आवश्यक है। अध्यापक को चाहिए कि बागवानी विषय की शिक्षा वह स्कूल के बाग में ही दे। पाठ्य-क्रमानुसार नवीन पाठ के सम्बन्ध में बालकों को मौखिक रूप में बता देना चाहिए। तत्पश्चात् विद्यार्थी बाग में स्वतन्त्र रूप में पाठ से सम्बन्धित कार्य करके उसके विषय में स्वयं ज्ञान प्राप्त करेंगे। इस प्रकार विद्यार्थियों द्वारा अनुभव के आधार पर अर्जित किया हुआ विषय-सम्बन्धी ज्ञान स्थायी होगा तथा विषय अत्यधिक रुचिकर एवं व्यावहारिक होगा।

सारांश

भारत कृषि प्रधान देश है। देश के अधिकांश लोगों की जीविका का साधन कृषि है और यह देश का प्रमुख उद्योग है। फिर भी परतन्त्रता के कारण शिक्षा-विधान में इसकी अवहेलना होती रही है। फलतः लोग इस प्रमुख उद्योग के प्रति सर्वथा उदासीन रहे और बेकारी बढ़ती गई तथा कृषि की अवनति होती गई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है।

फूल :

फूलों की भाँति विभिन्न प्रकार के फलों के भी पौधे लगवाये जाँय। ये भी अन्य विषयों से समन्वय स्थापित करने में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से स्वास्थ्य-वर्धक, आवश्यक, दैनिक उपयोग में आने वाले तथा स्थानीय परिस्थिति के अनुकूल फलों के पौधे लगवाना चाहिए। फूलों की भाँति फलों को भी प्रतियोगिता एवं प्रदर्शनी के आयोजन द्वारा विषय को अधिक रुचिकर बनाया जा सकता है।

तरकारियाँ :

भारत में तरकारियों का प्रयोग भोजन के साथ अन्य देशों की अपेक्षा कम होता है। बालकों को सब्जियों के उत्पादन की शिक्षा देकर उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जा सकती है और इसे सर्व-सुलभ बनाया जा सकता है। इसके उत्पादन के मूल में गहरी खेती का ध्येय छिपा है। बेकार पड़ी भूमि को भी प्रयोग में लाकर देश की आर्थिक उन्नति की जा सकती है।

कृषि :

कृषि भारत का प्रमुख उद्योग है। अतः बागवानी के साथ सीमित रूप में नवीन एवं वैज्ञानिक ढंग से बालकों को कृषि की शिक्षा स्कूलों में दी जानी चाहिए जिससे वे विस्तृत पैमाने पर कृषि करना सीख जायें।

बागवानी और समन्वयात्मक शिक्षा-प्रणाली :

बागवानी ऐसा विषय है जिसे समन्वय की दृष्टि से बेसिक क्राफ्ट कहा जाता है। सामान्य विज्ञान के अन्तर्गत इसका विशेष स्थान है तथा भूगोल का वनस्पति मुख्य क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त भाषा, सामाजिक विषय, गणित, ज्यामित आदि विषयों में भी समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

शिक्षण पद्धति :

बागवानी तथा कृषि का सामान्य विज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः इसकी शिक्षा-प्रणाली सामान्य विज्ञान की शिक्षा पद्धति के अनुरूप होनी चाहिए। इसमें क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए विशेष अवसर मिलता

३६

भूगोल

(१) भूगोल का महत्त्व

सभी जीवधारियों को कुछ न कुछ भौगोलिक ज्ञान अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। साधारण से साधारण जीवधारियों को कम से कम इतनी जानकारी अवश्य है कि किस ऋतु में किस स्थान पर उनके जीवन की आवश्यकता की कौन-कौन सी सामग्री उपलब्ध होती है। साधरण जीवधारियों के भौगोलिक ज्ञान का क्षेत्र सीमित है, परन्तु मनुष्य के लिए वह क्षेत्र विस्तृत हो गया है। ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के सम्पर्क एवं कार्य का क्षेत्र विस्तृत होता चला जा रहा है तथा उसकी आवश्यकताओं में वृद्धि हो रही है। उन आवश्यकताओं की पूर्ति अन्य जीवधारियों की भाँति साधारण स्थानीय भौगोलिक जानकारी से सम्भव नहीं है। अन्य जीवधारी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त ज्ञान बिना किसी विशेष प्रयास के प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इतने विस्तृत भौगोलिक ज्ञान की आवश्यकता है, कि शिक्षा में भूगोल को एक पृथक विषय के रूप में स्थान देना नितान्त आवश्यक है। यह भौगोलिक ज्ञान मनुष्य जाति ने कई पीढ़ियों में अर्जित किया है। अत: यह सारा ज्ञान छात्र केवल प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते।

भौगोलिक परिस्थितियों का मनुष्य के रहन-सहन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अतः किसी स्थान के व्यक्तियों की रहन-सहन को स्पष्ट रूप से समझने के लिए स्थान का भौगोलिक ज्ञान आवश्यक है। किसी देश से व्यापारिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए भी यह जानने की आवश्यकता है कि उस देश में जन समुदाय को किन वस्तुओं की आवश्यकता है तथा किन वस्तुओं

को होगा उतना ही अधिक वह इस बात को समझने में समर्थ होगा कि किस स्थान पर कौन से व्यवसाय के उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना है तथा किसी व्यवसाय के लिए आवश्यक सामग्री कहाँ से उपलब्ध की जा सकती है। व्यापार में तो भौगोलिक ज्ञान के बिना यथेष्ट सफलता प्राप्त करना असम्भव है। व्यापार में कोई व्यक्ति तभी सफल हो सकता है जब उसे यह ज्ञात हो कि कौनसी व्यापारिक सामग्री कहाँ पर अधिक एवं सस्ती उपलब्ध हो सकती है, कहाँ पर उस सामग्री की अधिक मांग है तथा अच्छा मूल्य प्राप्त होगा, और जहाँ सामग्री भेजी जा रही है वहाँ पर ऋतु के प्रभाव से उसके नष्ट होने की आशंका तो नहीं है। भूगोल के अध्यापन में यह ध्यान रखना चाहिए कि छात्रों को इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता रहे।

मानसिक अनुशासन सम्बन्धी उद्देश्य :

भूगोल के अध्यापन द्वारा छात्रों को एक विशेष प्रकार का मानसिक अनुशासन भी दिया जा सकता है। भूगोल के अध्यापन में यह उद्देश्य प्रमुख होना चाहिए। भूगोल का अध्यापन ऐसे ढंग से होना चाहिए कि छात्रों में प्रकृति निरीक्षण की उत्सुकता का विकास हो। छात्रों को इस बात का आभास प्राप्त होना चाहिए कि मानव जीवन एवं मावन-समाज को रूप-रेखा भौगोलिक परिस्थितियों पर अवलम्बित है, परन्तु तो भी मनुष्य भौगोलिक परिस्थितियों पर एक सीमा तक फिर भी विजय प्राप्त कर सकता है। छात्रों में इस बात का साहस उत्पन्न होना चाहिए कि वे प्रतिकूल भौगोलिक परिस्थितियों का सामना कर सकें तथा यह क्षमता उत्पन्न होनी चाहिए कि वे अनुकूल भौगोलिक वातावरण से अधिकाधिक लाभ उठा सकें। छात्रों में यह विश्वास उत्पन्न होना चाहिए कि प्रकृति के रहस्य ऐसे हैं जिनको मनुष्य अपनी बुद्धि एवं अपने परिश्रम द्वारा अनावृत कर सकता है।

(३) भूगोल का पाठ्यक्रम

पूर्व प्राइमरी स्तर :

उपरोक्त सभी उद्देश्यों की पूर्ति शिक्षा के किसी एक स्तर पर नहीं हो सकती। विभिन्न स्तरों पर विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। पूर्व

पूर्व माध्यमिक स्तर :

पूर्व माध्यमिक स्तर पर छात्रों की प्रवृत्ति वास्तविकताओं तथा उपयोगिताओं को समझने की ओर हो जाती है। छात्रों में अपने ज्ञान को व्यवस्थित करने की उत्कन्ठा भी इस स्तर पर जागृत हो जाती हैं। तथ्यों के कारण प्रभाव के सम्बन्ध को वे समझने का प्रयत्न करने लगते हैं तथा उनमें तथ्यों के विश्लेषण की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः इस स्तर पर छात्रों को भूगोल व्यवस्थित ढंग से सिखाया जा सकता है, तथा भूगोल-अध्ययन के सभी साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। इस स्तर पर छात्रों में यह भी योग्यता उत्पन्न करना आवश्यक है कि वे भौगोलिक परिस्थितियों के मानव-जीवन पर प्रभाव को समझ सकें तथा संसार के सांस्कृतिक विकास में भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव का अनुमान लगा सकें।

उत्तर माध्यमिक स्तर :

उपरोक्त तीनों स्तरों पर भूगोल का अध्यापन सामाजिक विषय के अन्तर्गत होता है। परन्तु उत्तर माध्यमिक स्तर पर भूगोल एक स्वतन्त्र विषय के रूप में पढ़ाया जाना चाहिये। इस स्तर पर विषय को अधिक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप देना चाहिए, तथा भौगोलिक सिद्धान्तों एवं विश्व की भौगोलिक समस्याओं पर अधिक बल देना चाहिए।

भूगोल शिक्षण की विधियाँ

(१) निरीक्षण विधि :

भूगोल का अध्यापन यथासम्भव निरीक्षणात्मक विधि से ही करना चाहिए। प्रारम्भिक कक्षाओं में तो भूगोल का अध्यापन पूर्ण रूपेण इसी विधि से होना चाहिये और पाठ्यक्रम भी प्रारम्भिक अवस्थाओं में ऐसा होना चाहिए कि छात्रों को कोरी कल्पना का अधिक सहारा न लेना पड़े। प्रारम्भ में छात्र से स्थानीय वातावरण का निरीक्षण कराया जाय। जैसे-जैसे कक्षा ऊँची होती जाय वैसे-वैसे निरीक्षण का क्षेत्र विस्तृत किया जाय। छात्र प्रकृति, गाँव, नगर, मनुष्य तथा उसके क्रिया-कलाप, स्थानीय भूमि, उपज, व्यवसाय, जीवन, प्राकृतिक दृश्य, वर्षा, नदी आदि का निरीक्षण करें। इस प्रकार छात्र

वर्णन को उपयोगी बनाने के लिए अध्यापक को वर्णन प्रस्तुत करने में कुछ बातों पर ध्यान रखना चाहिए। वर्णन सरल एवं सुबोध भाषा में होने चाहिए। वर्णन को आकर्षक बनाने के लिए चित्र, मानचित्र, ग्लोब, नमूना, रेखाचित्र, प्रॉजेक्ट, लैन्टर्न, एपिस्कोप, एपीडायस्कोप, एवं श्यामपट आदि का यथासम्भव प्रयोग करना अत्यन्त आवश्यक है। वर्णन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि छात्र सारे समय मूर्तिवत् ही न बैठे रहें। छात्रों के प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा अर्जित ज्ञान का अवलम्बन लेकर तथा छात्रों से आवश्यक प्रश्न पूछते हुये वर्णन प्रस्तुत करना चाहिये। वर्णनों में स्वाभाविक क्रम होना चाहिये तथा प्रत्येक वर्णन स्वतः पूर्ण होना चाहिये। वर्णन के उपरान्त निष्कर्ष छात्रों से ही निकलवाना चाहिये।

(३) वैज्ञनिक विधि अथवा अन्वेषणात्मक विधि :

वायु, वायुभार, वर्षा, बादल, दिन, रात एवं ऋतुओं आदि प्राकृतिक भूगोल सम्बन्धी विषयों का अध्ययन इस विधि द्वारा कराया जा सकता है। बालकों को इन विषयों से सम्बन्धित प्रयोगों को करने एवं उनसे सम्बन्धित निष्कर्षों को निकालने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये।

(४) तुलनात्मक विधि :

इस विधि में छात्रों को दूरस्थ स्थानों से सम्बन्धित भौगोलिक ज्ञान निकटस्थ स्थानों के प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा अर्जित ज्ञान के साथ तुलना करके प्रस्तुत किया जाता है। साम्य एवं वैषम्य दोनों की तुलना की जाती है, तथा इनका स्पष्टीकरण ग्राफों एवं चित्रों के प्रयोग द्वारा भी किया जाता है।

(५) प्रादेशिक विधि :

हर्बर्टसन ने जलवायु, वनस्पति एवं प्राकृतिक बनावट के आधार पर संसार को प्राकृतिक प्रदेशों में विभाजित किया। मानव जीवन, मनुष्यों का आर्थिक विकास एवं उसके कार्य-कलाप, प्राकृतिक बनावट, जलवायु एवं वनस्पति पर ही निर्भर है। अतः इस प्रकार का विभाजन भूगोल के अध्यापन में स्वाभाविक है। इस विधि से विभाजन करने पर भूगोल का अध्यापन अधिक वैज्ञानिक रूप में किया जा सकता है तथा यह छात्रों के लिये रुचिकर भी है। इससे मानव

स्थानों की भूमि, बनावट, धरातल, बहाव, जलवायु, ताप, वर्षा, ऋतुयें, वायु, कृषि एवं उपज, प्राकृतिक वनस्पति, खनिज, व्यवसाय, व्यापार तथा यातायात, आदि का पूर्णरूपेण ज्ञान कराने के पूर्व, इन सभी वस्तुओं का स्थानीय वातावरण में निरीक्षण एवं अध्ययन करा देने से ज्ञान केवल शाब्दिक न होकर वास्तविक होगा। स्थानीय भौगोलिक वातावरण का अध्ययन कराने में निरीक्षणात्मक, प्रोजेक्ट एवं प्रयोगात्मक आदि सभी विधियों का प्रयोग करना चाहिए।

छात्रों को स्थानीय निरीक्षण द्वारा यह भी समझा देना चाहिए कि भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव मानव जीवन पर किस प्रकार पड़ता है तथा किस प्रकार भौगोलिक परिस्थितियाँ उद्योग को प्रोत्साहित करती हैं।

छात्रों को स्थानीय भूगोल से सम्बन्धित मानचित्र, चित्र, मॉडल तथा रेखा चित्र आदि बनाने के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए। वे जिस वस्तु का मानचित्र बनावें, उसको स्वयं नापें। उसके लिए पैमाना निश्चित करके मानचित्र बनावें। इसके बाद मानचित्र आदि के अध्ययन में छात्रों को सरलता एवं वास्तविकता का अनुभव होगा।

भूगोल के अध्यापन में छात्रों की ज्ञान वृद्धि के लिए प्रश्नोत्तर, विवरण, वर्णन, व्याख्या, प्रदर्शन, तुलना, विश्लेषण, उद्घाटन, अभिनय एवं गृहकार्य आदि सभी युक्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

भूगोल अध्यापन के लिए सहायक सामग्री

१. मॉडल[1] : वे वस्तुयें जिनके नमूने प्राप्त न हो सकें, उनके मॉडल एकत्रित किए जा सकते हैं। मॉडल किसी वास्तविक वस्तु की उसी आकार में या अनुपात का ध्यान रखते हुए बड़े या छोटे आकार में, प्रतिमूर्ति को कहते हैं। मॉडल ऐसे होने चाहिए कि वास्तविक वस्तु का स्पष्ट अनुमान छात्रों को हो सके। मॉडल बने-बनाए क्रय किये जा सकते हैं, अध्यापक स्वयं तैयार कर सकता है, तथा छात्रों से भी तैयार कराये जा सकते हैं। मॉडल यथासम्भव

1. Model.

५. मानचित्र[1] : एटलस का उपयोग छात्रों के स्वाध्याय में है तथा मानचित्रों का प्रयोग भूगोल के अध्यापन में है। बड़े मानचित्रों में भी लगभग वे सभी गुण होने चाहिये जो एटलस के मानचित्रों में होते हैं। मानचित्रों का आकार इतना बड़ा होना चाहिये कि सम्पूर्ण कक्षा एक साथ मानचित्र को स्पष्टतः देख और समझ सके। प्रत्येक मुख्य बात को प्रदर्शित करने के लिए अलग मानचित्र होना चाहिये। भित्ति-मानचित्रों (वॉल मैप्स) का निर्माण छात्रों से भी कराया जा सकता है। मानचित्रों पर स्थान आदि दिखाने के लिए संकेतक का प्रयोग करना चाहिये।

६. एटलस[2] : विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों को स्पष्ट करने वाले विभिन्न भूभागों के मानचित्रों का पुस्तकाकार संग्रह एटलस है। भूगोल के अध्ययन में एटलस का प्रयोग करना भौगोलिक तथ्यों को समझने एवं स्मरण करने में सहायक सिद्ध होता है। यदि छात्रों को इसका अभ्यास करा दिया जाय कि वे भूगोल का अध्ययन करते समय एटलस का समुचित प्रयोग करते रहें तथा स्वय भी आवश्यक रेखाचित्र बनाते जाँय तो उनका भौगोलिक ज्ञान मस्तिष्क में स्थाई हो जायगा। प्रत्येक छात्र के पास घर पर प्रयोग करने के लिए एट-लस होनी चाहिए तथा यदि स्कूल में भी स्वाध्याय के लिए समय एवं स्थान उपलब्ध हों तो छात्रों को भूगोल की पुस्तकों के साथ-साथ एटलस भी प्राप्त होनी चाहिये। एटलसों में नकशे स्पष्ट, सादे तथा आकर्षक होने चाहिए तथा वे सभी बातें पृथक्-पृथक् दिखाई देनी चाहिये जिनकी भौगोलिक अध्ययन में आवश्यकता होती है। नकशों में उन्हीं रंगों का प्रयोग होना चाहिये जो उसके लिये मान्य हों तथा नकशों के बनाने में मान्य प्रक्षेपन[3] विधि का प्रयोग होना चाहिये।

७. ग्लोब : ग्लोब पृथ्वी की आकृति की अधिक वास्तविक प्रति-मूर्ति है। अतः ग्लोब द्वारा पृथ्वी की बनावट का दिग्दर्शन अधिक वास्तविक रूप में कराया जा सकता है। अक्षांश, देशान्तर, दिन-रात, एवं पृथ्वी तथा सूर्य की स्थिति जैसे विषयों का ज्ञान ग्लोब द्वारा ही सम्भव है। जलवायु, वायु पेटियाँ

---

1. Maps. 2. Atlas. 3. Projection.

ग्रामोफोन द्वारा सुनना भी लाभदायक है। परन्तु इसमें एक दोष यह है कि छात्र केवल श्रोता बने बैठे रहते हैं।

१२. **एपिस्कोप और एपिडायस्कोप :** उपिस्कोप यन्त्र से अपारदर्शक वस्तुओं पर बने छोटे चित्रों रेखा चित्रों, चार्टों एवं आँकड़ों इत्यादि को बड़े आकार में छायापट पर दिखाया जा सकता है। एपिडाइस्कोप से पारदर्शक स्लाइडों पर बने चित्रों को उसी प्रकार दिखाया जा सकता है। एपीडाइस्कोप दोनों यन्त्रों के स्थान पर काम करता है।

१३. **पाठ्य-पुस्तकें :** सभी विषयों की तरह भूगोल में भी पाठ्य-पुस्तकें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। पाठ्य-पुस्तकें छात्रों की योग्यता एवं अवस्था के अनुकूल स्पष्ट, सरल एवं सुबोध होनी चाहिये। वे ऐसी हों कि भूगोल के प्रति छात्रों की जिज्ञासा एव रुचि का विकास हो, तथा उनमें प्रस्तुत विवरण पाठ्य-क्रम के उद्देश्यों को पूर्ण करने में समर्थ हो। पुस्तकों में आवश्यक चित्र, मानचित्र, रेखाचित्र एवं सूची आदि अवश्य होने चाहिये। स्कूल के पुस्तकालय में भी ऐसी ही पुस्तकें उपलब्ध होनी चाहिये। अच्छा हो यदि भूगोल कक्ष में ही एक भूगोल-सम्बन्धी पुस्तकालय हो, जिसमें पर्याप्त मात्रा में पाठ्य पुस्तकें एवं सहायक पुस्तकें हों, भूगोल विषय में सहायक पुस्तकों का तात्पर्य ऐसी पुस्तकों से है जिनमें यात्राओं का वर्णन, भौगोलिक कहानियाँ एवं भौगोलिक अन्वेषणों की कहानियाँ हों। यदा-कदा अवलोकनार्थ पुस्तकें (रेफरेन्स बुक), चित्रों के संग्रह तथा गाइड-पुस्तिकायें इत्यादि भी इस पुस्कालय में हों तो अच्छा हो।

भूगोल-कक्ष

स्कूल में एक भूगोल-कक्ष अत्यन्त आवश्यक है। यह ऐसा होना चाहिये कि जिसमें भूगोल-अध्यापन सम्बन्धी सभी सामग्री व्यवस्थित ढंग से रक्खी जा सके, तथा अध्यापन-कार्य में सुविधा हो। भूगोल अध्यापन के लिये उपयोगी सामग्री का वर्णन ऊपर दिया जा चुका हैं। उनमें से जो भी उपलब्ध हो उनको भूगोल कक्षा में इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिये कि भूगोल का अध्ययन करने की छात्रों में उत्सुकता उत्पन्न हो। भूगोल-कक्ष में जाने पर छात्रों का हृदय स्वयं लालायित हो कि प्रदर्शन के लिये रखे हुये या दीवाल में

लेना चाहिये, तथा जिस अन्विति में अध्यापन विधि का प्रयोग करना हो लिख देना चाहिये। जहाँ प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग करना हो वहाँ प्रश्नों को भी लिख देना चाहिये। श्यामपट सारांश या तो साथ-साथ लिखते जाना चाहिये या प्रत्येक अन्विति की समाप्ति पर प्रश्नों द्वारा छात्रों से निकलवाकर लिख देना चाहिये।

पुनरावृत्ति में कुछ ऐसे बोध प्रश्न छात्रों से करना चाहिये कि सम्पूर्ण पाठ एक बार संक्षेप में दुहरा दिया जाय।

प्रयोग का अर्थ है पढ़ाये हुये पाठ के ज्ञान का अभ्यास। इसके लिये छात्रों को ऐसे कार्य जैसे मानचित्र, रेखा चित्र एवं मॉडल बनाना, निबन्ध लिखना तथा सहायक पुस्तकों का अध्ययन करना आदि किये जा सकते हैं।

छात्राध्यापकों को पाठ-सूत्र संख्या, तिथि, समय, विषय, उप-विषय, प्रसंग, स्कूल, कक्षा आदि भी शीर्ष पर लिख देना चाहिये तथा उसके नीचे भूगोल पढ़ाने के सामान्य उद्देश्य तथा प्रसंग के पढ़ाने के विशिष्ट उद्देश्य लिखकर तब वास्तविक पाठ सूत्र लिखना चाहिये।

कुछ अन्य आवश्यक बातें

भूगोल विषय का सम्बन्ध सभी सामाजिक विषयों से, विज्ञान से, गणित से तथा भाषा से है। अतः भूगोल का अध्यापन करते समय अध्यापक को ध्यान रखना चाहिये कि छात्रों को इन सम्बन्धों का समुचित आभास प्राप्त होता जाय जिससे भूगोल विषय अधिक उपयोगी एवं नागरिकता की भावना को जन्म देने वाला हो।

भूगोल में परीक्षा प्रणाली को ऐसे ढंग से परिवर्तित करने की आवश्यकता है कि अध्यापक छात्रों को रटने के लिये विवश न करें, वरन्, उनको वास्तविक भौगोलिक ज्ञान को देने का प्रयत्न करें। इसके लिये नवीन परीक्षण प्रणालियों का तथा परम्परागत परीक्षण-प्रणाली का सम्मिश्रण करके, तथा उनका समुचित निरीक्षण करके कोई उचित प्रणाली निकालने की आवश्यकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. भूगोल विषय के महत्त्व एवं पाठ्यक्रम में भूगोल के स्थान पर प्रकाश डालिये।

२. भूगोल विषय के अध्यापन के विभिन्न उद्देश्यों पर अपना मत प्रकट कीजिये, तथा बताइये कि शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर किन उद्देश्यों पर बल देना चाहिये।

३. भूगोल अध्यापन की विभिन्न विधियों का वर्णन कीजिये।

४. भूगोल कक्ष की सज्जा का एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत कीजिये।

५. भूगोल के किसी एक पाठ का पाठ-सूत्र-निर्माण कीजिए।

अंग्रेजी भाषा में ज्ञान का भण्डार भी महान् तथा विस्तृत है। इस भाषा में साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं तन्त्रात्मक (टेकनिकल) सभी प्रकार का ज्ञान, मौलिक तथा अनूदित दोनों रूपों में, उच्च कोटि का और अथाह है। अतः इस प्रकार के ज्ञान से लाभान्वित होने के लिये अंग्रेजी का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में नवीनतम गवेषणाओं से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन शीघ्रातिशीघ्र होता रहता है। समय के साथ बौद्धिक प्रगति के लिये इनकी जानकारी अनिवार्य है। भारत की प्राचीन भाषाओं के ग्रन्थों के अनुवाद तथा उनकी टीकायें भी जितना अधिक अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध हैं उतना किसी एक भारतीय भाषा में नहीं। वर्तमान भारतीय भाषाओं का साहित्य भी अंग्रेजी भाषा से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है। इन सब बातों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजी भाषा का अध्ययन एवं अध्यापन देश को प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है, तथा भारतीय भाषाओं में भी ज्ञान का पर्याप्त भण्डार होना अंग्रेजी भाषा के बिना असम्भव है।

अंग्रेजी भाषा इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के वादविवाद के माध्यम के रूप में यह स्वीकृत है। तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के हेतु एवं वर्तमान युग का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के हेतु अंग्रेजी का अध्ययन और अध्यापन नितान्त आवश्यक है।

शिक्षण-विधियाँ

शिक्षण-विधियों का मूल्यांकन करने से पूर्व यह निश्चित कर लेना अत्यन्त आवश्यक है कि अंग्रेजी भाषा या मातृभाषा के अतिरिक्त किसी भी अन्य भाषा में छात्रों का ज्ञान और क्षमता किस सीमा तक अपेक्षित है। वैसे तो व्यक्तियों को जितनी ही अधिक भाषाओं की जितनी ही अधिक जानकारी हो उतना ही उत्तम है, परन्तु मस्तिष्क की ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति असीमित नहीं है, और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की ग्राह्यशक्ति भिन्न है। विदेशी भाषा का भार छात्रों पर उसी सीमा तक उचित है जिस सीमा तक व्यक्तित्व के अन्य अंगों के विकास में बाधा न पड़े।

कराती है। जहाँ प्रत्यक्ष संयोग असम्भव होता है वहाँ अंग्रेजी में ही सोचने, विचारने, बोलने एवं वाक्य में प्रयोग करने के अभ्यास द्वारा शब्द समझाये जाते हैं। इस विधि में व्याकरण के व्यावहारिक ज्ञान पर बल दिया जाता है तथा शास्त्रीय ज्ञान अनावश्यक समझा जाता है। इस विधि में भाषा के भाषण-पक्ष पर बल होने के कारण भाषा की इकाई वाक्य रहता है न कि शब्द अतः इस विधि में केवल शब्दों का बोध मात्र ही नहीं प्राप्त होता, उनके पर्याप्त प्रयोगों द्वारा उन पर पूर्णतया अधिकार भी प्राप्त हो जाता है। यह विधि छात्रों को अंग्रेजी में उच्च कोटि की क्षमता प्रदान करने में समर्थ है।

(ब) पदान्तर विधि[1] :

पदान्तर विधि प्रत्यक्ष विधि का ही थोड़ा सा सरल किया हुआ रूप है। प्रत्यक्ष विधि की तरह यह भी मौखिक कार्य को अधिक आवश्यक समझती है, पूर्ण वाक्य को ही इकाई मानती है, तथा अभ्यास द्वारा अंग्रेजी भाषा में भाव-प्रकाशन की आदत बनाने का प्रयत्न करती है।

इस विधि में मातृ-भाषा का प्रयोग पूर्ण रूप से वर्जित नहीं है, परन्तु उसका प्रयोग कम से कम किया जाता है। इसका ढंग इस प्रकार है: एक समय में किसी एक विशेष रचना के वाक्य का प्रयोग सिखाया जाता है। जिस विशेष रचना के वाक्य का प्रयोग सिखाना होता है उस रचना का एक वाक्य लेकर उसका अर्थ स्पष्ट कर दिया जाता है। अर्थ मातृभाषा में भी स्पष्ट किया जा सकता है। तदुपरान्त उस वाक्य को पदों में विभक्त कर दिया जाता है। जिस प्रकार के पद विशेष का प्रयोग सिखाना होता है, उसे स्थाई मान कर शेष पदों को अन्य सम्भव पदों से अपदस्थ करके नये वाक्य बनाये जाते हैं। इस प्रकार एक आधार वाक्य पर सैकड़ों नये वाक्य बनते हैं जो छात्रों को स्मरण हो जाते हैं तथा उनका वे समय-समय पर अंग्रेजी बोलने में प्रयोग कर सकते हैं। इस विधि से नाना प्रकार की वाक्य रचनाओं का अभ्यास देकर अंग्रेजी बोलने तथा लिखने की योग्यता उत्पन्न की जाती है।

---

1. Substitution Method.

अब यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि उन छात्रों के लिये जो अंग्रेजी भाषा में उच्च कोटि की क्षमता प्राप्त करने योग्य हैं प्रथम विधि अधिक उपयोगी है, यद्यपि उसके साथ द्वितीय और तृतीय विधियों का सम्मिश्रण किया जा सकता है। निम्न माध्यमिक स्तर पर प्रत्यक्ष विधि से अध्यापन करके उन छात्रों को चुन लेना जो इस विधि से लाभान्वित हो सकते हैं, तथा उच्च माध्यमिक स्तर पर भी उनको इसी विधि से अंग्रेजी भाषा की शिक्षा देना अधिक श्रेयस्कर है। शेष छात्रों के लिये उच्च माध्यमिक स्तर पर अनुवाद विधि अधिक उपयोगी है। दोनों प्रकार की विधियों से अलग-अलग पढ़ाये हुए छात्रों के लिये अलग-अलग पाठ्य-पुस्तकों एवं परीक्षा विधियों की भी आवश्यकता है।

शब्द-ज्ञान

यद्यपि प्रत्यक्ष एवं पदान्तर विधियों में वाक्य को भाषा की इकाई माना गया है, परन्तु उसमें भी शब्द-ज्ञान अनिवार्य है। वास्तव में भाषा की आधार भूत इकाई शब्द ही है। अतः शब्द-ज्ञान की अभिवृद्धि भाषाध्यापन का मुख्य अंग है।

किसी भी शब्द पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिये उसके बारे में पाँच प्रकार के ज्ञान की नितांत आवश्यकता है, और उनमें एक की भी कमी से शब्द-ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। ये हैं : (१) शब्द के उच्चारण का ज्ञान, (२) शब्द की वर्त्तनी (स्पेलिंग) का ज्ञान, (३) शब्द के अर्थ का ज्ञान, (४) शब्द के प्रयोग का ज्ञान, एवं (५) शब्द के बारे में व्याकरण-सम्बन्धी (रूप परिवर्तन, व्युत्पत्ति, एवं पद-व्याख्या आदि का) ज्ञान।

उच्चारण की शिक्षण-विधियाँ

अनुकरण-विधि :

यह विधि सरल एवं स्वाभाविक है। इस विधि में छात्र अध्यापक के ...चारण को सुनकर उसका अनुकरण करते हैं। इस विधि से शब्दों के ...रण का अभ्यास करवाने के लिये सर्वप्रथम अध्यापक शब्दों का उच्चारण

की अशुद्धियां, यदि शुद्ध वर्त्तनी के अभ्यास के लिये कोई प्रभावपूर्ण ढंग नहीं अपनाया गया है, होती ही रहेंगी। वर्त्तनी अभ्यास की कुछ विधियों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

मौखिक स्मरण विधि :

इस विधि में शब्दों के अक्षर-क्रम को मौखिक रूप में स्मरण किया जाता है। पाठ्य-पुस्तकों में प्रयुक्त कठिन शब्दों के अर्थ स्मरण करने के साथ-साथ उनके अक्षर-क्रम भी स्मरण किये जाते हैं। वर्त्तनी के अभ्यास के लिये विशेष वर्त्तनी पुस्तिकायें (स्पेलिंग बुक) भी प्राप्य हैं जिनमें शब्दों की सूचियाँ अक्षर-क्रम के साम्य, उनकी क्लिष्टता अथवा अक्षर-संख्या की आधार पर वर्गीकृत दी रहती है और उन पुस्तिकाओं में पढ़कर छात्र शब्दों के अक्षर-क्रम स्मरण करते है। कभी-कभी अध्यापक कठिन शब्दों के अक्षर-क्रम पूछ कर परीक्षा भी लेते रहते हैं। इन वर्तनी पुस्तिकाओं को बनाते समय लेखकों को ध्यान रखना चाहिये कि जिस कक्षा के लिये वर्त्तनी पुस्तिका बनाई जाय उस कक्षा के स्तर पर प्रयुक्त होने वाले शब्द ही उस पुस्तिका में रहें। अनावश्यक रूप से कठिन शब्दों का संग्रह पुस्तिकाओं में न किया जाय।

लिखित स्मरण विधि :

केवल मौखिक स्मरण से लिखने में वर्त्तनी सम्बन्धी अशुद्धियों की सम्भावना पूर्ण रूप से दूर नहीं हो सकती। अतः अक्षर क्रम का लिखित स्मरण करना भी आवश्यक है। इसके लिये सबसे उपयोगी ढंग अनुकरण लेख है। परन्तु छात्रों से अनुकरण लेख का कार्य उतना ही कराना चाहिए जिनमें वे ऊब कर लापरवाही न करने लगें। कठिन वर्त्तनी वाले शब्दों को कई बार लिख कर अभ्यास किया जा सकता है। श्रुत लेख इतना उपयोगी नहीं, परन्तु श्रुत लेख लिखवाने के पहले यदि अध्यापक कठिन शब्दों की वर्त्तनी का अभ्यास करा दें तो यह भी लाभप्रद हो सकता है। लिखित अभ्यास से सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि बालक समान उच्चारण वाले विभिन्न अर्थों एवं विभिन्न वर्त्तनी के शब्दों को उनके प्रसंग में स्मरण करेंगे, अतः अशुद्धियों की सम्भावना न्यूनतम रह जायेगी।

वाक्य में प्रयोग करने में अशुद्धियों की सम्भावना अत्यधिक है। अंग्रेजी के माध्यम से ही अंग्रेजी शब्दों के अर्थ समझाने की भी कई विधियाँ प्रचलित हैं; जैसे—(१) अंग्रेजी पर्याय[1] देने की विधि, (२) व्युत्पत्ति[2] बताने की विधि (३) परिभाषा बताने की विधि, (४) अन्य समानान्तर शब्दों या पदों से तुलना करने की विधि, (५) विलोम[3] बताने की विधि, (६) अन्य सुपरिचित शब्दों से भिन्नता बताने की विधि, एवं (७) सरल भाषा में भावार्थ बताने की विधि। इन विधियों के प्रयोग करने में एक विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वह यह कि इन विधियों का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब भाषा का पर्याप्त ज्ञान छात्रों को पहले से ही हो। अतः प्रारम्भिक अवस्था में इन विधियों का प्रयोग नितान्त असम्भव है। पुनश्च इन विधियों के प्रयोग से भी शब्दों पर पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त कराया जा सकता। शब्दों के अर्थ समझ लेने के उपरान्त भी यह सम्भावना रहती है कि उनका प्रयोग शुद्ध एवं प्रभावोत्पादक ढंग से छात्र न कर सकें।

प्रत्यक्ष विधि :

इस विधि में शब्दों का अर्थ समझाने के लिए जिन वस्तुओं या क्रियाओं को शब्द इंगित करते हैं उनको प्रत्यक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है। जिन वस्तुओं को प्रत्यक्ष प्रस्तुत करना असम्भव होता है उनको मूर्तियों, चित्रों एवं रेखाकृतियों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस विधि से शब्दार्थ समझाने में कई विशेषतायें हैं। सर्वप्रथम प्रारम्भिक अवस्था में शब्दार्थ समझाने के लिए इसके सिवा केवल एक ही विधि और उपलब्ध है, और वह है मातृभाषा में अनुवाद विधि। परन्तु अनुवाद विधि से यह उत्तम है, क्योंकि इस विधि से शब्दों का अनुभुतियों से सीधा सम्पर्क स्थापित होता है जिसके फलस्वरूप शब्दों का प्रयोग अधिक प्रभावशाली ढंग से करने की क्षमता उत्पन्न होती है। उच्च कक्षाओं में भी इसी कारण से शब्दार्थ समझाने में अंग्रेजी माध्यम से ही समझाने की विधियों से भी यह उत्तम है। प्रारम्भिक अवस्था में तो यह विधि छात्रों के ध्यान, रुचि, बुद्धि, चिन्तन एवं कल्पना आदि को आकर्षित

---

1. Spnonym. 2. Derivation. 3. Antonym.

एवं वार्तालाप करवाएं जिनमें सिखाये हुये शब्दों को स्वाभाविक रूप से प्रयोग करने की आवश्यकता पड़े। छात्रों को ऐसी सहायक पुस्तकें पढ़ने के लिये प्रेरित करें जिनमें अधिकतर पाठ्य-पुस्तकों में सीखे हुये शब्दों का प्रयोग हो, और उनसे एसी रचनायें लिखवायें कि उनमें वे नये सीखे हुये शब्दों को प्रयोग करने की स्वाभाविक आवश्यकता को अनुभव करें।

व्याकरण-शिक्षण

भाषा-सम्बन्धी अध्ययन में व्याकरण का अध्ययन सर्वाधिक दुष्कर एवं नीरस प्रतीत होता है। इसके कई कारण हैं जिनमें से दो मुख्य कारण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं। पहला कारण यह है कि व्याकरण में परिभाषाओं पर अधिक बल दिया जाता है, जिसके लिये विशेष पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता पड़ती है, और परिभाषाओं में साधारण सी भूल भी अर्थ का अनर्थ कर देती है। अतः व्याकरण के अध्ययन में मस्तिष्क की स्मरण-शक्ति पर आवश्यकता से अधिक भार पड़ता है, एवं स्मरण-वस्तु शाब्दिक अधिक होने के कारण अरुचिकर भी होती है। दूसरा कारण यह है कि नियमों में अपवादों, विशेषतः अंग्रेजी भाषा में, का बाहुल्य है। अतः नियमों में एवं उनके आधार पर भाषा-प्रयोग में पूर्ण विश्वास नहीं उत्पन्न हो पाता और फलस्वरूप व्याकरण के नियमों का भय-रहित उपयोग समझ में नहीं आता।

व्याकरण-शिक्षण के बारे में दो प्रकार के विरोधी मत हैं। कुछ शिक्षाविद् व्याकरण की उपयोगिता स्वीकार करते हैं, एवं मानसिक अनुशासन के लिये उसे आवश्यक समझते हैं। इन लोगों का मत है कि व्याकरण को भाषा-शिक्षण में मुख्य-स्थान देना चाहिये। इनके अनुसार वस्तुतः व्याकरण ही भाषा-शिक्षण का आधार होना चाहिये। अन्य कुछ शिक्षा-विद् इसे अनुपयोगी समझते हैं। अतः इसकी कठिनता एवं नीरसता से छात्रों को सुरक्षित रखने के लिये व्याकरण का भाषा-शिक्षण से पूर्णतयः बहिष्कार करने के पक्ष में है। इनके अनुसार विदेशी भाषा के व्याकरण का शिक्षण केवल व्याकरण के शास्त्रीय ज्ञान के लिये प्रत्येक छात्रों को देने का प्रयत्न करना अनावश्यक ही नहीं, वरन् हानिप्रद है क्योंकि इसकी कठिनता साधारण छात्र में भाषा के प्रति अरुचि

वर्णमाला विधि :

इस विधि में छात्रों को सर्वप्रथम वर्णों का ज्ञान कराया जाता है। लिखित या मुद्रित रूप में वर्णों को प्रस्तुत करने का नाम बताया जाता है तथा उनसे उत्पन्न होने वाली ध्वनियों का भी परिचय कराया जाता है। सब वर्णों का पृथक्-पृथक् परिचय कराने के उपरान्त उन वर्णों से बनने वाले छोटे-छोटे शब्दों या शब्द-खण्डों का ज्ञान प्राप्त कराया जाता है और धीरे-धीरे बड़े शब्दों को सिखाने का प्रयत्न किया जाता है। सबसे अन्त में वाक्यों का पढ़ना सिखाया जाता है। वाक्यों को पढ़ने के अभ्यास करने के उपरान्त गद्य या पद्य के पठन की क्षमता छात्रों में उत्पन्न हो जाती है। केवल थोड़ी सी सहायता से छात्र गद्य या पद्य पढ़ने के अभ्यस्त हो जाते हैं।

शब्द विधि :

इस विधि में पूर्ण शब्द को भाषा-शिक्षण की इकाई माना गया है। वस्तुओं और चित्रों के सम्मुख साथ ही साथ उनका लिखित नाम प्रस्तुत किया जाता है। लिखित नाम का उच्चारण छात्रों को बता दिया जाता है एवं उनके उच्चारण का अभ्यास करा दिया जाता है। इस प्रकार छात्र शब्द का उच्चारण, उसका पढ़ना एवं उसका अर्थ तीनों साथ-साथ सीखते हैं। जब सीखे हुये शब्दों की संख्या पर्याप्त हो जाती है तब वाक्यों का पढ़ना सिखाया जाता है। वर्णों की प्रथक् पहचान छात्रों को अचेतन रूप से हो जाती है। वर्णों का क्रम अन्त में समझा दिया जाता है। इस विधि को, देखो और कहो विधि के नाम से भी पुकारा जाता है, तथा यह अवयवीवादी मनोविज्ञान[3] पर आधारित है।

वाक्य विधि :

इस विधि में भाषा-शिक्षण की इकाई को पूर्ण वाक्य माना गया है। बालकों के सम्मुख वे छोटे-छोटे वाक्य जो वे मौखिक रूप में सीख चुके होते हैं, लिखित रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। इस लिखित वाक्य के शब्दों की ओर संकेत हुए

1. Gestalt Psychology.

अथवा समवेत पठन, छात्रों को अभ्यास देते समय पठन के उपरोक्त आवश्यक गुणों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। कविता पाठ में कविता के रस की अनुभूति करने के लिये सस्वर पठन का प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

लेखन-क्रिया का शिक्षण

अंग्रेजी भाषा में चार प्रकार की लिपियों का प्रयोग होता है : छोटे और बड़े दोनों प्रकार के अक्षर की लिखित एवं मुद्रित लिपियाँ। छात्रों को लिखने के अभ्यास के लिए केवल लिखित लिपिका ही देना चाहिये, मुद्रित लिपि की आवश्यकता केवल पढ़ने में लगती है तथा उसका लिखना छात्र स्वतः सीख लेंगे। लिखित लिपि में सर्वप्रथम छोटे अक्षरों का सिखाना अधिक उपयुक्त है।

लेखन सिखाने की निम्नलिखित तीन विधियाँ प्रचलित है :

किंडरगार्टन सामग्री द्वारा :

इस विधि में अक्षरों की बनावट लकड़ी के गुटकों को मिलाकर सिखाई जाती है। यह विधि कम अवस्था वाले बालकों के लिए उपयोगी है, परन्तु अंग्रेजो की शिक्षा ऐसे समय प्रारम्भ को जाती है जब छात्र अवस्था में पर्याप्त बड़े हो चुके होते हैं तथा मातृभाषा के लिखने में कलम पकड़ना सीख चुके होते हैं। अतः हमारे देश में अंग्रेजो लिखना सिखाने में किंडरगार्टन सामग्री का प्रयोग व्यर्थ का खिलवाड़ मात्र होगा।

रूपरेखानुकरण विधि :

सर्वप्रथम पेंसिल आदि से अध्यापक अक्षरों की हल्की रूप रेखा खींच देता है, फिर छात्र उस पर कलम से स्याही फेरते हैं।

स्वतन्त्र अनुकरण विधि :

इसी विधि में छात्र लिखे हुए अक्षरों को देखकर स्वयं लिखते हैं। छात्रों के लेखन के अभ्यास में सुलेख पर विशेष ध्यान देना चाहिये। लेखन स्वच्छ, स्पष्ट, सुडोल एवं सादा होना चाहिये तथा अक्षरों का आकार समान होना चाहिये। टेढ़ी-मेढ़ी बनावट एवं सजधज अनावश्यक है और किसी भी दशा में लिखावट की स्पष्टता का उसकी सजधज पर बलिदान करना उचित नहीं है। सुलेख में उचित वातावरण, उचित आसन, उचित आदर्श, उचित लेखन-

विचार और भाव सीध अंग्रेजी में व्यक्त किये जा सकें। ऊपर लिखा जा चुका है कि अंग्रेजी भाषा की उच्च कोटि की जानकारी सभी छात्रों को नहीं दी जा सकती, परन्तु कुछ प्रतिभाशाली छात्रों को उच्चकोटि की जानकारी देना आवश्यक है। अतः ऐसे छात्रों के लिये यह प्रबन्ध करना अत्यन्त आवश्यक है कि उन्हें भाषण समझने एवं करने के लिये उपयुक्त अवसर मिले।

मौखिक भाषण के पाठों का प्रबन्ध

ऐसे शिक्षण की प्रत्यक्ष विधि मौखिक भाषण पर ही अधिक बल देती है। पाठ सम्बन्धित वस्तुओं तथा चित्रों आदि को प्रस्तुत करके उसके बारे में अध्यापक छात्रों से अंग्रेजी के माध्यम से ही वार्तालाप करता है। स्वयं छात्रों का आपस में ही वार्तालाप भी कराया जा सकता है, परन्तु इसमें अध्यापक को ध्यान रखना चाहिए कि एक साथ एक से अधिक छात्र न बोलने पावें। इस प्रकार भाषण समझने एवं करने दोनों की क्षमता उत्पन्न होगी। अध्यापक छात्रों से छोटे से छोटे कार्यों को करने को कहे और इस प्रकार जो कार्य छात्र करें उसको वे कहें भी। इस प्रकार भाषण में आज्ञा-सूचक क्रियाओं को समझने एवं वर्तमान काल की क्रियाओं का प्रयोग करने का ज्ञान छात्र प्राप्त करेंगे। पाठ्य पुस्तक एवं सहायक पुस्तकों के पठन के पाठों में भी बोध प्रश्न एवं सारांश-कथन के अवसरों पर भाषण सम्बन्धी अभ्यास होता है।

मौखिक रचना के पाठों का प्रबन्ध

वस्तुओं एवं चित्रों का वर्णन करवाना; वस्तु या चित्र कक्षा में प्रस्तुत किये जा सकते हैं या उन वस्तुओं या चित्रों के बारे में वर्णन किया जा सकता है जिन्हें छात्रों ने स्वयं, या अध्यापक के प्रेरित करने पर भली-भाँति निरीक्षण किया हो; कक्षा कहलाना, छात्रों के निजी अनुभवों का वर्णन करवाना, किसी विषय पर पूर्व अभ्यास के उपरान्त वक्तृता दिलवाना, यह सब प्रबन्ध छात्रों के के भाषण-ज्ञान एवं अनुभव स्तर के अनुकूल करना चाहिये।

भाषण सुनने का अभ्यास

समय-समय पर स्वयं अध्यापक अपने भाषणों का प्रबन्ध करें, यदि अंग्रेजी के अच्छे वक्ता उपलब्ध हो सकें तो उनके भाषणों का प्रबन्ध करें, यदि नगर में

संशोधन के लिए किसी अलग पाठ का प्रबन्ध करना चाहिए, और संशोधन-कार्य में व्यक्तिगत उदाहरण न देने चाहिए। व्यक्तिगत त्रुटियों का संशोधन सदैव एकान्त में होना चाहिए।

स्वाभाविकता, प्रवाह, श्रवणीयता, स्पष्टता एवं प्रभावोत्पादकता भाषण के गुण हैं। अनावश्यक रूप से शब्दों का केवल शब्दों के लिए प्रयोग करना भाषण का (लिखित कार्य का भी) दुर्गुण है। ये गुण अभ्यास से उत्पन्न हो सकते हैं। भाषण को अनावश्यक शाब्दिकता से बचाने के लिए ध्यान रखना चाहिए कि छात्र केवल तभी कुछ कहें जब उनके पास कहने योग्य कुछ हो।

गद्य-शिक्षण

उद्देश्य : गद्य-शिक्षण का एक उद्देश्य होता है भाषा-सम्बन्धी ज्ञान की अभिवृद्धि, जिसमें शब्द-ज्ञान, वाक्य-रचना ज्ञान एवं विभिन्न प्रकार के भावों एवं विचारों को व्यक्त करने वाली शैलियों का ज्ञान मुख्य है। दूसरा उद्देश्य होता है वस्तु-सम्बन्धी ज्ञान की अभिवृद्धि।

विधि : शब्द-ज्ञान की अभिवृद्धि के बारे में ऊपर लिखा जा चुका है। पाठ्य-पुस्तकों में आए हुए नवीन शब्दों का ज्ञान उन विभिन्न विधियों में से जो अध्यापक को अधिक उपयोगी एवं प्रयोग करने योग्य समझ पड़े उनका प्रयोग द्वारा कराया जाय। वाक्य-रचना का ज्ञान छात्रों को अधिकाधिक गद्य पढ़ने से स्वयं प्राप्ति होगा, केवल उनमें स्वाध्याय की रुचि उत्पन्न करने की आवश्यकता है तथा उनको ऐसी सहायक पुस्तकें बताने की आवश्यकता है जिन्हें वे रुचिपूर्वक बिना कोष की सहायता लिए पढ़ और समझ सकें। व्याकरण में सीखे हुए नियमों के आधार पर वाक्य-रचना का समय-समय पर विवेचन भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है, परन्तु यह विवेचन व्याकरण के शास्त्रीय ज्ञान पर न आधारित होकर व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित होना चाहिए, तथा पाठ्य-पुस्तक में आए हुए केवल उन वाक्यों का होना चाहिए जिनका विवेचन छात्रों की वाक्य-रचना में सहायक है।

एवं रसास्वादन में सहायक होता है। पठन में मनोचित लय, स्वर, गति तथा मति का विशेष ध्यान रखना चाहिये। समानार्थी कविता पदों का पठन कविता में व्यक्त मनोप्रतिमा[1] शृंखला स्पष्ट करने में सहायक होता है। कविता सम्बन्धी अन्तकथाओं का वर्णन कर देना अत्यन्त आवश्यक है। प्रश्न ऐसे होने चाहिए कि वे कविता में छात्रों की रुचि उत्पन्न करें। कविताओं में तार्किक विवेचन एवं विश्लेषण अवाञ्छनीय है। केवल सारे समय काव्यमय वातावरण बनाए रखना ही अध्यापक का कर्त्तव्य है। इसके लिये आवश्यक है कि छात्रों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार किया जाय तथा उनको आत्मप्रकाशन का समय दिया जाय। गृह-कार्य में सुन्दर पंक्तियों को स्मरण करना, एवं समान भाव वाली अन्य कविताओं का संग्रह करवा दिया जा सकता है।

रचना-शिक्षण

रचना मौखिक एवं लिखित दो प्रकार की होती है। मौखिक रचना-शिक्षण के बारे में भाषण के शिक्षण के सम्बन्ध में बताया जा चुका है। लिखित रचना भी अधिक मात्रा में मौखिक रचना पर ही आधारित है। रचना-शिक्षण का अन्तिम उद्देश्य यह है कि छात्र अपने भावों एवं विचारों को सुन्दर, स्पष्ट, शुद्ध एवं प्रभावोत्पादक भाषा में व्यक्त कर सकें, तथा वे भाव और विचार तर्कपूर्ण ढंग से संगठित भी हों। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि छात्र शुद्ध वाक्य निर्मित कर सकें तथा शब्दों, शब्द समूहों : मुहावरों तथा कहावतों का अवसरानुकूल, शुद्ध एवं प्रभावपूर्ण प्रयोग जानते हों, अतः प्रारम्भ में रचना के विभिन्न अध्यायों में इन्हीं को सिखाने का प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि इस प्रकार के अभ्यासों से शुद्ध वाक्य रचना छात्र सीखते हैं तथा शब्दों आदि पर अधिकार प्राप्त करते हैं, परन्तु इससे छात्रों की आगे की रचनाओं पर एक दूषित प्रभाव भी पड़ता है। छात्रों में यह धारणा उत्पन्न हो जाती है कि अच्छी रचना वह होती है जिसमें अधिक से अधिक ऐसे शब्दों, मुहावरों तथा कहावतों का प्रयोग हो जिनका प्रयोग बहुत कम होता है। अतः वे अपनी रचनाओं, भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति को महत्व न देकर,

---

1. Imagery.

लिये पूर्व लिखित निबन्ध का पुनः स्वयं छात्र द्वारा परिष्कृत करने का अभ्यास अत्यन्त उपयोगी है।

अनुवाद

अनुवाद विधि के भक्त अंग्रेजी-शिक्षण के लिए अनुवाद का प्रयोग करते हैं। अतः वे प्रारम्भ से मातृभाषा का अंग्रेजी में तथा अंग्रेजी का मातृभाषा में अनुवाद सिखाते हैं। परन्तु स्वयं अनुवाद का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अंग्रेजी में व्यक्त भावों एवं विचारों को हिन्दी भाषी लोग अंग्रेजी भाषा सीखे बिना ही इस प्रकार समझ सकें जैसे मूल पढ़कर समझा जाता है, तथा हिन्दी-भाषी लोगों के विचार उसी प्रकार अंग्रेजी भाषी लोगों के सामने प्रस्तुत किये जा सकें, इसके लिये अनुवाद कला का ज्ञान आवश्यक है। अनुवाद का शिक्षण वास्तव में तब प्रारम्भ करना चाहिये जब छात्र हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनों का पर्याप्त ज्ञान पा चुके हों और दोनों भाषाओं में भावाभिव्यक्ति की क्षमता यथेष्ठ मात्रा में उत्पन्न हो चुकी हो। इसके पूर्व अनुवाद-शिक्षण प्रारम्भ करने से अनुवाद के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है तथा अनुवाद में कला-पूर्णता नहीं आती।

अनुवाद विधि का अंग्रेजी शिक्षण के लिए प्रयोग उन छात्रों के साथ करना चाहिए जो केवल काम चलाऊ जानकरी के इच्छुक हों। अनुवाद-कला का शिक्षण प्रतिभाशाली छात्रों के लिए तब होना चाहिये जब वे अंग्रेजी पर पर्याप्त अधिकार प्राप्त कर चुके हों।

अशुद्धियों का संशोधन

लिखित रचनाओं की अशुद्धियों का संशोधन शीघ्र करना नितान्त आवश्यक है, परन्तु संशोधन कार्य इतना कठिन है कि बहुधा अंग्रेजी भाषा के अध्यापक इसको पूर्ण करने में असमर्थ रहते हैं। कुछ ढंग ऐसे हैं जिनसे ये कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं।

लिखित कार्य कराने के पूर्व यदि पर्याप्त मौखिक अभ्यास करा दिया जाय तो व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ कम होंगी। शुद्ध वर्त्तनी का अभ्यास यदि पहले बताई हुई विधियों से सम्पन्न करा दिया जाय तो वर्त्तनी की अशुद्धियाँ कम

प्रयोग असम्भव है लेकिन उच्च कक्षाओं में इसका प्रयोग अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा। इस योजना के अन्तर्गत छात्रों की प्रगति का विवरण रखने का कार्य अध्यापक पर इतना बढ़ जाता है कि इसका प्रयोग तभी सम्भव है जब एक अध्यापक को अध्यापन के लिए छात्र बहुत कम संख्या में दिये जायें।

खेल विधि :

यह विधि मौखिक कार्यों में, अक्षर-क्रम सिखाने में, तथा शब्द-ज्ञान बढ़ाने में अत्यन्त उपयोगी है। यह सब शब्द निर्माण के खेल, वाक्यों द्वारा कथा निर्माण के खेल, अभिनय एवं शब्द अन्त्याक्षरी आदि की सहायता से सम्पन्न किया जा सकता है। खेल विधि से छोटे बच्चों के व्याख्यान का आयोजन किया जा सकता हैं। 'कहो और करो' विधि से क्रिया और उक्ति की शृंखला का निर्माण किया जा सकता हैं। प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस विधि का प्रयोग बड़ा ही रुचिकर है।

प्रॉजेक्ट पद्धति :

इसमें छात्रों को कोई प्रयोजनपूर्ण कार्य सम्पन्न करने को दिया जाता है। उस कार्य से सम्बन्धित सभी विषयों का समन्वित ज्ञान प्राप्त होता है। इसका विशेष गुण यह है कि ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा पूर्णरूप से स्वाभाविक होती है। अत: ध्यानहीनता की समस्या नहीं उत्पन्न होती। यह ज्ञान-कार्य से सम्बद्ध होने के कारण अधिक सजीव एवं वास्तविक होता है। परन्तु इसके प्रयोग में कठिनाइयाँ भी हैं। पहली कठिनाई यह है कि इसमें विद्यालय के सभी अध्यापकों के सहयोग एवं रुचि की आवश्यकता है। दूसरी कठिनाई अंग्रेजी शिक्षण के सम्बन्ध में यह है कि ऐसे प्रयोजन पूर्ण कार्य खोजना जिनमें स्वाभाविक रूप से अंग्रेजी प्रयोग करने की आवश्यकता लगे अत्यन्त दुष्कर है। अतः कार्य सम्पन्न करने में या तो छात्र अंग्रेजी का प्रयोग करेंगे तो यह बिल्कुल अस्वाभाविक होगा। यदि ऐसे कार्य खोजे जा सकें जिनके सम्पन्न करने में वर्णन करना, पत्र एवं प्रार्थना पत्र तथा अंग्रेजी पुस्तकों का पठन, एवं अंग्रेजी में मौखिक विवेचन भी स्वाभाविक रूप से अंग्रेजी में लिखना आवश्यक हो

रहता है। शब्द-विधि के प्रयोग के लिए भी सहायक सामग्री आवश्यक है तथा यह भी छात्रों के लिये रुचिपूर्ण है। वर्णमाला विधि नीरस है, परन्तु सामग्री के अभाव में इसी विधि का ही प्रयोग सम्भव है। उच्च कक्षाओं में मौन एवं सस्वर दोनों प्रकार के पठन का अभ्यास कराना चाहिये। मौन पठन का अभ्यास शीघ्रतापूर्वक पढ़कर गम्भीरता के साथ अध्ययन करने एवं कम समय में सार ग्रहण करने के लिये आवश्यक है। सस्वर पठन सौन्दर्यानुभूति एवं रसास्वादन के लिये ठीक है।

लेखन शिक्षण में चारों प्रकार की लिपियों में से एक समय में केवल एक प्रकार की लिपि सिखाना चाहिये। लेखन शिक्षण की तीन विधियाँ हैं, किंडर-गार्टन सामग्री द्वारा, रूपरेखानुकरण विधि से, एवं स्वतंत्र अनुकरण विधि। भारत में छात्र अंग्रेजी लिखना ऊँची अवस्था में सीखते हैं। अतः अन्तिम विधि अधिक श्रेयस्कर है। सुलेख पर, लेखन शिक्षण में विशेष ध्यान देना चाहिये। श्रुतलेख का प्रयोग लेखन-गति बढ़ाने के लिये करना चाहिये।

भाषण की शिक्षा में मौखिक भाषण एवं रचना के पाठों का प्रबन्ध करना चाहिये तथा भाषण सुनने के लिये विभिन्न प्रकार के प्रबन्ध करना चाहिये। छात्रों में यह छमता उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये कि वे स्वयं भाषण द्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति कर सकें तथा अन्य लोगों के भाषणों में व्यक्त विचारों को समझ सकें।

गद्य-शिक्षण में शब्दों की व्याख्या एवं अर्थ-कथन, भावों एवं विचारों का विवेचन, सस्वर पठन तथा मौन पठन दोनों का अभ्यास, व्याकरण का व्यावहारिक ज्ञान यह सब आवश्यक है। कविता-शिक्षण में सस्वर पठन एवं काठिन्य निवारण पर्याप्त है; केवल ध्यान यह रखना चाहिये कि छात्र सौन्दर्यानुभूति एवं रसास्वादन कर सकें।

रचना शिक्षण अधिकतर मौखिक कार्य पर अवलम्बित होना चाहिये। इससे अशुद्धियों में कमी होगी। निबन्ध में स्वतन्त्र भाव प्रकाशन का अवसर देना चाहिये, तथा अधिकतर वर्णनात्मक निबन्ध भी लिखवाये जा सकते हैं। अनुवाद कला का शिक्षण तब प्रारम्भ करना चाहिये जब छात्र पर्याप्त

९. गद्य-शिक्षण एवं पद्य-शिक्षण के उद्देश्यों में क्या अन्तर है तथा उनके शिक्षण में किस प्रकार विभिन्नता की आवश्यकता है ?

१०. लिखित रचना के शिक्षण पर एक निबन्ध लिखिये।

११. अंग्रेजी शिक्षण में डाल्टन योजना, खेल विधि, एवं प्रोजेक्ट पद्धति का प्रयोग करना किस सीमा तक सम्भव है, उसमें क्या कठिनाइयाँ है तथा उनके प्रयोग से क्या लाभ है ?

होती हैं। इस प्रकार का ज्ञान व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिये उपयोगी होता है। वैज्ञानिक तथ्यों एवं सिद्धान्तों का ज्ञान विद्यार्थियों के भावी जीवन में अपनाए जाने वाले व्यवसायों में भी उपयोगी सिद्ध होगा। वैज्ञानिक तथ्य एवं सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होते हैं तथा इस प्रकार का ज्ञान कि विज्ञान ने किस प्रकार क्रमशः प्रगति की, सांस्कृतिक प्रगति का दिग्दर्शन करा सकता है। यदि छात्र अपने भावी जीवन में ऐसे पेशे न भी अपनायें जिनमें इन वैज्ञानिक तथ्यों एवं सिद्धान्तों की आवश्यकता हो, तो भी ऐसा ज्ञान निरर्थक न सिद्ध होगा। क्योंकि यह ज्ञान छात्रों को इस योग्य बनायेगा कि वे अपने चारों ओर की प्रकृति के रहस्यपूर्ण कार्य-कलापों को समझ सकें तथा इस प्रकार उन्हें मनोरंजन प्राप्त होगा एवं प्रकृति का निरीक्षण करने की उनमें अभिरुचि उत्पन्न होगी।

चतुर्थ उद्देश्य का सम्बन्ध विज्ञान की अध्यापन-विधि से है। यदि विज्ञान-शिक्षण में समुचित विधियों का प्रयोग किया जाय तो छात्रों के दृष्टिकोण में वैज्ञानिकता का प्रादुर्भाव होगा तथा उन्हें वैज्ञानिक ढंग से सोचने का अभ्यास भी होगा। विज्ञान के अध्यापक को 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' एवं सोचने के 'वैज्ञानिक ढग' का तात्पर्य भली-भांति समझ लेना चाहिये और ऐसी अध्यापन-विधियों का प्रयोग करना चाहिये कि छात्रों मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं वैज्ञानिक ढंग का प्रादुर्भाव अवश्य हो।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण : वर्तमान युग में निर्मूल भावनाओं एवं अन्धविश्वासों को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। विश्व-शान्ति एवं मानव कल्याण को सबसे अधिक हानि हमारी निर्मूल भावनाओं एवं अन्ध विश्वासों के कारण होती है। यदि हमारे भावी नागरिकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न हो सके तो वे मिथ्या भावनायें एवं अन्ध विश्वास पूर्णत: समाप्त हो जायेंगे और विश्वशान्ति एवं मानव कल्याण की समस्या स्वयं हल हो जावेगी। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रथम विशिष्ट गुण है कार्य कारण के नियम में विश्वास। इस विश्वास के उत्पन्न होने पर घटनाओं एवं स्थितियों के आधारभूत कारणों को खोजने की जिज्ञासा मिथ्या भावनाओं एवं अन्ध-विश्वासों को समूल नष्ट कर

जब किसी समस्या अथवा समस्यापूर्ण स्थिति का भान हो तो विचारक को चाहिये कि सर्वप्रथम वह उस समस्या का विश्लेषण करके उसके बारे में स्पष्टता का अनुभव करने का प्रयत्न करे और तत्पश्चात् समस्या की सीमायें निर्धारित करके उसको परिभाषित करलें। इससे समस्या के हल करने की सम्भावित विधियों का आभास प्राप्त होगा। तदुपरान्त समस्या-सम्बन्धी तथ्यों, सामग्रियों एवं सूचनाओं का संग्रह करना चाहिये तथा उनकी समानताओं एवं असमानताओं का ध्यान रखते हुये उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन करके उन्हें क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित कर लेना चाहिये। फिर सम्भावित हलों का अनुमान लगाकर उनको परीक्षण एवं प्रयोगों द्वारा जाँचना चाहिये, और इस प्रकार समस्या के उचित हल की खोज करना चाहिये। यदि अनुमानित हलों में से कोई भी उपयुक्त न सिद्ध हों तो उन सभी को त्याग कर पुनः नवीन हलों का अनुमान लगाकर उनको परीक्षण और प्रयोगों द्वारा जाँचना चाहिये। यह क्रम तब तक जारी रखना चाहिये जब तक कि शुद्ध हल प्राप्त न हो जाय।

विज्ञान के अध्यापन की विधियाँ

अनुसंधान प्रणाली[1] :

इस प्रणाली को प्रो० एच०ई० आर्मस्टांग ने जन्म दिया था। इस प्रणाली में छात्रों के सम्मुख वैज्ञानिक सिद्धान्तों एवं नियमों को प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत न करके स्वयं उन्हीं से सिद्धान्तों एवं नियमों का अन्वेषण कराया जाता है। छात्रों को केवल कार्य-विधि समझा दी जाती है। वे स्वयं प्रयोग करते हैं और प्रयोग का विवरण अपनी अभ्यास पुस्तिका में लिखते हैं। इस प्रकार प्रयोग द्वारा छात्र स्वयं किसी निष्कर्ष अथवा परिणाम पर पहुँचते है और सिद्धान्त एवं नियम का निरूपण करते हैं।

यह प्रणाली वास्तव में वैज्ञानिक प्रणाली है। इस प्रणाली के प्रयोग से एक विशेष लाभ यह होता है कि छात्र केवल सिद्धांत एवं नियम की जानकारी ही नहीं प्राप्त करते, वरन् उनकी सत्यता में भी छात्रों के हृदय में आस्था उत्पन्न होती है। अध्यापन की यह प्रणाली छात्रों को उस ढंग का भी ज्ञान

1. Heuristic Method.

इससे प्रोजेक्ट में छात्रों की रुचि बनी रहती है, और उनमें बहुत से ऐसे गुण एवं ऐसी क्षमतायें उत्पन्न होती हैं जिनका अत्यधिक शैक्षिक महत्व है। प्रोजेक्ट पूरा करने की योजना यथासम्भव ऐसी होनी चाहिये कि उसमें प्रयुक्त होने वाले सिद्धान्त तथा उसके लिये आवश्यक ज्ञान सामान्य विज्ञान के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत हों। यदि प्रोजेक्ट अन्य विषयों को भी सिखाने के ध्येय से चुना गया हो तो प्रोजेक्ट की योजना और अविक विस्तृत की जा सकती है।

प्रोजेक्ट-प्रणाली के प्रयोग से छात्रों का ज्ञान अधिक सजीव, व्यावहारिक, एवं उपयोगी होता है। अतः इस प्रणाली का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। परन्तु इस प्रणाली में समय अधिक व्यय होता है तथा पाठ्यक्रम की सभी बातें इसके द्वारा नहीं सिखाई जा सकतीं। अतः इस प्रणाली पर पूर्णरूपेण अवलम्बित नहीं हुआ जा सकता।

प्रोजेक्ट को पूर्ण करने में अध्यापक का कार्य पथ-प्रदर्शन करने का होता है अतः अध्यापक को छात्रों को प्रोजेक्ट के लिये आवश्यक साहित्य, एवं साधनों को समयानुकूल परामर्श भी देना चाहिये तथा किसी प्रयोग में यदि कोई खतरा सम्भावित हो तो उससे छात्रों को अवगत करा देना तथा खतरे से बचाव के लिये आवश्यक निर्देश करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

कक्षा के सम्मुख अपने कार्य विवरण प्रस्तुत करने का अवसर भी छात्रों को देना चाहिये। यदि कक्षा के श्रोता छात्र कोई प्रश्न करें तो वक्ता छात्र को उनके उत्तर देने के लिये भी प्रोत्साहित करना चाहिए।

एसाइनमेंन्ट विधि :

इस विधि में छात्रों को किसी एक निश्चित समय में पूरा करने के लिये कार्य की एक निश्चित मात्रा दे दी जाती है। उस कार्य को करने की विधि अध्यापक समझा देता है तथा निर्धारित समय के समाप्त हो जाने पर अध्यापक छात्रों के किए हुये कार्य का परीक्षण करता है तथा भूलों को शुद्ध करता है। यदि अशुद्धियां इतनी अधिक होती हैं कि कार्य असंतोषजनक जान पड़ता है तो पुनः समय की सीमा निर्धारित करके उस कार्य को करने के लिये छात्र से कहा जाता है। परन्तु अध्यापक छात्र को ऐसे निर्देश फिर दे देता है जिससे अशुद्धियों की सम्भावना कम हो जाय।

के केन्द्रों, एवं ऐसे स्थानों का जहाँ विविध प्रकार के यन्त्र कार्य करते हुये देखे जा सकें, आदि का भ्रमण बड़ा लाभप्रद है। इनके द्वारा भौतिक एवं रसायन-शास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग आदि समझाना बड़ा ही सजीव होगा।

भ्रमणों का आयोजन करने में निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

१. भ्रमण का उद्देश्य निश्चित कर लेना चाहिये।

२. भ्रमण के द्वारा जिन बातों को समझाना चाहिये उनके समझाने के ढंग का ब्यौरा अध्यापक को तैयार कर लेना चाहिये।

३. भ्रमण का सम्बन्ध पाठ्यक्रम के ऐसे विषय से होना चाहिये जिसका अध्यापन उस समय कक्षा में चल रहा हो।

४. छात्रों को ऐसे निर्देश पहले ही दे देने चाहिये कि वे भ्रमण में आवश्यक निरीक्षण कर सकें।

५. भ्रमण के उपरान्त भ्रमण-सबन्धी वार्तालाप, निबन्ध लेखन तथा भाषण इत्यादि के लिये छात्रों को अवसर एवं प्रोत्साहन देना चाहिये तथा उन्हें ऐसी सहायता देनी चाहिये कि वे अपने निरीक्षणों का उचित निष्कर्ष निकाल सकें, तथा किसी परिणाम पर पहुँच सकें।

प्रदर्शनियों एवं फिल्मों आदि का आयोजन

समय-समय पर प्रदर्शनियों का आयोजन करने से भी छात्रों को बड़ा लाभ होता है। जो वस्तुयें छात्र प्रदर्शनियों के लिये तैयार करते हैं उनमें प्रयुक्त होने वाले सिद्धान्त और नियम उनमें भली प्रकार समझ में आ जाते हैं तथा सदैव के लिए उनके मस्तिष्क-पटल पर अंकित हो जाते हैं। जो चार्ट एवं चित्र आदि छात्र तैयार करते हैं वे भी उन्हें भली-भाँति स्मरण हो जाते है। प्रदर्शनियों के लिए सामान तैयार करने में रुचि होने के कारण छात्र इतना परिश्रम करते हैं जितना वे साधारण तौर से नहीं करते। देखने वाले छात्र भी कम लाभान्वित नहीं होते। जिन बातों की ओर साधारण अवसरों पर छात्रों का ध्यान आकर्षित करना कठिन प्रतीत होता है उन्हीं की ओर प्रदर्शनियों में

७. प्रकाश, ध्वनि, गर्मी तथा विद्युत एवं इनका उत्पादन, उपयोग तथा वाहन ।

सारांश

सामान्य विज्ञान का पाठ्यक्रम विज्ञान के पाठ्यक्रम से भिन्न है, क्योंकि प्रथम में वैज्ञानिक सिद्धान्तों की जीवन में उपयोगिता पर बल दिया जाता है जब कि दूसरे में प्रारम्भ से ही विज्ञान-विशेषज्ञों को तैयार करने पर बल दिया जाता है ।

सामान्य विज्ञान के शिक्षण के चार प्रकार के उद्देश्य हैं, १. उपयोग सम्बन्धी, २. सांस्कृतिक, ३. व्यवसाय-सम्बन्धी तथा, ४. अनुशासन-सम्बन्धी । प्रथम तीन उद्देश्यों की पूर्ति पाठ्यक्रम पर निर्भर है परन्तु चौथे की पूर्ति उचित अध्यापन-विधि के द्वारा सम्भव है । सामान्य विज्ञान का अध्यापन ऐसे ढंग से होना चाहिये कि छात्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हो एवं उनमें वैज्ञानिक ढंग से सोचने की क्षमता उत्पन्न हो ।

अध्यापन-प्रणालियों का चुनाव करने में विज्ञान के अध्यापक को अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है । सामान्य विज्ञान के अध्यापन की प्रणालियों में अनुसंधान-प्रणाली, विषय-प्रणाली, प्रोजेक्ट प्रणाली, एवं एसाइनमेंट प्रणाली में से किसी का भी प्रयोग समयानुकूल किया जा सकता है । इन प्रणालियों में आवश्यकतानुसार हेर-फेर भी किया जा सकता है । केवल ध्यान यह रखना चाहिये कि सामान्य विज्ञान के अध्यापन के उद्देश्य सुचारु रूप से प्राप्त किए जा सकें ।

सामान्य विज्ञान के अध्यापन में भ्रमण, प्रदर्शनी एवं फिल्म दिखाने आदि के आयोजनों का भी विशेष शैक्षिक महत्त्व है । ऐसे आयोजनों से छात्रों में विषय के प्रति रुचि की अभिवृद्धि होती है, ज्ञान अधिक सजीव होता है, तथा ज्ञान की व्यावहारिकता एवं उपयोगिता का आभास भी छात्रों को प्राप्त होता है ।

४२

कला-कौशल[1]

इसका निश्चय करना कि शिक्षण-विधान के चयन में किस विषय को प्राथमिकता दी जाय, असम्भव तो नहीं परन्तु कठिन बहुत है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग अपना अलग-अलग विशेष महत्व रखते हैं उसी प्रकार शिक्षा के प्रत्येक विषय का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है और वे समान महत्व के हैं; परन्तु नवीन शिक्षा-सिद्धान्त के आधार पर कला और कौशल के विषय को शिक्षा-विषय में प्राथमिकता दी जा सकती है। इसका मूल कारण यह है कि नवीन शिक्षा प्रणाली करके सीखने[2] की पद्धति का अनुसरण करती है और उक्त विषयों में इसकी समुचित व्यवस्था एवं यथेष्ट आवश्यकता है। कला तथा कौशल का अन्योनाश्रित सम्बन्ध है। कुछ विद्वानों ने इनके सविस्तार विवेचन हेतु इन्हें दो विषयों का रूप दे दिया है, परन्तु उनके वर्णन की प्रत्येक पंक्ति से दोनों विषयों की घनिष्टता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। अतः शिक्षा-क्षेत्र में इनको एक ही विषय के रूप में ग्रहण करना समीचीन होगा। प्रस्तुत अध्याय में इसी दृष्टिकोण से केवल कला का ही प्रयोग किया गया है, परन्तु कला का तात्पर्य कला तथा कौशल दोनों से है।

कला की परिभाषा :

इसके पूर्व कि, कला के शिक्षण-विधान पर विचार किया जाय, कला क्या हैं जान लेना आवश्यक है। कला का जन्म मानव सृष्टि के साथ का है और प्राचीन काल से ही इस पर विचार होता आया है तथा कला को भिन्न-भिन्न रूप में पारिभाषित किया गया है। इन परिभाषाओं की पुनरावृत्ति करना विषय को अनायास विस्तृत रूप प्रदान करने के अतिरिक्त और कुछ न होगा। 'कला'

1. Art. 2. Learning by Doing.

करता है जिसको हम निरर्थक और अनावश्यक समझते हैं, परन्तु ये ही लकीरें बालक की भावनाओं के चित्र हैं जो कला के माध्यम द्वारा खींचे गये हैं। बालक के समुचित विकास के लिये अभिव्यक्ति के सुअवसर प्राप्त होने बड़े ही आवश्यक हैं। अतः बालक के सर्वांगीण विकास-सम्बन्धी शिक्षा-व्यवस्था में कला को यथेष्ट स्थान प्रदान करना आवश्यक है।

बालकों के सर्वांगीण विकास को दृष्टिगत करते हुए शिक्षा की समन्वयात्मक प्रणाली अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। विद्यालय में बालक शिक्षा का केन्द्र होता है। इस प्रकार विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ज्ञान प्रदान करने का उद्देश्य केवल एक अर्थात् बालक की सर्वांगीण उन्नति करना होता है। इस विचार से विभिन्न विषयों में समन्वय स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य कला द्वारा सुगमतापूर्वक सम्पादित हो जाता है। उदाहरणार्थ, बालक अपने वातावरण से सम्बन्धित विभिन्न वस्तुओं से परिचित होने पर उनके सम्बन्ध में प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न भावना के प्रदर्शन हेतु रेखा-चित्रों का सहारा लेता है। धीरे-धीरे वे चित्र बालक की अवस्था के विकास के अनुसार अधिक स्पष्ट तथा सुन्दर होते जाते हैं। इन चित्रों में सजीवता, स्फूर्ति एवं शक्ति विद्यमान होती है, क्योंकि बालक इन्हें स्वच्छन्दतापूर्वक बनाता है। यही सजीवता शक्ति और स्फूर्ति कालान्तर में अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार कला को शिक्षा-व्यवस्था में प्रमुख स्थान प्रदान करके हम बालकों के सर्वांगीण विकास में सुगमता पूर्वक सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

कला का जीवन से सम्बन्ध :

सामान्यतया लोगों की यह धारणा है कि गणित, भाषा और सामान्य-ज्ञान, शिक्षा के ऐसे विषय हैं जो अधिक जीवनोपयोगी कहे जा सकते हैं, परन्तु यदि विचार किया जाय तो जन-जीवन में कला का भी महत्त्व उपयुक्त विषयों से कम नहीं है। हमें अपने दैनिक जीवन में इसकी भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी अन्य विषयों की। उदाहरणार्थ, हम दैनिक जीवन के उपयोग हेतु किसी वस्तु को खरीदने के समय सर्वप्रथम उसके गुणों तथा दोषों को देखते हैं। हमारे इस विवेक का माध्यम हमारा कला-सम्बन्धी ज्ञान ही होता है और

अथवा नगर की भाँति बाहर का वातावरण स्वास्थ्य के लिए उतना लाभकारी न हो तो निस्संदेह ग्राम-वासियों का स्वास्थ्य सदैव खराब रहे। इस प्रकार कला द्वारा जीवन की रक्षा होती है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी तथा इसके ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है।

कला की शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य :

उपर्युक्त वर्णन से हम कला की उपयोगिता के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। इन्हीं विचारों के आधार पर कला की शिक्षा का उद्देश्य सुगमता पूर्वक निश्चित किया जा सकता है। नीचे हम "हैंड बुक आफ सजेशन्स फॉर टीचर्स" में दिये गये कला-कौशल की शिक्षा के उद्देश्यों की ओर ही संक्षेप में संकेत करेंगे। उक्त पुस्तक में इसके दो उद्देश्य इस प्रकार दिये गये हैं :—

१. बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का इस भाँति विकास किया जाय कि वह अपने विचारों को मूर्त रूप प्रदान कर सके और उसमें इस कार्य को साहस, लगनपूर्वक स्पष्ट रूप में करने की क्षमता उत्पन्न हो, तथा—

२. बालक में वातावरण और कला के सौन्दर्य की तथा कला-कौशल के कार्य की सत्यता और प्रतिभा की चेतना उत्पन्न करना।

बालक की प्रवृत्ति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से ज्ञात होता है कि उसके प्रारम्भिक भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम चित्र होते हैं। वह अपने भावों को चित्रों द्वारा व्यक्त करने का प्रयास करता है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बालक की अभिव्यक्ति पर ध्यान देते हुए कला की शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते हैं :—

(अ) सामान्य डिजाइनों तथा चित्रणों द्वारा बालकों की अभिव्यक्ति को प्रोत्साहन प्रदान करना।

(ब) बालकों में कलात्मक प्रवृत्तियों को उत्पन्न करके उन्हें विकसित होने के लिए यथोचित वातावरण एवं साधन सुलभ करना।

बालकों के बौद्धिक स्तर एवम् क्षमता के साथ-साथ शिक्षा के उद्देश्यों में भी परिवर्तन होता जाता है। इसी प्रकार कला की शिक्षा का उद्देश्य भी ऊपर की कक्षाओं में सामाजिकता की ओर अधिक झुक जाता है। फलतः

आदर्श चित्रों का बनवाना ऊपर की कक्षाओं में उचित होगा। यथा, मार्ग में चलते हुए हाथी को देखकर बालक में हाथी की विशेष आकृति के प्रति भावनायें उत्पन्न होती हैं। इन भावनाओं का प्रदर्शन वह अपनी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं द्वारा चित्रों की भाषा में करेगा। यदि अध्यापक स्वयं हाथी का चित्र उसके सामने अनुकरण करने हेतु उपस्थित कर देगा तो बालक द्वारा बनाये गये हाथी के चित्र में हमें बालक की मूल भावनायें नहीं उपलब्ध हो सकेंगी। अध्यापक द्वारा प्रस्तुत किए गए चित्र के फलस्वरूप उसकी भावनाओं में व्यतिक्रमता का आ जाना स्वाभाविक है। अतः प्रारम्भिक कक्षा में स्वतन्त्र भाव-प्रकाशन पर अधिक बल देना चाहिए।

स्वतन्त्र भाव-प्रकाशन का महत्त्व :

बालक जब किसी चीज को देखता है तो उसके सम्बन्ध में वह एक धारणा बनाता है तथा उस वस्तु के प्रति उसमें कुछ भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के उद्‌भूत भावों को मूलरूप में व्यक्त करना ही स्वतन्त्र भाव-प्रकाशन कहलाता है। यथा, किसी रेलवे स्टेशन की प्रत्येक वस्तुओं का चित्रण करता है। इस चित्रण के आधार पर शिक्षक बालक की सूक्ष्मदर्शिता, बुद्धि तथा कला-सम्बन्धी ज्ञान से भली-भाँति परिचित हो सकता है। अतः शिक्षक को किसी कक्षा में पहिले दिन कला का विषय पढ़ाना हो तो सर्वप्रथम उसे स्वतन्त्र भाव-प्रकाशन द्वारा विद्यार्थियों के बौद्धिक स्तर की जाँच कर लेनी चाहिए। इस प्रकार शिक्षक समस्त विद्यार्थियों के बौद्धिक स्तर से भली-भाँति परिचित हो जाता है। बालकों द्वारा बनाये गये स्वतन्त्र भाव-प्रकाशन-सम्बन्धी चित्रों में कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जिनका ठीक-ठीक चित्रांकन बालक नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार उन वस्तुओं के चित्रों में उचित संशोधन करने का अवसर शिक्षक को प्राप्त हो सकेगा और वह उन्हें सम्बन्धित विषय की शिक्षा दे सकेगा। बालकों के भाव-प्रकाशन से शिक्षक को यह ज्ञात हो जायगा कि बालकों की कला विषयक क्या योग्यता है तथा कला के पाठ्यक्रम के अनुसार किन बातों की आवश्यकता है।

स्वतन्त्र भाव प्रकाशन में कहानी चित्रण :

किसी कहानी को चित्रों द्वारा व्यक्त करना ही कहानी-चित्रण है। स्वतन्त्र

कहानी-चित्रण के अतिरिक्त कला-शिक्षण में भाव-प्रकाशन की अन्य विधियाँ भी निम्नलिखित हैं :

(१) वास्तविक चित्रण (२) कविता-चित्रण (३) स्मृति-चित्रण (४) रेखा-चित्रण। इनके विवरण इस प्रकार हैं :

वास्तविक चित्रण :

किसी वस्तु का ऐसा चित्र तैयार करना जिससे उस वस्तु की वास्तविकता का बोध हो, वास्तविक चित्रण है। यथा, चाय की पत्ती का वास्तविक चित्रण करते समय उसे इस प्रकार चित्रित किया जाय कि उसकी नसें, नुकीलापन, लम्बाई और डंठल तथा रंग आदि सभी सजीव और पत्ती के अनुरूप ही हों। कक्षा १ तथा २ के बालकों के लिए वास्तविक चित्रण करना असम्भव सा है। वे केवल पत्ती की आकृति खींच सकते हैं; परन्तु पत्ती की रेखायें और रंग दिखाना उनके स्तर के ऊपर की चीज है। कक्षा ३ तथा ४ के विद्यार्थी पत्ती की नसें भी दिखा सकेंगे। और इससे उच्च कक्षा के विद्यार्थियों द्वारा पत्ती का ऐसा चित्र खींचा जा सकेगा जिसमें उसकी नसें, रंग तथा कोमलता आदि का भी भाव हो सकेगा। कला के शिक्षक को चाहिए कि प्राथमिक कक्षाओं से लेकर उच्च कक्षाओं तक में वास्तविक चित्रण के सम्बन्ध में वह यह धारणा बना दे कि वास्तविक चित्रण की पूर्ति वास्तविक वस्तुओं के अनुरूप चित्रणों में है।

कविता-चित्रण :

कविता में भावों का प्रदर्शन भाषा के माध्यम से और कला में चित्रों के माध्यम से होता है। कविता तथा कलाकार दोनों लगभग समान स्तर के हैं। कविता-चित्रण में किसी कविता में वर्णित दृश्य का चित्रण किया जाता है। कविता-चित्रण प्राय: उन कविताओं के आधार पर होता है जो अध्यापकों द्वारा बच्चों को सुनाई जाती हैं; अथवा भाषा की पुस्तक में पढ़ाई जाती है। ऋतुओं से सम्बन्धित सरल कवितायें बहुत सी हैं जिनका चित्रण बालकों द्वारा सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

रेखाओं का ऐसा संतुलित क्रम है जिसकी गति समान होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो बालकों में जन्म से ही एक क्रम और लय का आभास मिलता है। इसी मूल प्रवृति का प्रदर्शन बालक जब रेखाओं द्वारा करता है तो उसकी यह गति, क्रम तथा संतुलनयुक्त रेखायें पैटर्न का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार यदि बालकों को कोई रंगीन वस्तु दे दी जाय तो वे उसे एक क्रम तथा लय के साथ सजाकर रखने का प्रयत्न करेंगे क्योंकि उनमें गति तथा लय के प्रति जन्म से ही आकर्षित होने की प्रवृत्ति रहती है। इसका प्रमाण हम लोरी नामक गति से दे सकते हैं। लोरी सुनने में बालक इतने तन्मय हो जाते हैं कि वे सुनते-सुनते सो जाते हैं। ज्यामिति की आकृतियों अथवा केवल रंग और रेखाओं द्वारा पैटर्न को चित्रित किया जा सकता है। इन्हीं आकृतियों और रेखाओं द्वारा बालक अपनी गति और लय को पैटर्न-चित्रण द्वारा व्यक्त करता है। इस प्रकार कला-शिक्षण में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पैटर्न का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

डिज़ाइन :

सामान्यतः डिज़ाइन शब्द को बड़ी व्यापकता प्राप्त है, परन्तु कला-शिक्षण में इसकी एक निर्धारित सीमा और निश्चित अर्थ होता है। डिज़ाइन की परिभाषा में हम कह सकते हैं कि किसी इकाई को बार-बार दोहराना ही डिज़ाइन है। पैटर्न तथा डिज़ाइन का गहरा सम्बन्ध है। एक प्रकार डिज़ाइन का श्रीगणेश पैटर्न में ही हो जाता है। बालक अपनी मूल प्रवृत्ति से प्रेरित होकर पैटर्न को जन्म देता है तथा पैटर्न का विकसित तथा परिकृत रूप ही डिज़ाइन है। बालक को धीरे-धीरे क्रम, लय तथा गति के अनुसार निश्चित रेखाओं के खींचने की क्षमता प्राप्त होती जाती है। इन्हीं के पुनरावर्तन द्वारा वह डिज़ाइन का निर्माण करता है। पैटर्न की भांति डिज़ाइन भी बालक की मनोवैज्ञानिक क्रिया का स्वरूप है जिसका आधार उसकी मूल प्रवृत्तियाँ है। डिज़ाइनें विभिन्न प्रकार की होती हैं। इनका वर्णन आगे किया जाता है।

डिज़ाइनों के प्रकार :

डिज़ाइनें मुख्यतः चार प्रकार की होती हैं :

(४) **सूक्ष्म डिज़ाइन :** सूक्ष्म डिज़ाइन की इकाई की आकृतियाँ उपर्युक्त तीनों प्रकार के डिज़ाइनों से भिन्न होती हैं। वैज्ञानिक प्रगति के प्रभाव के कारण आधुनिक युग की गति में तेजी आ गई है। कला में उक्त डिज़ाइन इसी का प्रतिरूप है। इसमें तनाव[1] की प्रधानता होती है।

डिज़ाइनों के उपरोक्त भेद उनमें प्रयुक्त की जाने वाली इकाइयों के अनुसार किये गये हैं। इसी प्रकार इनके धरातल के अनुसार भी डिज़ाइन के प्रमुख तीन प्रकार होते हैं।

(अ) किनारी घाट या बार्डर डिज़ाइन :

यह साड़ी के किनारे तथा मेजपोश आदि पर बनाई जाती है।

(ब) पूरे धरातल की डिज़ाइन :

सजावट की दृष्टि से जिस डिज़ाइन द्वारा पूरे स्थान को भर दिया जाता है उसे पूरे सतह की डिज़ाइन कहते हैं।

(स) पैनल डिज़ाइन :

इस डिज़ाइन की इकाई की आकृति किसी भी ज्यौमैट्रिक आकृति की हो सकती है। इसमें इकाई की पुनरावृत्ति नहीं की जाती, वरन् स्थान को ध्यान में रखते हुए सजावट की दृष्टि से आकृति को आवश्यकतानुसार बड़ा अथवा छोटा कर लिया जाता है।

इससे तो हम भली-भाँति परिचित हो गये हैं कि किसी इकाई की क्रमानुसार पुनरावृत्ति ही डिज़ाइन का रूप धारण करती है; परन्तु इकाई की पुनरावृत्ति के क्रम के अनुसार भी डिजाइनों में भेद हो जाते हैं। प्रायः इसकी पुनरावृत्ति के तीन क्रम होते हैं। पहिला क्रम वह है जिसमें एक इकाई को बार-बार दोहराया जाता है। जैसे, मोर पक्षी को इकाई मानकर बार-बार दोहराया जाय।

दूसरे क्रम में दो इकाइयाँ निर्वाचित की जाती हैं और एक इकाई के बाद दूसरी इकाई को रखते हैं तथा यही क्रम जारी रहता है। जैसे सारस पक्षी

1. Tension.

रहे। निरीक्षण करते समय बालकों द्वारा बनाये जाने वाले चित्रों की बनावट देख हँसना अथवा नाक भौं सिकोड़ना बालकों के लिए हानिकर होगा। ऐसा करने से वे हतोत्साह हो जावेंगे और उनकी विषय-सम्बन्धी रुचि कुण्ठित हो जावेगी। अतः अध्यापक सुझाव देकर बालकों को उत्साहित करता रहे जिससे वे स्वतंत्रता पूर्वक चित्रण कर सकें। रंगों के चुनाव में बालकों को बिल्कुल स्वतन्त्र कर देना चाहिए। इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि विद्यार्थी द्वारा उन समस्त सामानों का भली-भाँति प्रयोग किया जा रहा है अथवा नहीं, जो कि उसे प्रयोगार्थ प्रदान किये गये हैं।

कला-शिक्षण में वाद-विवाद :

कला शिक्षण का अन्तिम एवं महत्त्वपूर्ण अंग बालकों द्वारा कक्षा में चित्रण के विषय में किया गया वाद-विवाद है। बालकों द्वारा बनाये गये चित्रों को एकत्रित करने के पश्चात् अध्यापक को चाहिए कि वह समस्त चित्रों को सभी बालकों को दिखाकर उनकी पसन्द के अनुसार उनमें से अधिक सुन्दर चित्रों के निर्वाचन का अवसर दें। इस प्रकार उनके द्वारा चुने गये चित्रों के विषय में उनकी राय लें। प्रत्येक विद्यार्थी की पसन्द तथा सुन्दरता के कारणों तथा कला के गुणों को दृष्टिगत करते हुए अध्यापक को आवश्यक निर्देश अथवा सुझाव देना चाहिए। इस प्रकार कक्षा के सभी बालकों द्वारा किया गया यह वाद-विवाद जिसमें शिक्षक भी भाग लेता है, कला-शिक्षण के उद्देश्यों की पूर्ति में बड़ा ही सहायक होता है।

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह बताया जा चुका है कि कला तथा कौशल का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। वे दोनों विषय शिक्षण की दृष्टि से समान हैं तथा इनके शिक्षण का एक ही उद्देश्य भी है। केवल शिक्षण के विषय, रीति और सामग्री में अन्तर है। शिक्षण की रीति और सामग्री भी विषयों के निर्वाचन पर ही आधारित होती है। अतः कौशल के विषयों के निर्वाचन के अन्तर्गत ही संक्षेप में प्रकाश डालना समीचीन प्रतीत होता है। अतः कौशल शिक्षण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातों का विवरण इस प्रकार है।

बौद्धिक विकास सम्यक्‌ रूपेण होता रहे। उन्हीं वस्तुओं की रचना न कराई जाय जिनमें केवल हाथ ही कार्य कर सके, अपितु ऐसी वस्तुयें बनवाई जावें जिनमें मस्तिष्क, आँख, हाथ सभी का यथेष्ट प्रयोग किया जा सके। साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वस्तु की रचना में कम से कम औजारों के प्रयोग की आवश्यकता पड़े।

जो वस्तु बालक को बनाने के लिए दी जाय उसकी रचना के सम्बन्ध में अध्यापक को चाहिए कि बालक को भली-भाँति बता दें। बालक को यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि अमुक वस्तु किस प्रकार बनाई जाती है और उस प्रकार बनाने का क्या कारण है।

कौशल-शिक्षण ऐसा विषय है जिसके द्वारा बालकों में आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता सुगमतापूर्वक उत्पन्न की जा सकती है। अतः रचना-सम्बन्धी विषयों में बालक की उपरोक्त भावनाओं के विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। ऐसी वस्तुयें बनवानी चाहिए जिनका उचित मूल्यांकन किया जा सके और यह दैनिक जीवन से सम्बन्धित हो।

कौशल-शिक्षण में भी सामान्य-प्रणाली के महत्त्व पर ध्यान देना चाहिए। इनके लिए रचना-सम्बन्धी ऐसी वस्तुयें निर्वाचित की जावें जिनका सम्बन्ध अन्य विषयों से भी हो और वे शिक्षा की समन्वयात्मक प्रणाली का प्रतिपादन करने में समर्थ सिद्ध हो सकें।

रचना-सम्बन्धी वस्तुओं के निर्वाचन में बालक की योग्यता के क्रमिक विकास पर ध्यान देना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब वस्तुओं की रचना में प्रयुक्त होने वाली वांछित योग्यता का क्रम निर्धारित किया जाय। जैसे, पहिले वस्तु बनवाई जाय जिसे बालक सुगमतापूर्वक बना सके। तत्पश्चात रचना के लिए वह वस्तु निर्वाचित की जावे जिसके बनाने में बालक द्वारा अर्जित पहिले की वस्तु की रचना-सम्बन्धी योग्यता का प्रयोग हो सके तथा कुछ नवीन योग्यता की आवश्यकता पड़े। इस प्रकार बालक की कौशल-सम्बन्धी योग्यता का क्रमिक विकास होता रहेगा। उदाहरणार्थ, काष्ठ-कला में बालक को तख्ती बनाना सिखाये जाने के बाद ही कलमदान बनाना सिखाया जावे। इस प्रकार लकड़ी को चौकोर काट कर साफ करना तथा उसमें

परिभाषा :

कला की उत्पत्ति 'क' और 'ला' से है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला है। सौन्दर्य मानव की वह सूक्ष्म अनुभूति है जो उसकी भावनाओं को परिष्कृत करके मनुष्यता के गुणों का सृजन करे।

शिक्षा के पाठ्यक्रम में कला :

भावों की अभिव्यक्ति का प्रथम तथा समुचित साधन कला ही है। शिक्षा की समन्वयात्मक व्यवस्था में कला सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रकार बालक के सर्वांगीण विकास में कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कला का जीवन से सम्बन्ध :

यह उक्ति अक्षरशः सत्य है कि "कला विहीन मनुष्य का जीवन पशु के जीवन के समान है। दैनिक जीवन में पग पग पर हमें कला सम्बन्धी ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

कला की शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य :

१. हैन्ड बुक आफ सजेशन्स फार टीचर्स के आधार पर कला के मुख्य दो उद्देश्य हैं :

२. बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को इस प्रकार विकसित किया जाय कि वह साहस तथा लगन पूर्वक स्पष्टतया अपने विचारों को मूर्त्त रूप प्रदान कर सके।

३. बालक में वातावरण और कला के सौंन्दर्य की तथा कला-कौशल के कार्य की सत्यता और प्रतिभा की चेतना उत्पन्न की जा सके।

अन्य उद्देश्य इस प्रकार हैं :

(अ) सामान्य डिजाइनों एवं चित्रणों द्वारा बालकों की अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करना।

(ब) बालकों में कलात्मक प्रवृत्तियों को उत्पन्न करके उन्हें विकसित होने के लिए यथोचित वातावरण एवं साधन प्रदान करना।

स्वतन्त्र भाव-प्रकाशन :

बालक किसी वस्तु को देखकर उसके सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा बनाता है। तथा उस वस्तु के प्रति बालक में कुछ भाव उत्पन्न होते हैं। इन

प्रवृत्ति को रेखाओं तथा रंगों द्वारा व्यक्त करता है तो वही पैटर्न का रूप होता है।

डिजाइन :

किसी इकाई को बार-बार दोहराना ही डिजाइन है। इसका प्रारम्भिक रूप पैटर्न में मिलता है।

डिजाइन में प्रयुक्त इकाई की भिन्नता के अनुसार डिजाइन के निम्नलिखित चार प्रकार हैं।

(१) प्राकृतिक डिजाइन : जिसकी इकाई किसी प्राकृतिक वस्तु का चित्र हो।

(२) आलंकारिक डिजाइन : सजावट प्रधान होती है। सजावट की दृष्टि से इकाई से कोई भी रूप दिया जा सकता है।

(३) ज्यामैट्रिक डिजाइन : ज्यामिति की आकृतियों को इकाई मानकर बनाई गई डिजाइनों को कहते हैं।

(४) सूक्ष्म डिजाइन : इसकी इकाई आधुनिक युग की गति की तीव्रता का प्रतिरूप होती है।

धरातल के अनुसार डिजाइनों के निम्नलिखित तीन प्रकार हैं।

१. किनारी या बार्डर डिजाइन, २. पूरे धरातल की डिजाइन, ३. पैनल डिजाइन। इकाई की पुनरावृत्ति के क्रमानुसार की डिजाइन के तीन प्रकार होते हैं।

रंगों का प्रयोग :

प्राचीन पद्धति के अनुसार लाल, पीला नीला, तीन प्रमुख एवं इनके मिश्रण से बने हुए तीन सहायक रंग माने गये हैं। आस्टवाल्ड ने उक्त तीन प्रधान रंगों के अतिरिक्त हरा रंग भी मुख्य रंग में सम्मिलित करके उनकी संख्या चार कर दी तथा इन चार के मिश्रण से बने हुए रंगों की संख्या तदनुसार चार हो गई। इस प्रकार कुल आठ रंगों का प्रयोग किया जाता है।

४३
कुछ पाठ-सूत्र

१
व्यायाम शिक्षा का पाठ-सूत्र

दिनाङ्क :		मार्च ८, १९५८ ई०
विद्यालय :		दुर्गागीता विद्यालय, लखनऊ।
कक्षा :		७ अ
विषय :		व्यायाम शिक्षा
पाठशीर्षक :		पैर की व्यायाम।
समय :		२० मिनट
उद्देश्य :	१.	शरीर को स्वस्थ और स्फूर्तिवान बनाना।
	२.	शरीर के प्रत्येक अंग को हृष्ट-पुष्ट बनाना।
	३.	छात्रों को यह बतलाना कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रह सकता है।
	४.	छात्रों में उत्साह भरना।

पूर्व ज्ञान : छात्र सीधी पंक्ति में खड़ा होना जानते है। वे आगे पीछे चलकर सीधी पंक्ति बना सकते हैं। वे दाहिने, बायें और पीछे घूमना सीख चुके हैं।

उद्देश्य-कथन : आज हम पैर का व्यायाम करेंगे।

मूलपाठ : व्यायाम प्रारम्भ करने के पूर्व अध्यापक बालकों को सीधे एक पंक्ति में खड़े होने के लिए कहेगा। पहले पैर के व्यायाम की सारी विधि वह बालकों को समझायेगा; तत्पश्चात वह उसे स्वयं करके दिखलाएगा।

सतर्कता : अध्यापक को यह ध्यान रखना है कि उसके आदेश देने में कोई ढिलाई न हो, और वह स्वयं तत्परता से हर समय आदेश देता रहे और वह स्वयं सीधे खड़ा रहे। उसे प्रत्येक बालक पर दृष्टि रखनी है जिससे कोई जी न चुराने पावे। अन्त में छात्रों को एक सीधी पंक्ति में खड़ा करके अध्यापक दल को विसर्जित कर देगा।

२

गणित का पाठ-सूत्र

दिनांक : मार्च ६, १९५६ ई०

विद्यालय : नेशनल इण्टर कालेज, लखनऊ

कक्षा : ८ ब

विषय : अंकगणित

पाठ शीर्षक : औसत (मध्यमान)

समय : ४० मिनट

उद्देश्य : (१) विद्यार्थियों में तर्क-शक्ति तथा विचार-शक्ति जागृत

अ-सामान्य : करके शुद्ध रीति से सामान्यीकरण करना सिखलाना।

(२) बालकों में निर्णय तथा मानसिक शक्तियों का विकास करके उन्हें गणित के आधारभूत कार्य में कुशल करना।

(३) बालकों में भौतिक जगत से सम्बन्धित मानव जीवन की विभिन्न क्रिया कलाओं में अंकों के महत्व को समझाना तथा दैनिक समस्याओं में उनका प्रयोग करना सिखलाना।

(४) छात्रों को अपने कार्य को सुव्यवस्थित तथा यथाक्रम रूप से करने की शिक्षा देना।

(५) किसी भी बात को समतोल दृष्टि से देखना सिखलाना।

(६) विद्यार्थियों में गणित सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना।

३. उम्रीगर ने क्रिकेट की तीन मैचों में क्रमशः ७३, ११३ और ४५ रन बनाये तो उसने औसत कितने रन बनाये ?

४. तीन लड़कों के नम्बर क्रमशः १४, १९ और ३० हैं तो प्रत्येक के औसत नम्बर बताओ ?

श्यामपट्ट सारांश

१. पाँच लड़कों के पास क्रमशः ४, ५, ६, ७ और ८ अमरूद हैं। प्रत्येक के पास औसत कितने अमरूद हैं ?

कुल अमरूदों की संख्या ४ + ५ + ६ + ७ + ८ = ३० अमरूद
कुल लड़कों की संख्या = ५ लड़के
∴ प्रत्येक लड़के को औसत अमरूद मिले = ३० ÷ ५ = ६ अमरूद

अभ्यास : १. एक परीक्षा में पाँच लड़कों के अंक क्रमशः १७, १३, ३२, ४१ और १२ हैं; तो उनके औसत अंक ज्ञात करो ?

२. यदि एक रिक्शे वाला एक हफ्ते में कुल १७ रु० ८ आ० कमाता है तो उसकी औसत आय प्रतिदिन की कितनी होगी ?

पुनरावृत्यात्मक प्रश्न : गणित में हमारा उद्देश्य यह कदापि नहीं रहता कि हम देखें कि विद्यार्थियों को क्लिष्ट परिभाषायें आदि कंठस्थ है या नहीं। इसलिए पुनरावृत्ति में हम एक दो मौखिक प्रश्न पूछ कर देख लेते हैं कि विद्यार्थी वास्तव में कथित सिद्धान्त समझने में सफल हुये हैं या नहीं। अभ्यासों को स्वयं करने से ही पाठ की पुनरावृत्ति भी हो जाती है।

प्रयोग : (१) एक खिलाड़ी के क्रिकेट के तीन खेलों का औसत ७२ रन है। यदि पहले दो खेलों का औसत ९६ रन हो तो उसने तीसरे खेल में कितने रन बनाये ?

(२) तीन खेतों की पैदावार क्रमशः ३४, १७९ और ४९ मन है तो उनकी औसत पैदावार बतलाओ ?

पर ही टिकने के लिए कहता है। फिर वह 'सा' से 'सा' तक जाता है और छात्रों को भी अपने साथ ही चलने के लिए कहता है। वह प्रत्येक स्वर पर छात्रों को कुछ देर तक रुकने के लिए कहता है। वह विभिन्न स्वरों का अभ्यास बहुत ही धीरे-धीरे करा देगा परन्तु इस धीरे-धीरे अभ्यास में स्वरों का क्रम नहीं टूटेगा। आरोह और अवरोह दोनों में धीरे-धीरे छात्र अभ्यास करेंगे। अध्यापक यह देखता रहेगा कि सभी छात्र सभी स्वरों का शुद्ध-शुद्ध उच्चारण कर रहे हैं।

अभ्यास १. तीन-तीन स्वरों जैसे सरेग, रेगम, गमप—आदि का अभ्यास कराना।

२. चार-चार स्वरों, जैसे—सरेगम, रेगमप, गमपध आदि का अभ्यास कराना

३. अवरोह के क्रम में सांनिध, निधप तथा सांनिधप, निधपम आदि का अभ्यास देना।

४. उपर्युक्त स्वरों को आरोह और अवरोह दोनों में श्यामपट्ट पर लिख कर अभ्यास देना।

५. अँगुलियों के संकेत द्वारा अभ्यास देना।

६. छात्रों को दफ्ती के कार्ड उठाने के लिए कहा जाता है और जिसपर जो सरगम लिखा रहता है उसको उसे गा कर सुनाना होता है।

७. सरगम के स्थान पर आ ऽ ऽ ऽ गा कर अध्यापक सुनाता है और छात्रों को भी वैसा ही गाने के लिए कहता है।

८. अध्यापक बांसुरी पर सरगम गाता हैं और छात्रों को उन्हें पहचानने के लिए कहता है।

सतर्कता : अध्यापक यह ध्यान रक्खेगा कि छात्र ठीक से बैठे हैं और दिये हुये आदेशों का पालन कर रहे हैं। यदि किसी छात्र को अलग से अभ्यास की आवश्यकता होगी तो उसे अलग अभ्यास दिया जायगा। अध्यापक यह ध्यान रक्खेगा कि छात्र स्वरों का ठीक-ठीक अभ्यास कर रहे हैं। अध्यापक यह भी

प्रस्तावना : पाठ के आरम्भ में शिक्षक द्वारा निम्नलिखित प्रश्न किये जायेंगे:—

१. भारतीय इतिहास में १५ अगस्त १६४७ का क्या महत्त्व है ?

२. देश के प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता कौन-कौन है ?

३. इन नेताओं में किनकी जीवनी तुम पढ़ चुके हो ?

४. भारत के तीन प्रसिद्ध नेता—"बाल", "पाल" और "लाल" में स्वराज्य का महामन्त्र किसका दिया हुआ है ?

उद्देश्य कथन : बाल गङ्गाधर तिलक के जीवन की एक घटना तथा उससे प्राप्त शिक्षा पर २८ वाँ पाठ पढ़ेंगे।

प्रथम अन्विति

प्रस्तुति : प्रारम्भ में शिक्षक लोकमान्य तिलक के जीवन की मुख्य बातें जैसे जन्मकाल, उनके कार्य आदि का सूक्ष्म परिचय छात्रों को देगा। उनका चित्र दिखायेगा, उनके व्यक्तित्व की महत्ता छात्रों से प्रकट करेगा।

तदनन्तर वह पाठ्य-पुस्तक से श्री शंकरदेव लिखित तिलक जी के विद्यार्थी जीवन की घटना और उससे प्राप्त शिक्षा के लिये प्रारम्भिक गद्यांश का स्पष्ट वाणी में विराम चिन्हों आदि का पालन करता हुआ 'आदर्श पाठ' प्रस्तुत करेगा। विद्यार्थीगण दत्तचित होकर सुनेंगे।

लोकमान्य तिलक का विद्यार्थी जीवन

(श्री शंकरदेव विद्यालंकार)

[इस पाठ के लेखक श्री शंकरदेव विद्यालंकार हैं। आप गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक और प्रसिद्ध लेखक तथा समाज-सुधारक हैं। व्याख्यान भी अपका बड़ा प्रभावशाली और रोचक होता है।

इस पाठ में बताया गया है कि स्वाभिमानी और होनहार बालक किस प्रकार अपनी न्याय-संगत बात का समर्थन करते हैं।]

जिस समय तिलक जी मराठी-पाठशाला में पढ़ते थे तो एक दिन उनकी श्रेणी के कुछ छात्रों ने छुट्टी के समय मूँगफलियाँ खाकर उनके छिलके कमरे में ही फेंक दिये। अध्यापक ने सब विद्यार्थियों को छिलका उठाकर साफ कर देने की आज्ञा दी। सब छात्र छिलके उठाने लगे, परन्तु तिलक अपने स्थान पर ही

१. मराठी भारत के किस प्रदेश की भाषा है ?
२. तिलक जी की कक्षा के छात्रों ने कौन सा बुरा काम किया था ?
३. पड़े हुये मूँगफलो के छिलकों को देखकर अध्यापक ने क्या आदेश दिया ?
४. अध्यापक के आदेश पर तिलक जी ने क्या किया ?

पाठ-खण्ड के कठिन शब्दों का अर्थ शिक्षक वाक्यों की सहायता से अथवा सीधे ही छात्रों से प्रकट करवायेगा।

कठिन शब्द		अर्थ	कठिन शब्द		अर्थ
श्रेणी	=	कक्षा	मिथ्याभाषी	=	झूठ बोलने वाला
उलाहना	=	शिकायत	शास्त्री	=	पदवी (विद्वान्)

(ब) "यह सुनकर..................नहीं है।"

उपर्युक्त गद्यांश का पठन एक अन्य छात्र द्वारा कराया जायेगा और फिर कक्षा से निम्नलिखित प्रश्न किये जायेंगे :—

१. तिलक जी के उत्तर को सुनकर अध्यापक ने क्या करना चाहा ?
२. तिलक जी के पिता का क्या नाम था ?
३. शास्त्री जी ने शिक्षक द्वारा भेजे उलाहने के उत्तर में क्या लिखा था ?

तृतीय अन्विति

"जो सत्यवादी................है।"

पाठ के इस अनुच्छेद का पठन अन्य छात्र द्वारा कराया जायेगा। उसके पठन काल में शुद्ध उच्चारण के साथ पठन-शैली पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। आये हुये गद्यांश के कठिन शब्दों के अर्थ श्यामपट्ट पर लिखे जायेंगे।

सत्यवादी = सत्य बोलने वाला।　　निर्दोष = दोष विहीन, दोष से बचा हुआ।
दैनिक = नित्य-प्रति के।　　निर्भीकता = बिना डर की बात।

गुरुजन और अध्यापक का अन्तर भी स्पष्ट किया जायेगा।

"वे" और "उन" सर्वनामों की संज्ञा पूछी जायेगी।

उद्देश्य :

अ—सामान्य :

१. विद्यार्थियों को वर्तमान के आधार पर भूत को समझाने के योग्य बनाना ।

२. उनकी निर्णय-शक्ति, कल्पना-शक्ति तथा तर्क-शक्ति की अभिवृद्धि करना ।

३. विद्यार्थियों को ऐतिहासिक तथ्यों तथा उनके साथ वर्तमान घटनाओं को समझने में सहायता करना ।

४. बालकों में राष्ट्रीयता, देशप्रेम तथा जागरण की भावना उत्पन्न करना ।

ब—विशिष्ट : बालकों को "सिकन्दर के भारत पर आक्रमण" को कहानी बताकर :—

१. उनकी कल्पना-शक्ति का विकास करना ।

२. उनमें वीरता, देश-प्रेम तथा साहस का संचार करना ।

पूर्व-ज्ञान : बालक भारत तथा विदेशों के महान् शूरवीरों में से कुछ वीरों के नाम से परिचित हैं ।

सहायक-सामग्री : प्राकृतिक-भारत का नक्शा, संसार का नक्शा, फिलिप, सिकन्दर तथा बुकीफेलस (घोड़ा का चित्र) ।

प्रस्तावना : (१) भारत के कुछ शूरवीरों के नाम बताओ ?

(२) ऐसे शूरवीर का नाम बताओ जिसने संसार को जीतने का विचार किया था ? (चित्र द्वारा पुष्टि)

उद्देश्य-कथन : आज हम यूनान के एक वीर जिसका नाम सिकन्दर था उसके "भारत पर आक्रण" को कहानी पढ़ेंगे और देखेंगे कि उसने वीरता का कैसा ज्वलन्त उदाहरण हमारे सम्मुख उपस्थित किया ।

आया तथा सिन्ध जैसी विशाल नदी पार कर पंजाब देश पहुँचा। भारतवर्ष उस समय बड़ा वीर देश था। बड़े-बड़े सूरमा इस देश में थे। सिकन्दर के आने का समाचार पाकर वे इससे लड़कर उसे मार भगाने का दम रखते थे। पंजाब में उस समय छोटी-छोटी रियासतें थीं। कुछ उनमें से डर गईं। कुछ सीमा तानकर सिकन्दर का सामना करने को डट गईं। तक्षशिला के राजा आभी ने डरकर सिकन्दर की आधीनता स्वीकार कर ली। पर उसके राज्य से आगे बढ़कर पुरु जैसे वीर से सिकन्दर को कड़ी टक्कर लेनी पड़ी। पुरु के राज्य की सीमा झेलम तथा चिनाव नदी के बीच थी। झेलम पार कर सिकन्दर पुरु के राज्य में पहुँचा। पुरु ने युद्ध-क्षेत्र में बड़ी वीरता से युद्ध किया और सिकन्दर के छक्के छुड़ा दिये। पुरु हार गया परन्तु उसकी वीरता और शक्ति सराहनीय है। सिकन्दर के भारत पर आक्रमण की यह घटना बड़ा ही महत्त्व रखती है।

प्रश्न द्वारा

नक्शे द्वारा

कथन द्वारा

चित्र द्वारा

प्रश्न द्वारा

श्यामपट्ट सारांश

१. भारत आकर सिकन्दर को किन-किन शक्तियों का सामना करना पड़ा ?

२. सिकन्दर तथा पुरु के युद्ध का क्या परिणाम हुआ ?

३. पुरु के चरित्र से हमें क्या-क्या शिक्षायें मिलती हैं ?

पुनरावृत्यात्मक प्रश्न :

(१) सिकन्दर की तीव्र इच्छा क्या थी ?

(२) वह भारत कैसे पहुँचा ?

(३) पुरु के हारने के क्या कारण थे ?

प्रयोग—सिकन्दर तथा पुरु के चरित्र की तुलना करो।

३. गाँव के रास्तों तथा वहाँ बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध कौन करता है ?

उद्देश्य कथन : आज हम लोग जिला बोर्ड की स्थापना तथा इसके कर्त्तव्यों के बारे में पढ़ेंगे।

विषय-प्रवेश : प्रथम-अन्विति

जिला बोर्ड की आवश्यकता

तत्व	विधियाँ
सरकार ने प्रत्येक जिले के लिये जिला बोर्ड की स्थापना की है। हमारा देश कृषि प्रधान देश है। यहाँ की अधिकांश जनता कृषि अथवा खेतीबारी करती है। इन लोगों को खेती करने की सुविधा गाँवों में मिल सकती है। ये लोग लगान के रूप में सरकार को बहुतसा धन देते हैं। अतः सरकार का भी कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इनकी उन्नति के लिये प्रयत्न करे तथा इनके स्वास्थ्य तथा सुविधा का प्रबन्ध करे। इसीलिए सरकार ने प्रत्येक जिले में स्वाधीन संगठन स्थापित कर दिये हैं जिन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या जिला बोर्ड कहते हैं।	कथन द्वारा गाँव के लोगों का मुख्य व्यवसाय क्या है ? कथन द्वारा किसी भी काम को यदि सब लोग मिलजुल कर करने लगें तो वह काम कैसा होगा ?
यह सम्भव नहीं कि हजारों गाँवों के आदमी एकत्रित होकर कोई काम कर सकें। अतः यह निश्चय कर दिया गया है कि बोर्ड के सदस्यों की संख्या ३० से ८० तक हो सकती है। यह सदस्य जनता द्वारा चुने जायेंगे। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अच्छे से अच्छे व्यक्ति को चुन कर भेजे। क्योंकि ठीक आदमियों के न पहुँचने से जिले की खराबी होगी। इसलिये अच्छे से अच्छे व्यक्तियों को ही जिला बोर्ड का सदस्य चुनना चाहिये।	कथन द्वारा अच्छा एक मिनट के लिए सोचो तो कि यदि हजारों गाँव के आदमी एक साथ सभा करके शासन करना चाहें तो क्या कुछ हो सकता है ? स्कूल सम्बन्धी प्रतियोगिता का उदाहरण देकर

३. बोर्ड जनता के लिये कौन से कार्य करता है ?

उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर श्यामपट्ट पर क्रमशः लिख दिये जायेंगे

पुनरावृत्यात्मक प्रश्न :

१. जिला बोर्ड की स्थापना क्यों की गई ?
२. बोर्ड का सदस्य कौन हो सकता है ?
३. बोर्ड के कर्त्तव्य क्या हैं ?

प्रयोग : जिला बोर्ड के कर्त्तव्यों पर एक लेख लिखो।

७

भूगोल का पाठ-सूत्र

दिनाङ्क : मार्च ८, १६५६

विद्यालय : हरिश्चन्द्र कालेज, बनारस।

कक्षा : ८

विषय : भूगोल

पाठ शीर्षक : भारतीय (जाड़े गर्मी का) मानसून

समय : ४० मिनट

शिक्षण-विधि : कथन और प्रश्नोत्तर-प्रणाली

उद्देश्य :

अ—सामान्य :

१. सारे भूमण्डल को मनुष्य एक विशाल घर के रूप में मानकर जानकारी के लिए प्रयत्नशील होता है। इस घर से उसका कितना अटूट सम्बन्ध है तथा इसके ज्ञान के लिए वह सूक्ष्म और स्थूल दोनों दृष्टियों से निरत रहता है, इन बातों की ओर ध्यान दिलाना।

२. बालकों में तत्कालिक वातावरण के बारे में सोचने की अभिरुचि उत्पन्न करना।

३. परिस्थितियाँ मानव-जीवन को तथा कृत्यों को किस प्रकार प्रभावित करती हैं इस बात को समझाना।

उद्देश्य कथन : आज हम लोग जाड़े और गर्मी के मानसून के बारे में पढ़ेंगे और देखेंगे कि हमारा देश इनसे किस प्रकार प्रभावित होता है।

विषय-प्रवेश : प्रथम अन्विति

गर्मी का मानसून

तत्व	विधियाँ
जल की अपेक्षा स्थल भाग गर्मी और सर्दी से शीघ्र प्रभावित हो जाता है। हम देखेंगे कि सूर्य का ताप हमारे देश को तथा समुद्र को कैसे प्रभावित करता है।	चित्र की सहायता लेकर कथन तथा सन्तुलन द्वारा।
जब सूर्य की किरणें लगभग २० मार्च से भारत के ऊपर कुछ सीधी पड़ना प्रारम्भ हो जाती हैं और मई जून तक बिल्कुल सीधी पड़ने लगती हैं, गर्मी का मौसम हो जाता है।	हमारे देश में गर्मी का मौसम कब और क्यों होता है ?
भारत का अधिकांश भाग गर्म हो जाता है, हवाओं का भार कम होने लगता है। स्थल के ऊपर की वायु शुष्क रहती है। फल यह होता है कि समुद्री हवायें अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के दोनों ओर कम भार वाले स्थानों की ओर शीघ्रता से चलने लगती हैं।	गर्मी का हवाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है।
सबसे अधिक गर्म भाग इस समय पश्चिमोत्तरी भारत तथा राजपूताना का मरुस्थल और पेशावर हो जाता है। जैकोबाबाद जो भीतर की ओर है जून में सबसे अधिक गर्म हो जाता है।	भारत का सबसे गर्म भाग कौन सा हो जाता है—चित्र में दिखलाओ।
सामुद्रिक हवाओं के दो भाग हो जाते हैं : १—अरबसागर का मानसून। २—बंगाल की खाड़ी का मानसून।	समुद्री हवाओं के कितने और कौन-कौन भाग हो जाते हैं ?

बोध प्रश्न :

१. गर्मी के मौसम में जल और स्थल की क्या दशा हो जाती है ? कौनसा भाग शीघ्र गर्म हो जाता है ?
२. मानसून किस ओर चलने लगते हैं ?
३. यह कितने भागों में बँट जाता है ?
४. अरब सागर से जो मानसून चलता है वह कहाँ वर्षा करता है ?
५. बंगाल की खाड़ी वाले मानसून के कौन से दो भाग हो जाते हैं ?

श्यामपट्ट सारांश

सब प्रश्नोत्तर बालकों द्वारा निकलवा कर लिखना।

द्वितीय अन्विति

जाड़े का मानसून (उत्तरी पूर्वी मानसून)

[चित्र की सहायता लेकर कथन तथा सन्तुलन द्वारा]

तत्व	विधियाँ
सितम्बर में फिर सूर्य अपनी शक्ति से विषुवतरेखा पर चमकने लगता है। दिसम्बर और जनवरी के महीने में जब जाड़ा कड़ाके का पड़ने लगता है और स्थल भाग ठण्डा हो जाता है तब हमारा देश विभिन्न स्थानों पर ठण्डा हो जाता है। स्थल की अपेक्षा समुद्र शीघ्र ठण्डा नहीं होता, गर्म रहता है। हवाओं का दबाव कम हो जाता है और ताप बढ़ जाता है।	कथन द्वारा बंगाल की खाड़ावाला मानसून किस ओर चला जाता है ? जाड़े में स्थल-भाग की क्या दशा हो जाती है ?
वही गर्मी वाला मानसून जो बंगाल की खाड़ी से आया था अब वायुभार अधिक होने के कारण लौट पड़ता है, परन्तु अब यह सूखा होता है, नमी नहीं रहती है। दिल्ली, संयुक्तप्रान्त, बिहार, बंगाल के ऊपर होता हुआ फिर बंगाल की खाड़ी में आ जाता है और अपनी स्थिति को एक दम बदल देता है। स्थिति बदलते समय बड़े-बड़े तूफान उठते हैं, चक्रावात आ जाते हैं। आगे बढ़ कर यह पूर्वी घाट से टकराता	कथन तथा मानचित्र द्वारा

८

अंग्रेजी का पाठ-सूत्र

Date — 7th March 1956.

School — Queen's College, Lucknow.

Class — IX B.

Subject — English (Prose).

Topic — '*The Shah of Iran*'

General Aims

(1) To help students learn the use of correct English vocabulary.

(2) To help them develop spontaneous recall of words, implying mastery of vocabulary.

(3) To help them learn the grammatical accuracy.

(4) To help them develop skill in speech, fluency and ability to reproduce correct sounds.

(5) To help them develop the reading skill.

(6) To help them express their thoughts in writing.

Specific Aims

(1) To inspire them to imbibe virtues of the Shah of Iran.

(2) To add to their vocabulary a number of new words and phrases, such as—adore, misery, throng and glimpse etc., etc.

Material Aid

(1) A picture of Shah of Iran.

(2) A picture of flowers and petals.

(3) Pictures showing embroidery and attires.

Knowledge Assumed

Students know that they go to meet their friends and relations on the Holi festival in order to make contacts. They also know that Pandit Nehru visited Russia to make friendship with the people of that country and Mr. Bulganin of Russia visited this country with the same aim. They also know that the Shah of Iran was welcomed by the citizens of Lucknow a week back when the royal visitor came to this city.

Words for exposition—Popular, acquired, personal touch, subjects, above, personal estate, miseries, bonds, age old, ancient.

Word Meaning	*Device*
Popular—famous	By definition and illustration.

We all like Pandit Nehru. He is very popular among our countrymen.

Acquired—got	By action demonstration and definition.

Please give me this book. I have acquired this book from him.

Personal touch—of one's own knowledge. By definition and illustration

Your class teacher knows all of you and every one of you knows him well. He has got personal touch with you.

Subjects—	Bytranslation.
Addore—love too much—	By definition.
Personal estate—Private land, own land	By definition.
misery—unhappiness	By definition and comparison and contrast.

(a) He has got a good house to live in, good food to eat and good clothes to wear. He is full of happiness.

(b) His mother died, his son was ill and he had no money. He was full of miseries.

Bonds	By translation method.
Age old—very old	By definition.
Ancient—very old, age old	By definition and illustration.

(a) In ancient times Rama killed Ravana.

(b) The battle of Mahabharat took place in ancient times.

Oral reading by students.

Silent reading by students.

Comprehension Test (1) Why is the Shah of Iran very popular ?

(2) What has he done for his people ?

Comprehension Test Questions

(1) What did the people do when the Shah came to Delhi ?
(2) How did they welcome him ?
(3) What was done in the evening ?
(4) What did the girls do ?

Recapitulation

(a) Silent reading of the whole page.
(b) Questions.

(1) Why do people adore the Shah of Iran ?
(2) What is the relation between the people of India and those of Iran ?
(3) Why did the people gather on the streets when the Shah came to Delhi ?
(4) How was the Shah entertained at Delhi ?

Application

To know about the Shah of Iran further, read the Illustrated Weekly of the last week.

६

सामान्य विज्ञान का पाठ-सूत्र

दिनाङ्क : मार्च ५, १९५६
विद्यालय : सनातन धर्म इण्टर कालेज, बनारस
कक्षा : ८ ब
विषय : सामान्य विज्ञान
पाठ शीर्षक : चुम्बक के गुण
समय : ४० मिनट

उद्देश्य :
अ—सामान्य

(१) छात्रों का मानसिक और भौतिक विकास, करते हुए उनकी विज्ञान में रुचि उत्पन्न करना।
(२) उन्हें दैनिक कार्यों को सुसंयत और सुचारु-रूप से सम्पादित करने में चतुर बनाना।
(३) छात्रों को प्राकृतिक शक्तियों का बोध और उनके अन्वेषण में कुशल बनाना।
(४) छात्रों में निरीक्षण शक्ति का विकास करना।

(क/१) यह क्या देखते हो ? (क/२) दोनों में क्या अन्तर देखते हो ? उनको क्रमशः लोहे के बुरादे में रखकर और ऊपर उठाकर पूछा जायगा ।

(ख) इन दोनों में क्या अन्तर है ?

इसी प्रकार छड़ चुम्बक और साधारण लोहे के टुकड़े के प्रयोग करके प्रश्न पूछा जायगा—

(ग) इस टुकड़े को भिन्न-भिन्न धातु तथा अधातु पदार्थों से स्पर्श कराके प्रश्न पूछा जायगा—

(घ) चुम्बक किसको खींचता है ?

(ङ) चुम्बक किसको नहीं खींचता ?

सारांश : चुम्बक कुछ पदार्थों पर प्रभाव डालता है और कुछ पर नहीं ।

द्वितीय अन्विति

भिन्न-भिन्न प्रकार के चुम्बक को दिखाकर उनके आकार पर छात्रों से प्रश्न किया जायगा ।

सारांश : चुम्बक कई प्रकार के होते हैं ।

(अ) प्राकृतिक—जिनमें चुम्बक पत्थर आता है ।

(ब) कृत्रिम—जिनमें चुम्बक, छड़, बेलन, पत्ती आदि के रूप में ।

तृतीय अन्विति

चुम्कक को एक तागे से बांध उसे लटका कर स्थिर होने दिया जायग ।

(क) यह किस दिशा में रुका हुआ है ? (उत्तर दक्षिण में) ।

(ख) (घुमाकर) बताओ अब क्या हो रहा है ? (घूम गया) ।

सारांश : (१) चुम्बक का एक सिरा (तागे से लटकाने पर) सदैव उत्तर की ओर रहता है, उसे उत्तरी ध्रुव कहते हैं । इसी का दूसरा सिरा दक्षिण की ओर होता है, उसे दक्षिणी ध्रुव कहते हैं ।

(२) यदि एक चुम्बक के पास भिन्न-भिन्न धातु जैसे लोहा और ताँबा लायें तो किस पर क्या प्रभाव होगा ?

(३) यदि एक चुम्बक छड़ को तागे से बाँध कर लटका दें तो वह किधर ठहर जाता है ?

(४) यदि उत्तरी ध्रुव को उत्तरी ध्रुव के पास लायें तो क्या होगा ?

(५) चुम्बक तुम्हारे दैनिक जीवन में कहाँ-कहाँ काम में आता है ?

(६) यदि कुछ पदार्थों के चूरे में लोहा मिला दिया गया हो तो उसे कैसे अलग करोगे ?

प्रयोग : लोहा काटने की मशीन के पास रखी हुई चाय की पत्ती के पाकिट में कुछ बारीक टुकड़े पड़ गये हैं । हम कैसे पता लगायेंगे कि वे टुकड़े लोहे के हैं अथवा नहीं ? यदि वे लोहे के हैं तो उन्हें कैसे पृथक् करेंगे ?

(४) यह शिक्षा आत्म-निर्भरता का पाठ पढ़ावे।
(५) नागरिकता के विकास पर ध्यान।
(६) जीवन से सम्बन्धित हो।

१. **अनिवार्य शिक्षा :** अब हमारा देश स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को समझें। अब सरकार जनता की सरकार है। ऐसी अवस्था में बिना शिक्षा के देश की उन्नति हम नहीं कर सकते और देश में हर प्रकार की उन्नति करना हमारा कर्त्तव्य है। इसलिए सरकार ने यह उचित समझा कि प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय। इस वर्ष के लिए बेसिक शिक्षा ही अधिक लाभदायक सोची गयी है जिससे एक निश्चित समय में व्यक्ति को शिक्षित बना दिया जाय।

२. **मातृभाषा ही माध्यम हो :** कोई भी व्यक्ति अपने विचारों को जितनी सुन्दरता एवं प्रभावशाली ढंग से मातृभाषा में प्रकट कर सकता है उतनी उत्तमता से किसी दूसरी भाषा में नहीं। मातृभाषा ही देश की संस्कृति, साहित्य एवं सामाजिक परिस्थिति का प्रतिनिधित्व कर सकने योग्य होती है। अंग्रेजी के माध्यम से हमारी संस्कृति को बड़ी ठेस लगी है। आज सभी शिक्षा-विशारद मातृभाषा के माध्यम को श्रेष्ठ समझते हैं, क्योंकि व्यक्तित्व के विकास के लिए भाव प्रकाशन की शक्ति का बहुत ही महत्त्व है। यह भाव-प्रकाशन की शक्ति मातृभाषा द्वारा अधिक तरह प्राप्त किया जा सकता है और बालक में साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न की जा सकती है।

३. **हस्तकला शिक्षा केन्द्र :** हस्तकला की शिक्षा को आजकल के विद्वान अधिक श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि किसी कला में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य अपनी जीविका सरलता से चला सकेगा। इसके द्वारा मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के अनुभव उसे प्राप्त होंगे। इस विधि की विशेषता है 'करके सीखना'।

वर्धा-योजना के अनुसार कताई, बुनाई, कृषि-कार्य तथा काष्ठ-कला, बेसिक शिक्षा का आधार माना गया है। किसी एक विषय को मुख्य मान कर अन्य विषयों का अध्ययन करना ही बेसिक विधि है। हस्तकला में शिक्षा देने के

कला का केन्द्र बनाया जाता है। बालकों की स्वाभाविक वृत्तियों को ध्यान में ही रखकर बेसिक शिक्षा का कार्य निश्चित किया गया है। इस शिक्षा से कुशल नागरिक बनने की योग्यता बालक प्राप्त कर सकेगा।

६. **नागरिकता का आदर्श :** आज समाज में बौद्धिक और शारीरिक श्रम करने वालों में असमानता है। शारीरिक श्रम करने वाले को वह महत्त्व नहीं प्राप्त है जो बौद्धिक श्रमवालों को प्राप्त है। बेसिक शिक्षा में आदर्श नागरिक का भाव निहित है। किन्तु बेसिक शिक्षा में बौद्धिक और शारीरिक श्रम करने वालों में जिस अन्तर को हम देखते हैं उसे समाप्त करना है, क्योंकि इस शिक्षा में हस्तकला के द्वारा अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इससे श्रम के लिए रुचि उत्पन्न होगी। व्यक्ति को अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए समाज-विज्ञान के पाठ में यथेष्ट ध्यान दिया गया है। आत्म-सम्मान, आत्मसुधार, सहकारिता और समाज-सेवा का भाव उत्पन्न करने तथा आपसी भेदभाव के मिटाने का प्रयत्न इस शिक्षा के द्वारा किया गया है। इस प्रकार नागरिकता की सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक दोनों प्रकार की शिक्षा बेसिक शिक्षा में दी जाती है। अपने उत्तरदायित्व को निभाने, दूसरे का नेतृत्व करने, अपने शरीर तथा बुद्धि पर भरोसा करने तथा त्याग एवं बलिदान करने का गुण बालकों में उत्पन्न करने का उद्देश्य इस शिक्षा के मुख्य ध्येय हैं। बेसिक शिक्षा-योजना में छात्रों को स्वतन्त्रता इस प्रकार प्राप्त है कि वे स्वशासन का अनुभव प्राप्त करें। भूगोल की शिक्षा से प्रकृति निरीक्षण का अभ्यास उन्हें कराया जाता है।

इतिहास द्वारा उन्हें यह शिक्षा दी जाती है कि भौगोलिक और सामाजिक अवस्थाओं के कारण रहन-सहन में अन्तर कैसे उत्पन्न होते हैं। प्राचीन सभ्यता की कहानियों से बालक यह समझ जायगा कि सारा मानव समाज एक ही है। महापुरुषों के जीवन-चरित्र को पढ़ कर बालक उत्तम गुणों को अपनाने का प्रयत्न करेगा। समाज-विज्ञान में इतिहास भूगोल और नागरिकता की शिक्षा दी जाती है। इस शिक्षा में नागरिकशास्त्र समाज-विज्ञान का आधार है।

सुन्दर चीजों को देख कर सौन्दर्य की ओर उनकी रुचि अपने आप चलती जाती है।

साधारण विज्ञान : आज विज्ञान का ही स्थान सर्वोपरि है। विज्ञान के बल पर गरीब देश उन्नतिशाली हो गये हैं। हमारे देश में विज्ञान की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध पाठशालाओं में नहीं है। साधारण विज्ञान पाठ्यक्रम में रख दिया गया है जिससे अन्धविश्वास दूर हो जाय और बालक अपने दैनिक कार्यों में विज्ञान के महत्त्व को समझें और उसका ज्ञान प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से बेसिक शिक्षा में इसे स्थान दिया है। यदि वैज्ञानिकों के चरित्र से बालकों को परिचित कराया जायगा तो उनकी रुचि अध्यवसाय तथा सत्य की ओर जायेगी।

शरीर विज्ञान : शरीर विज्ञान का उद्देश्य है बालकों को स्वस्थ बनाना। खेलकूद, तैरना, बागवानी इत्यादि श्रम के कार्य शरीर में शक्ति लाते हैं।

आलोचना

जहाँ बेसिक शिक्षा में इतने गुण हैं वहाँ कुछ दोष भी झलकते हैं। नीचे इन्हीं दोषों की ओर संकेत किया जायगा।

कुछ लोग कहते हैं कि बालक को शिक्षा का केन्द्र न मान कर हस्तकला को केन्द्र माना गया है जोकि अमनोवैज्ञानिक है। पहले से ही भौतिक स्तर पर उन्हें लाने का प्रयास करना अनुचित है। ऐसा करने से वे आध्यात्मिकता से दूर हो जायेंगे। केवल जीविकोपार्जन की ओर जाने की शिक्षा ठीक नहीं।

उपर्युक्त विचारों में सत्य का कहाँ तक स्थान है इसको कहना सरल नहीं। इसके अतिरिक्त इस शिक्षा में धार्मिकता का भी अभाव है। महात्मा गान्धी के शब्दों में स्वावलम्बन ही सबसे बड़ा धर्म है। स्कूलों में विभिन्न धर्म के अनुयायी बालक शिक्षा पाते हैं अतः किसी विशेष धर्म की शिक्षा से गड़बड़ी उत्पन्न होगी। इसी से धार्मिक शिक्षा को बेसिक-शिक्षा-योजना में स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु सभी धर्मों में सदाचार, उदारता तथा एकता आदि की शिक्षा दी गयी है। अतः इस प्रकार की धर्म की शिक्षा को स्थान दिया जा सकता है।

पाठ्यक्रम : मातृ-भाषा, गणित, समाज विज्ञान, संगीत, चित्रकला साधारण विज्ञान तथा शरीर विज्ञान ।

आलोचना : हस्तकला का केन्द्र सर्वमान्य नहीं । धार्मिक शिक्षा का अभाव, शिक्षा स्वावलम्बी न हो । विशिष्ट अध्ययन का निर्वाचन असामयिक है । अमनोवैज्ञानिक है । वैयक्तिक भिन्नता के अनुसार शिक्षा योजना असम्भव । योग्य अध्यापकों का अभाव ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. बेसिक शिक्षा की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

२. बेसिक शिक्षा के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए ।

क्रिया खेल है और खेलें विभिन्न प्रकार की होती हैं। फ्रोबेल विद्यार्थियों के विकास में खेल को उच्च स्थान देता है।

फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य :

फ्रोबेल का कथन है कि मानसिक क्रियायें तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं। १. जानना[1], २. अनुभव करना[2], ३. संकल्प करना[3]। जिस प्रकार से माली पौधे के सभी अंगों के लिए एक साथ प्रयत्न करता है उसी प्रकार अध्यापक को चाहिए कि इन तीनों शक्तियों का विकास एक साथ करें। फ्रोबेल के कथनानुसार सृष्टि, प्रकृति तथा संसार के क्रम और मनुष्य जाति की उन्नति में ईश्वर ने हमें शिक्षा के वास्तविक रूप का ज्ञान दिया है। इनकी क्रियाशीलता की ओर ईश्वर ने संकेत किया है। इसलिए निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि शिक्षा का सच्चा रूप क्रियाशीलता है। क्रियाशील रहना और विचारना व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक है। विद्यार्थी की शिक्षा में फ्रोबेल उनकी रुचि की ओर अधिक ध्यान देता है। उसका कहना है कि एक बार स्वाभाविक प्रवृत्ति को जगा देने पर बालक में रुचि स्वयं आ जाती है। इसीलिए फ्रोबेल की गणना समाज सुधारकों में की जाती है। उसके सिद्धान्तों का प्रभाव वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। फ्रोबेल के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थी की अलग-अलग रुचि होती है। सभी विद्यार्थियों को एक साथ शिक्षा देने में उनके व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं। उसका कहना था कि अध्यापकों के कहने से बालक कुछ नहीं करता। शिक्षा-क्षेत्र में फ्रोबेल अध्यापक की अपेक्षा विद्यार्थी को प्रधानता देता है। बालक चुपचाप बैठना नहीं चाहता। बेकार रहने पर विनय भंग करना उसका स्वभाव है। अतएव विनय-स्थापना के लिए उन्हें किसी कार्य में लगाए रखना चाहिए।

किन्डरगार्टन की प्रणाली

बालक कुछ बनाना,[4] संकेत करना[5] और गाना[6] अधिक पसन्द करता

---

1. Knowing. 2. Feeling. 3. Willing. 4. Constructing. 5. Gesture. 6. Singing.

का ज्ञान करता है। इसके पश्चात् के उपहारों में टिकिया, छड़ी और छोटी कुंडली होती है। इनकी सहायता से बालकों को सतह, रेखा और विन्दु का ज्ञान कराया जाता है। अध्यापक का कर्त्तव्य केवल उपहार दे देने से ही समाप्त नहीं होता, उसे आवश्यकतानुसार बालकों को सहायता भी देनी पड़ती है।

किण्डरगार्टेन की आलोचना

यद्यपि यह पद्धति शिक्षा के लिये अत्यन्त ही उपयोगी है किन्तु आलोचकों ने अनेक प्रकार से इसकी आलोचना की है। फ्रोबेल ने कहा है कि "मानव स्वभाव का रूप बचपन में जैसा होता है और उसके लिए जैसी शिक्षा की आवश्यकता है उसके प्रति मेरे विचारों को संसार कदाचित् शताब्दियों बाद समझेगा।" एफ. डब्लू. पार्कर ने इस पद्धति को १९वीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ सुधार बताया है। कुछ आलोचकों का यह कथन है कि फ्रोबेल का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक न होकर आध्यात्मिक है। इतना होते हुए भी दर्शनिकों में उसकी गणना नहीं होती क्योंकि उसके विचार क्रमबद्ध नहीं हैं। बालकों की रुचि पर ध्यान देने के लिये रूसो, पेस्तॉलाजी और हरबार्ट ने भी बल दिया था। किन्तु फ्रोबेल ने प्रारम्भिक शिक्षा पर सर्वप्रथम बल दिया। आधुनिक काल बालकों का युग माना जाता है। एक प्रकार से मॉन्तेसरी-पद्धति को इस पद्धति का दत्तक पुत्र मानना अनुचित न होगा। यद्यपि फ्रोबेल के अनेक दार्शनिक सिद्धान्त हमें बोधगम्य नहीं होते, किन्तु बालक-सम्बन्धी अनेक विचार सदैव उसका स्मरण कराते रहेंगे। फ्रोबेल के सिद्धान्तों में देश और काल के अनुसार परिवर्तन होते रहेंगे, किन्तु उसकी आत्मा अमर रहेगी।

किन्डरगार्टेन स्कूल : इस पद्धति के स्कूलों में यथा-सम्भव अध्यापिकायें ही रखी जाती हैं, क्योंकि अध्यापकों की अपेक्षा वे विद्यार्थियों को पढ़ाने में अधिक उत्साह से कार्य करती हैं। प्रत्येक पाठ २० या २५ मिनट का होता है। मनोरंजन के लिए पाठ का रूप बदलता रहता है। अध्यापन-कार्य के पूर्व प्रार्थना होती है। छोटी कक्षाओं की शिक्षा में खेल पर अधिक ध्यान दिया जाता है। विद्यालय की प्रथम बैठक में अंकगणित और पढ़ने की शिक्षा दी जाती है। दूसरे बैठक में खेल में अधिक समय दिया जाता है। इसके पश्चात्

दूसरा उपहार : त्रिघात, गोला और नलाकार ।

तीसरा, चौथा, पांचवां, छठा उपहार :

आलोचना :

फ्रोबेल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ठीक किन्तु सर्वमान्य नहीं । फ्रोबेल की देन, आधुनिक काल बालक का युग । सिद्धान्तों की आत्मा अमर है ।

किण्डरगार्टेन स्कूल : शिक्षा देने के लिए प्रायः अध्यापिकायें ही रखी जाती हैं । पाठ का छोटा होना । धार्मिक शिक्षा । खेल खेलने के साथ सभी विषयों की शिक्षा देना । स्वास्थ्य पर ध्यान । स्वतन्त्रता । अनुशासन भंग होने की शंका नहीं ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. फ्रोबेल के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए ।

२. किसी किण्डरगार्टेन स्कूल का विवरण दीजिए ।

३. फ्रोबेल पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए ।

बालक को आध्यात्मिकता की झलक देना चाहता है। पर मॉन्तेसरी इसको ठीक नहीं समझती। मॉन्तेसरी पद्धति में भौतिक कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

मॉन्तेसरी पद्धति में मनोवैज्ञानिक क्षण[1] को विशेष महत्त्व दिया गया है। बालक को उसकी रुचि के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक शिक्षा देना इसका लक्ष्य है। मनोवैज्ञानिक क्षण के अनुसार शिक्षा देने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक को बालक की मानसिक दशा का पूरा-पूरा ज्ञान हो। जैसे उपकरणों की आवश्यकता समझी जाय तदनुसार अध्यापक उनका प्रबन्ध करे। अपनी इच्छानुसार चीज बना लेने पर बालक को अपरमित आनन्द प्राप्त होता है। इस पद्धति में बच्चों की स्वतन्त्रता प्रधान है। अतएव बच्चों का वातावरण स्वातन्त्र्य प्रधान होना चाहिए। कहीं भी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

व्यावहारिक जीवन की शिक्षा :

मॉन्तेसरी पाठशालाओं में ढाई से ७ वर्ष तक के बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं। पहले शरीर के अंगों की स्वच्छता पर ध्यान दिया जाता है। यदि आवश्यकता पड़ती है तो अध्यापिका स्वयं बच्चों की सफाई करती है। बालकों को डांट कर नहीं वरन् प्रेमपूर्वक उनकी त्रुटियाँ बताई जाती हैं और उनके असमर्थ होने पर अध्यापिका स्वयं उनकी सेवा करती है। ऐसे वातावरण में बालक आनन्द मग्न हो जाता है और उसे स्कूल अपना घर मालूम होता है।

मॉन्तेसरी-पद्धति में बालक आत्मनिर्भरता एवं निरन्तर परिश्रम करने की शिक्षा पाता है। प्रत्येक कार्य को उसे स्वयं करने की शिक्षा दी जाती है। यदि वह सफल नहीं होते हैं तो उसे अध्यापिका स्वयं सहायता देती है। जिस प्रकार एक माता प्यार से बच्चे को हर चीज में सहायता देती है उसी ढंग से अध्यापिका भी करती है। भोजन करना, सोना, बातचीत करना, कमरे को सजाना इत्यादि सभी कार्य मनोवैज्ञानिक ढंग से बच्चों से कराये जाते हैं। उनके स्वास्थ्य पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है।

---

1. Psychological Moment.

लिखने-पढ़ने की शिक्षा

लिखने के साथ ही साथ बालक पढ़ना भी सीख जाता है। इस पद्धति में बालकों को अक्षर नहीं रटाया जाता। किसी अक्षर को दिखलाकर उसके ध्वनि का उच्चारण कराया जाता है। तत्पश्चात् अक्षर को देखकर बालक स्वयं उच्चारण करने का अभ्यासी हो जाता है। इस पद्धति के अनुसार बालकों को पढ़ने के पहिले लिखना सिखाया जाता है, क्योंकि लिखना सरल कार्य है। अतः बालक अपनी सफलता से उत्साहित होकर अधिक परिश्रम से कार्य करते हैं। इस पद्धति में खेलों के आधार पर लिखने की शिक्षा इस प्रकार से दी जाती है कि बालक समझ ही नहीं पाते कि उन्हें लिखने की शिक्षा दी जा रही रही है। तृतीय कक्षा से विद्यार्थियों को पढ़ने का अभ्यास कराया जाता है। इस पद्धति के समर्थकों का कथन है कि जिस विषय को पढ़कर समझा न जा सके वह पढ़ना व्यर्थ है। चौथी कक्षा में पढ़ने और लिखने की शिक्षा के साथ-साथ अंकगणित का भी अभ्यास कराया जाता है। यह कार्य अत्यन्त ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। गोलियों की सहायता से बालकों को जोड़ना-घटाना सिखाया जाता है।

मॉन्तेसरी पद्धति अपने ढंग की शिक्षा में अधिक विश्वास रखती है। इस पद्धति की शिक्षा में बालक स्वयं उत्तरदायी होता है। इस सिद्धान्त के अनुयायियों का कथन है कि अधिक स्वतन्त्रता से विनय भंग करने की भावना विद्यार्थियों से जाती रहती है। बालक स्वयं कार्य करने में रुचि लेता है। विनय भंग की समस्या उठती ही नहीं। विद्यालय में कोई विद्यार्थी दूसरे के कार्य में रोड़ा नहीं अटकाता।

आलोचना

प्रारम्भिक शिक्षा के लिए एक नई पद्धति को जन्म देकर मॉन्तेसरी ने सराहनीय कार्य किया है। इस पद्धति से शिक्षा-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान सुगमतापूर्वक हो जाता है। किन्तु इतना होने पर भी इस पद्धति में कुछ दोष पाये जाते हैं। इस पद्धति से शिक्षा देने से बालकों में सामाजिकता की भावना नहीं आती। मॉन्तेसरी पद्धति में अभिनय और सामूहिक संगीत

आलोचना : सामुदायिक क्रीड़ा का सर्वथा अभाव। बालकों में स्वार्थ की भावना के आ जाने का भय। कल्पना शक्ति का विकास सम्भव नहीं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. मॉन्तेसरी और फ्रोबेल की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

२. किसी मॉन्तेसरी स्कूल का विवरण दीजिए।

३. मॉन्तेसरी पद्धति की आलोचना कीजिए।

कि आवश्यकतानुसार अध्यापक से बिना आदेश लिए ही इच्छित स्थान पर जा सकते हैं। विद्यार्थीगण परस्पर परामर्श भी करते रहते हैं। इस पद्धति में स्कूल के सम्पूर्ण काल को दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है। एक भाग में बालक अपनी स्वतन्त्रतानुसार कार्य करते हैं, और दूसरे भाग के समय में वे कक्षा शिक्षण-विधि की भाँति शिक्षा प्राप्त करते और खेलते हैं। नीचे इस पद्धति की प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत किया जा रहा है :

मौखिक पाठ : बालकों को प्रति सप्ताह प्रत्येक विषय के लिए एक मौखिक पाठ दिया जाता है। इस पाठ का उद्देश्य उनकी कठिनाइयों को दूर करना होता है। कभी कभी छात्र एकत्रित होकर आपस में विचार विनिमय भी करते हैं।

विशेषज्ञ : प्रत्येक कक्षा में उस विषय का विशेषज्ञ होता है जिस विषय की वह कक्षा होती है। प्रत्येक विशेषज्ञ को अपने विषय का पूर्णरूपेण ज्ञान रखना होता है।

पाठ निर्देश : इस पद्धति में प्रत्येक विषय के सम्पूर्ण कार्य-क्रम को विभिन्न भागों में बाँट दिया जाता है, इसे पाठ निर्देश कहते हैं। इस पद्धति की शिक्षा में प्रत्येक दिन जो कार्य किया जाता है, उसे अन्विति कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक अन्विति का कार्य प्रतिदिन पूरा कर दिया जाय, किन्तु महीने भर का कार्य महीने की अंतिम तिथि तक समाप्त कर देना आवश्यक होता है। अधिकान्शतः विद्यार्थी अपने कार्य को उचित समय पर कर लेते हैं। यदि कुछ विद्यार्थी उचित समय पर कार्य को पूरा करने में असफल रहते हैं तो अध्यापक उनकी सहायता करता है और कार्य को पूरा करवाता है।

आलोचना

इस पद्धति के कुछ आलोचकों का कथन है कि इस पद्धति में बालकों को अधिक स्वतन्त्रता दे दी जाती है जिसका वे प्रायः दुरुपयोग करते हैं। कुछ बालक अपने उत्तरदायित्व को सोचकर घबड़ा भी जाते हैं, किन्तु आलोचकों का यह तर्क ठीक नहीं है। घबड़ाये हुए विद्यार्थियों की सहायता के लिए अध्यापक सदैव तैयार रहते हैं। बालकों के कार्यों की देखभाल करने के लिए

४८

प्रॉजेक्ट प्रणाली[1]

इस पद्धति का जन्म अमेरिका के शिक्षा विशारदों ने किया है। कृषि-शिक्षा में किये गये प्रयोग के आधार पर इस शिक्षा का जन्म हुआ है।

मनुष्य जिस वातावरण में रहता है उसका मनुष्य के विकास पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार अपने वातावरण को मनुष्य अपने व्यक्तित्व से प्रभावित करता है। मनुष्य के विकास के साथ-ही-साथ उसके समाज का भी विकास होता रहता है। मनुष्य अपने समाज में अन्य लोगों से अपने को निम्न स्थान पर देख कर स्थान की विषमता को दूर करने की चेष्टा करता है। यदि शिक्षित लोगों के बीच उसे रख दिया जाय तो वह अपनी विषमता को दूर करने के लिए स्वयं शिक्षित बनने का प्रयत्न करेगा। प्रॉजेक्ट पद्धति में इसी प्रकार की कोई विषमता बालकों के सामने रखी जाती है और वे उस विषमता के सुलझाव को खोजने में लग जाते हैं। प्रॉजेक्ट पद्धति में केवल उन्हीं बातों पर ध्यान दिया जाता है जो व्यावहारिक जीवन में कार्य में आती हैं। यह पद्धति विद्यालय को विद्या का केन्द्र न मान कर कार्य का केन्द्र मानती है। इस पद्धति में तीन प्रकार के कार्यक्रम रखे जाते हैं। पहले प्रकार में बालकों को कुछ चीजें देकर उन्हें समझा दी जाती हैं। इन चीजों से वे गाड़ी, पुल, टोकरी, दरी तथा खिलौना आदि का वे नमूना बनाते हैं। दूसरे प्रकार में बालकों को वस्तु का केवल नाम बता दिया जाता है और उसे बालक स्वयं बनाते हैं। इस पद्धति के तीसरे प्रकार में वस्तु का नाम भी नहीं बताया जाता, और वे अपने उद्देश्य का निर्धारण भी स्वयं करते हैं।

इस पद्धति में बालकों को देश की परिस्थितियों से ज्ञान करा दिया जाता है जिससे वे भविष्य में एक योग्य नागरिक बन सकें। अपने देश की परिस्थि-

1. Project Method.

का कहना है कि पाठ्यक्रम बालकों के लिए होता है न कि बालक पाठ्यक्रम के लिए। इसलिए पाठ्यक्रम के आधार पर इस पद्धति की आलोचना को महत्त्व देना व्यर्थ है। यदि इस पद्धति की शिक्षा का आयोजन समुचित रूप से कर दिया जाय तो पाठ्यक्रम अपने आप संगठित हो जायगा।

प्रॉजेक्ट पद्धति की सीमायें :

इस पद्धति के गुण और दोषों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् पक्षपात रहित होकर उस पर विचार करना आवश्यक है। यदि शिक्षा पद्धति में केवल इसी पद्धति से काम लिया जायगा तो दोष अवश्य ही आ जायगा। बालक जिन वस्तुओं को बनाता है उन्हें अपने घर ले जाता है। अतएव अपनी बनाई हुई अधिक से अधिक वस्तुओं का अपने घर पर संग्रह करना उनका उद्देश्य हो जाता है। किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करना उसके लिए महत्त्व नहीं रखता। बालक टोकरी या दरी को शीघ्रातिशीघ्र पूरा करने का प्रयत्न करता है। शीघ्रता के कारण वस्तु की बनावट में दोष भी आ जाते हैं। यदि इस पद्धति के साथ ही किसी अन्य पद्धति का सहारा लिया जाय तो अधिक अच्छा होगा।

प्रॉजेक्ट पद्धति की प्रक्रिया के पद :

प्रॉजेक्ट कई प्रकार के हो सकते हैं अतएव सभी प्रकार के प्रॉजेक्ट के लिए किन्हीं समान पदों का उल्लेख करना कठिन है, किन्तु साधारणतः प्रॉजेक्ट में ४ पदों की आवश्यकता होती है।

१. उद्देश्य-निर्धारण, २. योजनाकरण।
३. कार्यान्वित करना, ४. निर्णय देना।

निम्नलिखित पंक्तियों में इन्हीं पदों की ओर संकेत किया जा रहा है :—

१. इस पद्धति में अध्यापक द्वारा निर्देश देना बहुत ही आवश्यक है।
२. विद्यार्थियों की विकासावस्था तथा कक्षा के अनुसार प्रॉजेक्ट का निर्वाचन करना चाहिए।
३. निर्वाचित प्रॉजेक्ट के लिए प्रत्येक विद्यार्थी की स्वीकृति होनी चाहिए।

षष्ठम खण्ड : मनोविज्ञान

४६

मनोविज्ञान का क्षेत्र तथा अध्ययन विधियाँ

मनोविज्ञान की परिभाषा

वर्तमान युग के वैज्ञानिक विषयों में मनोविज्ञान का क्षेत्र दिन पर दिन विकास कर रहा है। नवीन होते हुए भी यह विषय बहुत प्राचीन है और विद्वानों का विश्वास है कि इसका अध्ययन आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो चुका था। सोलहवीं शताब्दी तक लोगों का मत था कि इस विषय का क्षेत्र केवल 'आत्मा' तक ही सीमित है। अतः तब यह दर्शनशास्त्र का अंग बना रहा। यही कारण है कि तब इस विषय को स्वतन्त्र विषय बनने का अधिकार न मिला क्योंकि प्राचीन मनोविज्ञान का मूल आधार दर्शन-शास्त्र ही था।

पर समय के साथ मनोविज्ञान का विषय विकसित होता रहा और इस विकास में परिवर्तन स्वाभाविक था। आत्मा का स्थान मस्तिष्क ने ले लिया और तब इसका क्षेत्र मस्तिष्क के विभिन्न कार्यों तक सीमित कर दिया गया। परन्तु फिर भी मनोविज्ञान की कोई निश्चित परिभाषा सम्भव न हो सकी। विद्वानों के विभिन्न मत और अनेक विचार-धाराओं ने यह कार्य और कठिन बना दिया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि मनोविज्ञान की परिभाषायें अनेक होती गयीं। वर्तमान समय में इस विषय का क्षेत्र अत्यन्त जटिल तथा विस्तृत हो गया है। अब मनोविज्ञान को मानव तथा पशु के व्यवहारों का विज्ञान माना जाता है, और बहुत सी बातें समझने के लिए पशुओं के विभिन्न व्यवहारों का अध्ययन करना पड़ता है। मानव व्यवहार का स्वभाव तथा वास्तविक रूप समझने के हेतु पशुओं के व्यवहार का अध्ययन आवश्यक हो गया है।

आधार ले कर अपना काम प्रारम्भ करता है। परन्तु मनोविज्ञान में सर्व व्यापकता न होकर वैयक्तिकता का अंश अधिक है। इस विषय में हम किसी मस्तिष्क विशेष के बारे में विभिन्न क्रियाओं को अध्ययन करते हैं। अतः इसके अध्ययन में वैयक्तिक भिन्नता मिलती है। जब इस विषय के अन्तर्गत हम किसी घटना तथा वस्तु का अध्ययन करते हैं तो हमारी अध्ययन-सामग्री एक अमुक व्यक्ति के मस्तिष्क तक ही सीमित रहती है।

मनोविज्ञान एक "प्राकृतिक-विज्ञान" की कोटि में रखा जा सकता है, क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान की भाँति मनोविज्ञान भी निरीक्षण, परीक्षण और वर्णन विधियों को अपनाता है। मनोविज्ञान आदर्शवाद की चर्चा न करके किसी वस्तु की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालता है। वास्तविकता की ओर झुकाव होने के कारण मनोविज्ञान को वैज्ञानिक विधियों का ही आधार बनाना पड़ता है। इस प्रकार यह विषय एक वैज्ञानिक विषय बन जाता है।

मनोविज्ञान की अध्ययन-विधियाँ

निरीक्षण-विधि :

इस विषय के अध्ययन की अनेक विधियाँ हैं। निरीक्षण-विधि के अन्तर्गत विभिन्न विधियों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

अन्तर्दर्शन-विधि :

इस विधि को आत्म-चेतना तथा आत्म-निरीक्षण-विधि भी कहा जाता है। वास्तव में अन्तर्दर्शन का अर्थ है आत्म-विचार, परन्तु मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस का प्रमुख कार्य किसी व्यक्ति को किसी विशेष समय में अपने अन्तर्विचारों से परिचय प्राप्त करना है। इस प्रकार से अन्तर्दर्शन चेतना का एक विकसित रूप बन जाता है।

अन्तर्दर्शन-विधि के दोष :

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस विधि को दोषपूर्ण बताया जाता है। आलोचकों का कथन है कि कोई भी व्यक्ति स्वयं अपनी मानसिक स्थित तथा क्रियाओं का अध्ययन व विश्लेषण सफलता पूर्वक नहीं कर सकता, क्योंकि

का अध्ययन उस व्यवहार के प्रति अनुमान तथा उस व्यवहार की तर्कपूर्ण व्याख्या करना।

बहिर्दर्शन विधि के प्रमुख दोष :

यह धारणा कि व्यवहार द्वारा सदैव ही आन्तरिक अनुभूतियों का ठीक पता लगाया जा सकता है, हर दशा में सम्भव नहीं। कुछ व्यक्ति इस प्रकृति के होते हैं कि उनके व्यवहार द्वारा उनकी मानसिक क्रियाओं का अनुमान लगाना सर्वथा असम्भव सा प्रतीत होता है। हो सकता है कि निरन्तर अध्ययन द्वारा उनके व्यवहार से उनकी मानसिक स्थिति का पता लगाया जा सके।

यह भी सम्भव है कि अध्ययन अथवा निरीक्षण करते समय बहिर्दर्शक व्यक्ति विशेष के व्यवहार का अध्ययन अपने व्यवहार के आधार पर करना प्रारम्भ कर दे। अधिकतर देखा गया है कि वयस्क बालक के व्यवहार का अनुमान अपने व्यवहार से लगाने लगते हैं, और वे उसके मानसिक स्तर तक पहुँच ही नहीं पाते।

दूसरा दोष यह है कि व्यवहार के अध्ययन के समय मानव प्रकृति के अनुसार निष्पक्ष भाव नहीं आ पाता। फलतः निर्णय पक्षपातपूर्ण होने के कारण अपूर्ण तथा त्रुटि-पूर्ण हो सकता है। इस विधि से ठीक फल पाने के हेतु यह आवश्यक है कि व्यवहार अध्ययन के समय मित्र, शत्रु, बन्धु आदि के प्रति समान भावना रखकर निष्पक्ष भाव से कार्य किया जाय।

प्रयोगात्मक विधि :

इस विधि के अन्तर्गत व्यक्ति की पूर्व निश्चित मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। यह भी आवश्यक है कि प्रयोगकर्त्ता अपना निरीक्षण तथा कार्य प्रयोगशाला की सहायता द्वारा ही पूरा करे। विषयी को प्रयोग-सम्बन्धी सारी बातें ठीक प्रकार से समझाकर परीक्षणकर्त्ता यह प्रयत्न करता है कि प्रयोगशाला के भीतर कोई शोर-गुल आदि न हो तथा वातावरण पर पूर्ण नियन्त्रण सम्भव हो सके। इस प्रकार से विषयी की रुचि, ध्यान, स्मृति तथा तर्क इत्यादि मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

२. विकास विधि[1] :

इस विधि के अन्तर्गत विषयी के जीवन का अध्ययन करने से पूर्व कई पीढ़ियों के निरन्तर विकास की जानकारी की जाती है। वातावरण तथा वंशानुक्रम को आधार मान कर व्यक्ति की जीवन सम्बन्धी सभी घटनाओं को समझने का प्रयत्न किया जाता है और इस प्रकार विकास की पृष्ठ-भूमि में मानसिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

३. तुलनात्मक विधि[2] :

इस विधि में तुलना की सहायता से किसी व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। बहुधा तुलनात्मक दृष्टिकोण से व्यवहार सम्बन्धी समस्या समझ में आ जाती है। दूसरे व्यक्ति को उसी वातावरण में रखकर उस पर प्रयोग किया जाता है या उसके विगत जीवन की समान घटना से सहायता लेकर व्यक्ति विशेष के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इतना ही नहीं, यदि किसी प्रकार अध्ययन में बाधा या कठिनाई आती है और व्यवहार की तुलना से सन्तोषजनक परिणाम नहीं मिलता तो पशुओं के व्यवहार का भी अध्ययन किया जाता है क्योंकि कई प्रकार से पशुओं का व्यवहार मनुष्य के व्यवहार से मिलता जुलता है। इस प्रकार तुलनात्मक विधि अपनी सामग्री कई साधनों से लेकर मानव व्यवहार का अध्ययन करने का प्रयत्न करती है।

४. मनोविश्लेषण विधि[3] :

इस विधि के जन्मदाता फ्रॉयड का विश्वास है कि मनुष्य के मन का ७/८ भाग वह छिपा भाग है जिसे अचेतन कहा जा सकता है, इसके अतिरिक्त १/८ भाग को चेतना अथवा जागृत के नाम से पुकारते हैं। फ्रॉयड का कथन है कि यह अचेतन भाग मनुष्य के जीवन में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य करता है और जागृत अथवा चेतन से अधिक शक्तिशाली है। जीवन की समस्त घटनायें जो किसी न किसी संवेग के रंग में रंगी थी, इस अचेतन भाग में अपना स्थान

---

1. Developmental (Genetic). 2. Comparative.
3. Psychoanalytic.

अध्ययन की विधियाँ :

अन्तर्दर्शन, बहिर्दर्शन, प्रयोगात्मक, विकासात्मक, व्यक्ति-इतिहास, तुलनात्मक, मनोविश्लेषण और मनोविकृत्यात्मक ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. मनोविज्ञान के विकास पर प्रकाश डालते हुए उसके क्षेत्र का वर्णन कीजिए ।

२. मनोविज्ञान की विभिन्न अध्ययन पद्धतियों का वर्णन कीजिए ।

३. मनोविज्ञान के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ?

आधारित है। इतना ही नहीं, यह विषय शिक्षा-सम्बन्धी अनेक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है।

शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार

कई लेखकों का मत है कि शिक्षा मनोविज्ञान एक नवीन विषय है। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। शिक्षा-शास्त्र का इतिहास इसका साक्षी है कि मनोविज्ञान और शिक्षा में पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही प्राचीन है। महान शिक्षा-शास्त्रियों के विचार यह स्पष्ट करते है कि मनोविज्ञान सदैव ही शिक्षा का आधार रह चुका है।

प्लेटो का विश्वास था कि सफल शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थी के स्वभाव का भी अध्ययन करने का प्रयत्न करे। विषय की केवल जानकारी ही शिक्षक को सफल नहीं बनाती। एक दृष्टिकोण से रूसो को मनोवैज्ञानिक शिक्षा का जन्मदाता कहा जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का समावेश रूसो ने ही प्रारम्भ किया था। शिक्षा का मनोवैज्ञानिक स्तर पर रखने का प्रयत्न भी रूसो ने ही किया था। पेस्तॉलाजी के अनुसार शिक्षक को बालक के सम्पूर्ण व्यवहार की पूरी जानकारी होनी चाहिए। इतना ही नहीं, शिक्षक को इस बात का भी ज्ञान होना आवश्यक है कि भविष्य में बालक अमुक समय में कैसा व्यवहार करेगा।

इन महान् शिक्षा-शास्त्रियों के अतिरिक्त हरबार्ट, फ्रोबेल तथा मॉन्तेसरी आदि ने भी शिक्षा को मनोविज्ञान से समीप लाने का प्रयत्न किया है। इन सब की यह धारणा थी कि शिक्षा अपने उद्देश्य में असफल रहेगी यदि उसका आधार मनोविज्ञान नहीं है। इस प्रकार विभिन्न मत हैं, परन्तु लक्ष्य सबका एक ही है। यही कारण है कि समय के साथ और मनोविज्ञान के विस्तार के साथ यह अनुभव होता जा रहा है कि सफल शिक्षा वही है जो मनोवैज्ञानिक है। हर दृष्टिकोण से यह ध्यान रक्खा गया है कि बालक अपने ढंग से तथा अपनी रुचि के अनुसार अध्ययन करे।

मनोविज्ञान के अध्ययन से लाभ

शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान की जानकारी से निम्नलिखित लाभ हैं।

ठीक इसके विपरीत मनोविज्ञान विभिन्न दशाओं में बालक के गुण तथा दोषों को अध्ययन करके अपना निर्णय देता है। अतः कुछ आलोचकों का कहना है कि मनोविज्ञान न केवल आदर्शों के पथ में बाधक है, वरन् उसके अध्ययन से कोई प्रेरणा भी नहीं मिल सकती। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। सत्य तो यह है कि मनोविज्ञान बाधक न होकर सहायक है। बालक के स्वभाव, गुण इत्यादि के परिचय प्राप्त किए बिना, उत्पादक शिक्षक भी अपने कार्य में असफल ही रहेगा। आदर्शवाद स्वयं कुछ नहीं करता। शिक्षक के लिए तो यह आवश्यक है कि हर कदम पर वह अपने प्रयत्न को मनोविज्ञान के तराजू पर तौल ले। इस प्रकार वह न केवल एक सफल कलाकार ही बनेगा, वरन् अपने आदर्शों को पाने में भी प्रयत्नशील रहेगा।

लगभग प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री का मत है कि मनोविज्ञान का ज्ञान शिक्षक के लिए आवश्यक है। पैस्तॉलाजी, हरबार्ट तथा फ्रोबेल जो अपने दृष्टिकोण से आदर्शवादी भी थे, इस कथन की पुष्टि करते हैं। शिक्षा स्वयं एक विज्ञान है यद्यपि उसके लक्ष्य कलात्मक तथा आदर्शपूर्ण हैं। मनोविज्ञान विज्ञान होते हुए भी शिक्षक जैसे कलाकार के कार्य में बाधा नहीं उपस्थित करता, क्योंकि हमें यह न भूलना चाहिए कि एक वैज्ञानिक कलाकार ही अपनी कला को उन्नतिशील कर सकता है।

जिस प्रकार कलाकार पत्थर अथवा लकड़ी जैसी निर्जीव वस्तु में किसी मूर्ति या पुष्प को बना कर उसमें प्राण फूँक देता है, ठीक उसी प्रकार शिक्षक के समक्ष बालक है, जिसके कोमल तथा भावुक स्वभाव को वह अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप में ढाल सकता है। अतः प्रत्येक दशा में शिक्षक को मनोविज्ञान का समुचित ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का समावेश शिक्षा से सम्बन्धित प्रत्येक दिशा में हो रहा है। शिक्षण-विधि, पाठ्य-क्रम कक्षा के संगठन में, सभी जगह मनोविज्ञान की आवश्यकता तथा महत्त्व का अनुभव किया जा रहा है। बुद्धि-परीक्षा की सहायता से समस्या बालक का भी जीवन सुधार सम्भव हो सका है। अतः मनोविज्ञान को शिक्षा के क्षेत्र से अलग करना एक भारी भूल होगी।

५१

स्नायु संस्थान[1]

इससे हम भली भाँति परिचित हैं कि शिक्षा में मनोविज्ञान का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा की सफलता बहुत कुछ उसके मनोवैज्ञानिक होने पर ही आधारित है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत व्यवहार का अध्ययन किया जाता है. किसी व्यक्ति के व्यवहार पर उसकी शरीरिक तथा मानसिक दोनों शक्तियों का प्रभाव पड़ता है। यदि शरीर स्वस्थ रहेगा तो उसका मानसिक संतुलन भी ठीक रहेगा। शरीर की अस्वस्थता मस्तिष्क को भी अस्वस्थ बना देती है। बहुधा हम देखते हैं कि दुर्बल पतले कमजोर शरीर वाले प्रायः चिड़-चिड़े स्वभाव के होते हैं। हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति अथवा पहलवान प्रायः शान्त और गम्भीर प्रकृति के होते हैं। यह उनकी शारीरिक दुर्बलता तथा सबलता का परिणाम है। उनकी यह सबलता अथवा दुर्बलता उनके व्यवहार से स्पष्ट हो जाती है, जैसे—किसी के शरीर के किसी अंग में पीड़ा होती हो और उसी समय हम उससे मिलना चाहते हों तो पहिले तो वह मिलना न चाहेगा और यदि मिलेगा भी तो जल्द से जल्द हमसे पीछा छुड़ाने की सोचेगा। उस व्यक्ति की इस क्रिया का कारण उसकी शारीरिक अस्वस्थता है जिससे असमर्थ होकर उसे ऐसा व्यवहार करना पड़ा, परन्तु हमें उसकी अस्वस्थता का ज्ञान न होने के कारण हम उसके इस व्यवहार की सदैव निन्दा करेंगे।

मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। किसी मनुष्य के व्यवहार पर यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो हमें उसके शरीर के स्नायु संस्थान के प्रभाव उसके व्यहार में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होंगे। स्नायु के अध्ययन से हम मनुष्य के प्रत्येक गुण से परिचित होकर उसके प्रत्येक

1. Nervous System.

कहा जाता है। प्रथम स्नायु संस्थान को मध्य-स्थवात[1] संस्थान अथवा मेरु दन्डात्मक संस्थान भी कहते हैं।

मस्तिष्क सुषुम्ना तथा वे स्नायु-तार जो इनसे निकल कर शरीर के प्रत्येक भाग, विशेषतया अनुभवशील अंग, इच्छाधीन[2] पेशियों तथा त्वचा में फैले रहते हैं, मध्यस्थ स्नायु संस्थान के भाग हैं।

स्वतन्त्र स्नायु संस्थान की रचना दो जन्जीरों से होती है। ये जंजीरें मेरु दन्ड के दोनों ओर खोपड़ी से निकल कर कूल्हे तक गई रहती हैं। इन पर छोटी छोटी बहुत सी गांठें[3] होती हैं जिनमें स्नायुविक पदार्थ रहता है। इनसे बहुत से स्नायु सूत्र निकल कर दिल, आतों और आमाशय आदि भीतरी अंगों तक गये रहते हैं। स्नायु सूत्रों के साथ-साथ गांठों से शाखायें भी निकलती होती हैं जो सुषुम्ना से निकली हुई स्नायों से जाकर मिल जाती हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र स्नायु संस्थान तथा मध्यस्थ स्नायु संस्थान एक दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं।

स्वतन्त्र तथा मध्यस्थ दोनों स्नायु संस्थानों की रचना दो प्रकार के पदार्थों से होती है। एक प्रकार के पदार्थ का रंग भूरा तथा दूसरे का सफेद होता है। भूरे रंग का पदार्थ स्नायु सेलों तथा सफेद रंग का पदार्थ स्नायु सूत्रों से बनता है।

स्नायु सेलों तथा स्नायु सूत्रों की बनावट :

स्नायु सेलों की रचना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनमें बीच में जीवोज[4] होता है। जिनमें मीगटी[5] होती है और चारों ओर को कई शाखायें तथा उन शाखाओं में से कई प्रशाखायें निकली रहती हैं। ये प्रशाखायें एक दूसरे से उलझी और मिली हुई होती हैं। केवल एक ऐसी शाखा होती है जिसमें कोई प्रशाखा नहीं रहती परन्तु अन्त के भाग पर इसमें भी शाखायें फूटी रहती हैं। इसी को स्नायु सूत्र कहते हैं। यह काफी लम्बी तथा खोल से ढकी होती है।

---

1. Central or Cerebro spinal system.
2. Voluntary. 3. Ganglia. 4. Protoplasm. 5. Nucleus.

द्वारा दिये गये आदेशों से अवयवों को अवगत कराना है। इनमें भी कुछ तार ऐसे होते हैं जिनकी प्रेरणा से पेशियाँ गतिमान होती हैं। इन तारों को चालक[1] स्नायु कहते हैं। बहुधा सभी स्नायुओं द्वारा संवेदन तथा चालक स्नायु का कार्य होता है। इनमें चालक तथा सांवेदनिक दोनों प्रकार के तार होते हैं। प्रेरणा ले जाने तथा मस्तिष्क द्वारा आदेश लाने की गति बड़ी ही तीव्र होती है। एक एक सैकेन्ड में लगभग १०० फीट की दूरी तै करती है। इस प्रकार इसकी गति रोशनी अथवा बिजली की गति से भी अधिक तीव्र होती है। यही कारण है कि मस्तिष्क तथा इन स्नायुओं द्वारा किये गये सूचना तथा आदेश और प्रेरणा का आदान-प्रदान इतनी शीघ्रता से हो जाता है।

मस्तिष्क की रचना :

स्नायु संस्थान का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मस्तिष्क है। इसकी समुचित सुरक्षा के लिए प्रकृति ने इस पर तीन आवरण चढ़ा दिये हैं। बाहरी आवरण को डूरामेटर[2] कहते हैं। यह अन्य दो झिल्लियों से अपेक्षाकृत मोटा और मजबूत होता है। इसके नीचे एक प्रकार का तरल पदार्थ होता है और उसके बाद दूसरी झिल्ली होती है। इसे आर्कनोइड[3] कहते हैं। यह पहिली झिल्ली से पतली और मुलायम होती है। इस दूसरे आवरण के नीचे भी एक प्रकार का तरल पदार्थ होता है। इन दो तरल पदार्थों के बीच में होने के कारण यह आवरण पानी की गद्दी का काम करता है और उछलते-कूदते समय मस्तिष्क को चोट या झटका लगने से बचाता है। तीसरी झिल्ली बहुत पतली और मुलायम होती है। इसे पियामेटर[4] कहते हैं। इसका मस्तिष्क से अलग करना कठिन है। यह मस्तिष्क के उभार और गड्ढों से भी चिपकी रहती है। केवल यही आवरण मस्तिष्क की सीमाओं में घुसता है। इसमें खून की छोटी-छोटी अनेक नलियाँ होती हैं जिनमें सदैव रक्त प्रवाहित होता रहता है। इन नलियों द्वारा मस्तिष्क को रक्त प्राप्त होता है। इन तीनों आवरणों के ऊपर खोपड़ी का हड्डीदार सख्त आवरण होता है। शरीर में मस्तिष्क जितना अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है, प्रकृति ने उतना ही उनकी सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया है। मस्तिष्क के

1. Motor. 2. Duramater. 3. Archnoid. 4. Piamater.

होते हैं। यही बुद्धि तथा ज्ञान का स्रोत अथवा केन्द्र है। विचार-शक्ति, संवेदना, प्रेरणा तथा स्मरण-शक्ति का सम्बन्ध बड़े मस्तिष्क से ही है। इसी के सहारे हम किसी बात को सोचते समझते तथा स्मरण रखते हैं। किसी वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में हम इसी का सहारा लेते हैं। प्रतिज्ञा, निश्चय तथा विचार करने की क्रियायें इसी पर आधारित हैं। इसी के द्वारा विभिन्न प्रकार के भावों की उत्पत्ति होती है। बड़े मस्तिष्क के कार्यों के सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने हेतु कुछ जानवरों और मनुष्यों पर प्रयोग किया जा चुका है तथा अब भी प्रयत्न किये जा रहे हैं। किये गये प्रयोगों का निष्कर्ष इस प्रकार है :

बड़े मस्तिष्क के नष्ट हो जाने पर भी मेढक सामान्यतः निष्क्रिय एवं निश्चेष्ट बैठा रह कर सांस ले सकता है। यदि उसे छेड़ा न जाय तो उसी भाँति तब तक बैठा रहेगा जब तक कि मर न जाय। यदि कोई खाद्य पदार्थ उसके मुँह में डाल दिया जाय तो वह उसे निगल जायगा। उसे स्वयं खाने की चेष्टा नहीं होती। पीठ के बल लेटा देने पर वह सीधा होकर बैठ जाता है। पानी में डाल देने पर वह तैरने लगता है; अर्थात् वह केवल उन्हीं क्रियाओं को कर सकता है जिनकी प्रेरणा उसे सुषुम्ना और सुषुम्नाषंक द्वारा प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि स्वेच्छानुसार सक्रिय होने के लिए बड़े मस्तिष्क का सहारा बड़ा ही आवश्यक है।

मनुष्य के सिर पर बड़ी चोट लगने पर उसका बड़े मस्तिष्क पर इस चोट का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। फलतः मनुष्य चेतनता खो बैठता है। यदि उसका उपचार भली-भाँति न हो पाया तो मूर्छा की स्थिति में ही वह प्राण तक खो बैठता है।

जिस मनुष्य का बड़ा मस्तिष्क जितना ही बड़ा होगा वह उतना ही अधिक बुद्धिमान होता है। कुछ लोगों का बड़ा मस्तिष्क जन्मकाल से ही छोटा होता है। वे प्रायः बोदे होते हैं और मूर्ख होते हैं।

जिस प्रकार शारीरिक विकास के लिए व्यायाम करना आवश्यक होता है उसी भाँति मानसिक विकास हेतु मस्तिष्क की भी कसरत करना आवश्यक है।

कार्य नहीं कर रहा है। ऐसे समस्त कार्य जिनमें संतुलन की आवश्यकता होती है उनका सम्बन्ध छोटे मस्तिष्क से होता है। कला तथा संगीत आदि विषयों की साधना में छोटे मस्तिष्क का ही उपयोग होता है। जोड़, पेशियाँ तथा गाठों से नलियों द्वारा संवेदनिक सूचनायें छोटे मस्तिष्क में आती हैं; और उनसे सम्बन्धित बालक प्रेरणायें भी छोटे मस्तिष्क द्वारा ही भेजी जाती हैं जिससे संतुलन को व्यवस्थित किया जाता है। छोटे मस्तिष्क में चोट लगने अथवा कोई खराबी आ जाने पर सिर में चक्कर आने लगता है तथा शरीर असंतुलित हो जाता है। छोटे मस्तिष्क में भी बड़े मस्तिष्क की भाँति दो भाग होते हैं। इसका बाँया भाग बड़े मस्तिष्क के दायें भाग का और दाहिनी भाग बड़े मस्तिष्क के बायें भाग का सहायक होता है। अतएव शरीर के बायें भाग की क्रियाओं एवं गतियों का छोटे मस्तिष्क के बायें भाग से और शरीर के दाहिने भाग की गतियों का सम्बन्ध छोटे मस्तिष्क के दाहिने भाग से होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छोटा मस्तिष्क भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य करता है और उसकी सुरक्षा पर सदैव ध्यान रखना आवश्यक है। अब हमें मस्तिष्क के तीसरे भाग जिसे सेतु कहते हैं, की रचना और कार्य पर संक्षेप में विचार करेंगे।

सेतु की रचना एवं कार्य :

छोटे मस्तिष्क के सामने पुल के मेहराव की भाँति मुड़े हुये भाग को सेतु कहते हैं। इसका रंग सफेद होता है। यह सुषुम्ना शीर्षक के ऊपर से निकल कर छोटे मस्तिष्क के दोनों भागों को आपस में मिलाये रहता है। बड़े मस्तिष्क के स्नायु-सूत्र इसीसे होकर जाते हैं तथा उसके बायें तथा दायें दोनों गोलार्द्धों के स्नायु एक दूसरे को यहीं पर पार करते हैं। बड़े मस्तिष्क के दाहिने भाग के स्नायु सूत्र सेतु के बाँये भाग से होते हुए शरीर के बायें भाग की पेशियों तक जाते हैं, और बायें गोलार्द्ध के स्नायु सूत्र के दाहिने भाग को पार करते हुए शरीर के दाहिने भाग की पेशियों में जाते हैं। यही कारण है कि बड़े मस्तिष्क के दाहिने गोलार्द्ध की खराबी का प्रभाव शरीर के दाहिने तथा बायें गोलार्द्ध की खराबी का प्रभाव शरीर के बाँयें भाग पर पड़ता है। यदि बड़े

सुषुम्ना के कार्य :

मस्तिष्क की भाँति सुषुम्ना में भी सफेद तथा भूरे रंग के दो पदार्थ होते हैं। इसका भूरे रंग का पदार्थ नीचे होता है और सफेद रंग के पदार्थ से पूर्ण रूपेण आच्छादित होता है। इसका सफेद पदार्थ स्नायु-सूत्रों से बनता है और भूरे रंग के पदार्थ में स्नायु-केन्द्र-स्थित होता है। ये स्नायु-सूत्र तथा स्नायु केन्द्र बड़े ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। सफेद पदार्थ द्वारा ही मस्तिष्क को सूचना प्राप्त होती है और मस्तिष्क द्वारा दी गई प्रेरणा से अंगों तक पहुँचती है। सुषुम्ना का भूरा पदार्थ न्यूरोन से बनता है। इस न्यूरोन का सम्बन्ध पेशियों की गति से होता है और इसमें सुषुम्ना की स्नायुओं की अगली जड़ वाले चालक तार गये रहते हैं। अतः चोट आदि लगने से यदि सुषुम्ना में कोई दोष उत्पन्न हो जाता है तो, स्नायु की अगली जड़ के तारों से संचालित होने वाले वे पेशियाँ जो दूषित स्थान के नीचे के अंगों में होगी, इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकेगी। उनको मनुष्य अपनी इच्छा तथा आवश्यकतानुसार नहीं संचालित कर पावेगा। ऐसी परिस्थिति में केवल सहज-क्रिया[1] हो पाती है। सहज-क्रिया के होने का कारण यह है कि उपर्युक्त परिस्थिति में सांवेदनिक तारों द्वारा आवश्यक प्रेरणा सुषुम्ना में पहुँचती है, और सुषुम्ना उसका प्रत्युत्तर चालक तारों द्वारा सम्बन्धित पेशी को पहुँचा देती है। फलतः पेशी सहज रूप में गतिमान हो जाती है। इस क्रिया का मस्तिष्क से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार की गति को सहज-क्रिया कहते हैं।

सहज-क्रिया का परिचय :

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि सहज-क्रिया अंग के उस गति को कहते हैं जो मस्तिष्क के अनजान में हो जाती है। यह बिना इच्छा के केवल सांवेदनिक स्नायु की उत्तेजना के कारण हो जाती है। यह क्रिया सुषुम्ना के आदेशानुसार होती है। हमारे दैनिक जीवन में यदि ध्यान दिया जाय तो सहज-क्रिया के बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं। जैसे धूल या तिनके को आँख की ओर आते देखकर पलकें तुरन्त बन्द हो जाती है। इसकी सूचना

1. Reflex action.

इस प्रकार इसकी आकृति माला जैसी होती है। इन गांठों में से बहुत सी शाखायें निकलती हैं। इनमें से कुछ शाखायें सुषुम्ना से निकली स्नायु की शाखाओं से जाकर मिल जाती है और कुछ शरीर के भीतरी अंगों, जैसे; दिल, आमाशय, तथा खून की नलियों आदि में जाती हैं। आंत, दिल, फेफड़े, आमाशय, पेशाब की थैली तथा पेट के अन्य भीतरी अंगों की स्वाधीन गतियाँ इसी संस्थान की प्रेरणा पर आधारित हैं।

रक्त-संचार, पाचन तथा श्वांस-क्रियायें किसी सीमा तक स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान के नियन्त्रण में रहती हैं और शरीर के भीतरी अंग इससे पूर्णतया प्रभावित होते हैं। खुशी, डर, शोक, तथा चिन्ता सदृश परिस्थितियों में स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान का दिल, आमाशय और फेफड़े पर विशेष प्रभाव पड़ता है। स्नायु-संस्थान द्वारा ही विभिन्न भावों के अनुसार मनुष्य के चेहरे का रंग परिवर्तित होता रहता है। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान के सूत्र खून की नालिकाओं के साथ चेहरे की दीवारों पर फैले रहते हैं, और परिस्थिति के अनुसार खून की नालिकाओं को प्रभावित करते रहते हैं। प्रायः भय के अवसर पर चेहरा पीला पड़ जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि भय के भाव से स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान के सूत्र, जो खून की नालिकाओं के साथ-साथ चेहरे की दीवार पर फैले रहते हैं, खून की नालिकाओं पर अपना प्रभाव डालते हैं। फलतः खून का वेग कम हो जाता है और चेहरा पीला पड़ जाता है। इसी प्रकार प्रसन्नता की स्थिति में खून की नालिकाओं पर स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान के सूत्रों का विपरीत प्रभाव पड़ता है और खून के तीव्र वेग के कारण चेहरा अधिक लाल और चमकीला हो जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान भावों का अनुसरण करता है और चेहरे का रंग स्नायु-संस्थान की क्रियाओं का।

गिल्टियों के आकार, प्रकार तथा कार्य :

स्नायु-संस्थान में शरीर की विभिन्न गिल्टियों के भी महत्त्वपूर्ण कार्य हैं और इनका विशेष स्थान है। ये मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं। प्रथम प्रणाली-युक्त और दूसरी प्रणाली-विहीन गिल्टियाँ कही जाती हैं। इन

१. चुल्लिका कण्ठमणि[1], २. उप चुल्लिका[2], ३. थाइमस[3] ४. पिनियल[4], ५. पीटियट्री[5], ६. उपवृक्क की गिल्टियाँ[6] ।

इनके अतिरिक्त यद्यपि कि क्लोम नामक गिल्टी से एक नलिका निकल कर उसका रस पाकाशय तक पहुँचाती है फिर भी उसकी भी गणना प्रणाली-विहीन गिल्टियों में की जा सकती है, क्योंकि क्लोम का महत्वपूर्ण भीतरी रस सीधे खून में पहुँच जाता है ।

चुल्लिका कण्ठमणि :

यह गिल्टी अपने रस में से समस्त शरीर को प्रभावित करती है । इसके रस से शरीर पुष्ट और बलवान होता है । शरीर तथा मस्तिष्क के विकास के लिए इस गिल्टी का रस बड़ा ही उपयोगी है । यदि किसी कारण वश बचपन से ही इसका पर्याप्त रस शरीर में नहीं पहुँचता तो बालक अस्वस्थ, कमजोर और मंद बुद्धि हो जाता है । क्रोध अथवा भय के समय यह अपना कार्य करना बन्द कर देती है । फलत: मनुष्य उस समय अस्वस्थ हो जाता है । इसके विपरीत हर्ष और प्रसन्नता के अवसर पर यह गिल्टी अधिक कार्य करती है । जिससे रस की उत्पत्ति अधिक मात्रा में होती है और शरीर स्वस्थ होता है ।

उप चुल्लिका गिल्टी :

इसका आकार मटर की भाँति होता है और इसकी दो गिल्टियाँ चुल्लिका के दाहिने तथा दो बायें खण्ड के पिछले किनारे से लगती हुई होती है । इन गिल्टियों की अनुपस्थिति में अथवा इनके विकासयुक्त होने पर टेटनी का रोग हो जाता है ।

थाइमस गिल्टी का आकार तथा कार्य :

इस गिल्टी की लम्बाई लगभग ढाई इंच और चौड़ाई एक इंच होती है । यह छाती की हड्डी के पीछे गर्दन के निचले भाग में स्थित होती है । इसका रंग गुलाबी लिये हुए भरा होता है । इसके सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए अभी अनुसंधान किए जा रहे हैं । इसमें किसी प्रकार की खराबी आ जाने

---

1. Thyroid. 2. Para-Thyroid. 3. Thymus. 4. Pineal 5. Pitutary. 6. Supraenal bodies.

इनका रंग पीला होता है। इनसे निकला हुआ रस खतरे आदि के समय शरीर के अंग प्रत्यंग से चौकन्ना करता है। खतरा उपस्थित होने के समय स्नायु प्रणाली के प्रेरणा से अपने रस को रक्त संचार में डाल देती है। खून के साथ-साथ जैसे-जैसे यह रस शरीर के विभिन्न अंगों में पहुँचता है वे अंग सतर्क और चौकन्ने होते जाते हैं। इसके प्रभाव से दिल तीव्र गति से धड़कने लगता है। पसीना निकल आता है। पाचन-क्रिया मन्द हो जाती है। जिगर की शक्कर बाहर निकलकर पेशियों में गर्मी और फुर्ती का संचार करती है। रोयें खड़े हो जाते हैं। आँखें बड़ी हो जाती हैं। पुतलियाँ फैल जाती हैं और आदमी डरावना मालूम होने लगता है। इस प्रकार इन गिल्टियों का कार्य मनुष्य को संकट का सामना करने के योग्य बनाना और खतरे से सतर्क करना है।

स्नायु संस्थान के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि शरीर के विभिन्न अंगों का उनके द्वारा होने वाले कार्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

सारांश

शरीर के प्रत्येक अंग स्नायु-संस्थान द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके गतिमान होते हैं। शरीर इसका शासन क्षेत्र होता है। शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा की गई क्रियाओं का आधार स्नायु तार और संस्थान ही है।

स्नायु संस्थान के प्रकार और रचना :

ये एक ही संस्थान द्वारा निर्मित दो प्रकार के होते हैं। प्रथम को मध्यस्थ स्नायु संस्थान तथा दूसरे को स्वतन्त्र स्नायु संस्थान कहते हैं। प्रथम स्नायु संस्थान दो मध्यस्थ वाले संस्थान अथवा मेरुदण्डात्मक संस्थान भी कहते हैं। मस्तिष्क, सुषुम्ना तथा इनसे निकलकर शरीर के अनुभवशील अंगों, इच्छाहीन पेशियाँ एवं त्वचा में फैलने वाले तार मध्यस्थ स्नायु संस्थान के ही भाग हैं। उक्त दोनों संस्थान एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। दोनों संस्थान स्नायु सेलों तथा स्नायु सूत्रों से बनते हैं।

मस्तिष्क की रचना :

मस्तिष्क पर उसकी सुरक्षा के लिए खोपड़ी के अतिरिक्त क्रमशः झिल्लियाँ होती हैं। मस्तिष्क के निम्नलिखित चार भाग हैं:–१. बड़ा मस्तिष्क, २. छोटा

स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान :

मेरुदन्ड के सामने उसके दोनों ओर पड़ी हुई डोरियों को स्वतन्त्र स्नायु-संस्थान कहते हैं। इसमें पिंगल रंग की गाठें होती हैं। इस प्रकार इसका आकार माला जैसा हो जाता है। इसी से इसके इस भागको पिंगल नाड़ी मंडल करते हैं।

गिल्टियाँ :

ये मुख्यत: दो प्रकार की होती हैं। प्रथम प्रणाली युक्त तथा द्वितीय प्रणाली विहीन। ये शरीर की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न रसों की उत्पत्ति करके अंगों को पुष्ट बनाती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. स्नायु संस्थान का मनोवैज्ञानिक से क्या सम्बन्ध है ?
२. मस्तिष्क की रचना, कार्य तथा उसके महत्त्व पर प्रकाश डालिए ?.
३. सुषुम्ना का मस्तिष्क से क्या सम्बन्ध है ?
४. मध्यस्थ स्नायु-संस्थान तथा स्वतन्त्र स्नायु संस्थान में क्या भेद है ?
५. शरीर की गिल्टियों का वर्णन कीजिए।
६. स्नायु-संस्थान से परिचित होना उचित शिक्षा व्यवस्था में किस सीमा तक लाभप्रद है ?

शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकृति का विशेष महत्व है। बालक में आत्म-विश्वास तथा साहस का प्रादुर्भाव इसके द्वारा ही सम्भव है। शिक्षक को यह बतलाना है कि बालक को किन वस्तुओं से वास्तव में बचना है और किन का सामना करना है। परन्तु दण्ड का भय देकर बालक को क्रियाशील करना न केवल अमनोवैज्ञानिक है, परन्तु हानिकर भी है। यह व्यवहार उसके विकास में बाधक सिद्ध होगा।

३. युयुत्सा

मूल प्रवृत्यात्मक क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होने से युयुत्सा जागृत होती है। इस प्रवृत्ति से सम्बन्धित संवेग 'क्रोध' है। यदि प्राणी के कार्य में बाधा उत्पन्न होती है तो उसमें क्रोध उत्पन्न होता है और फिर वह लड़ने को तैयार हो जाता है। इसका ज्ञानात्मक रूप यह है कि यह बाधा पर विजय प्राप्त करने के हेतु ही जागृत होती है।

युयुत्सा के शोधन के ज्वलंत उदाहरण इतिहास में अंकित है। अधर्म; 'हिंसा' अन्याय की चीख सुनकर महा-पुरुषों ने संघर्ष किया है। ये सब युयुत्सा के ही उदाहरण हैं।

माता पिता तथा शिक्षक का ध्यान बालक की इस प्रवृत्ति की ओर विशेष रहना चाहिए क्योंकि इस का शोधन इतना सरल नहीं जितना इसका बिगड़ जाना।

४. आत्म गौरव

इसका संवेगात्मक अंग आत्माभिमान है। क्रियात्मक अंग किसी प्रकार आत्म-शक्ति का प्रदर्शन है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में हमारे प्रत्येक कार्य में आत्मप्रदर्शन का भाव छिपा रहता है। प्रथम आने के हेतु प्रयत्न करना, नई वस्तु खरीद कर सबको दिखना, नवीन तथा मूल्यवान वस्तु अपना कर दूसरों पर प्रभाव डालना आदि आत्म-गौरव के ही विभिन्न रूप हैं।

बालकों की इस प्रवृत्ति का सदुपयोग करना बड़ा ही आवश्यक है। यदि इस ओर ध्यान न दिया गया तो उसी आत्मगौरव का प्रदर्शन होगा जो आज-कल कुछ छात्रों में बहुधा पाई जाती है, जैसे—रंगीन तथा मूल्यवान कपड़े

आदि की ओर ध्यान आकर्षित हो जाने से कितने ही मनुष्य अमर हो गये। यद्यपि मार्ग कठिन है, पर कठोर कर्म ही उज्जवल भविष्य के आधार हैं।

६—जिज्ञासा

इस प्रवृत्ति का संवेगात्मक अंग आश्चर्य है। लगभग प्रत्येक चेतन प्राणी में यह जिज्ञासा विद्यमान रहती है। बालक जब अपने वातावरण से परिचित होने का प्रयत्न करता है तो वास्तव में वह जिज्ञासा का प्रकाशन ही है। अत: इस प्रवृत्ति का उदय चेतनता से प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बालक की जिज्ञासा उतनी ही स्वाभाविक है जितनी उसकी भूख या प्यास और इसको दबाने का प्रयत्न करना अत्यन्त अमनोवैज्ञानिक है। इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि जिज्ञासा ही ज्ञान का श्रोत है। यदि बालक अपने माता-पिता तथा अध्यापक से प्रश्न नहीं पूछेगा तो उसे ज्ञान किस प्रकार होगा? दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बालकों की शिक्षा की व्यवस्था उनकी जिज्ञासा-प्रकृति के अनुसार ही करनी चाहिए।

जिज्ञासा के अवदमन के अनेक दुष्परिणाम हो सकते हैं। यदि बालक की जिज्ञासा की ओर ध्यान न दिया गया तो वह न केवल 'कूप मंडूक' ही होगा परन्तु उसमें यह प्रकृति ही दब जायेगी और इस प्रकार मानसिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण श्रोत ही समाप्त हो जायेगा। दुःख की बात है कि भारतीय समाज में नारियों की जिज्ञासा एक अवगुण समझी जाती है और इसका परिणाम यह होता है कि अवसर पाते ही वह अपनी जिज्ञासा सन्तुष्ट कर लेती है। प्रश्न यह है कि जिज्ञासा समाप्त ही क्यों की जाये? यदि प्रश्न का उत्तर मिल जाने से वह शान्त हो जाये तो सिद्धान्त पर न चलकर मनोवैज्ञानिक पथ को ही अपनाना चाहिए।

अधिकतर जिज्ञासा का आधार नवीन वस्तु या बात ही होती है। अतः शिक्षक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पाठ्यक्रम में नीरसता के स्थान पर अधिक से अधिक नवीनता का प्रबन्ध हो। तभी वह सफलता पूर्वक मनोवैज्ञानिक ढंग से अपने विषय को पढ़ाने में सफल होगा। शिक्षण-पद्धति इस प्रकार की हो कि बालक को अधिक से अधिक यह अवसर मिले कि वह अपने

८—संग्रह प्रवृत्ति

इस प्रवृत्ति का संवेगात्मक अंग 'अधिकार भावना है'। प्रारम्भ ही से बालक न केवल सुन्दर वस्तु ही की ओर आकर्षित होता है, वरन् वह विभिन्न प्रकार की वस्तुयें एकत्रित किया करता है। उनकी जेब में छोटे-छोटे शीशों के टुकड़े, गोलियाँ तथा कंकड़ आदि भरे रहते हैं और इस सब वस्तुओं से उसका उतना ही मोह होता है जितना शाहजहाँ को अपने ताजमहल से था। यही है बचपन का सौन्दर्य।

यह संग्रह-प्रवृत्ति ही प्रौढ़ावस्था में अधिकार से प्रेरित हो मनुष्य को विभिन्न वस्तुओं के इकट्ठा करने में बाध्य करती है। यदि प्रारम्भ ही से बालक का ध्यान अच्छी-अच्छी वस्तुओं के संग्रह की ओर लगाया गया है तो निश्चय ही वह बड़ा होकर भी केवल उपयोगी वस्तुओं का ही संग्रह करेगा। शिक्षक को चाहिये कि इस प्रवृत्ति का सदुपयोग करे और छात्रों को प्राचीन पुस्तकें, सिक्के तथा टिकट, कला की वस्तुयें आदि एकत्रित करने के लिये उत्साहित करता रहे।

सारांश

१. पुत्र कामना :

संवेग वात्सल्य रस। प्रौढ़ावस्था में पूर्ण विकास महान पुरुषों का बलिदान, सेवा तथा स्नेह पुत्र कामना का शोधित रूप, सभ्यता की नींव, पुत्र कामना पर आधारित।

२. पलायन :

संवेगात्मक अंग भय, प्राण सत्ता हेतु भाग जाने की प्रवृत्ति ही पलायन, उचित ध्यान न देने का परिणाम हीनता, शोधन पाप तथा अधर्म से भय करने की भावना, दण्ड एक अमोवैज्ञानिक साधना।

३. युयुत्सा :

संवेग क्रोध। अनियन्त्रण से व्यक्ति का नाश, शोधन से सफलता के हेतु प्रयत्न करना, असत्य अधर्म तथा अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करना।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. शिक्षा के क्षेत्र में जिज्ञासा तथा रचना प्रवृत्ति का किस प्रकार सदुपयोग किया जा सकता है ?

२. 'काम मूल प्रवृत्ति अन्य सभी प्रवृत्तियों से महत्त्वपूर्ण है' सिद्ध कीजिए। इसका शोधन किस प्रकार सम्भव है ?

३. 'संग्रह वृत्ति के फलस्वरूप प्राचीन सभ्यता के स्मृति-चिन्ह शेष हैं' विषय पर निबन्ध लिखिए।

४. पलायन का शिक्षा के क्षेत्र में क्या महत्व है ?

विश्वास महानता की कुंजी है। जिस मनुष्य में आत्म-निर्देश ही नहीं वह कभी कुछ कर ही नहीं सकता। वह तो केवल अन्य पुरुषों की उगलियों पर ही नाचता रहेगा। सफलता की आशा उससे की जा सकती है जिसे विश्वास है कि वह किसी से कम नहीं, और जिसे अपने उज्जवल भविष्य की आशा है। परन्तु आत्मनिर्देशन सीमा के भीतर ही सफलता दे सकता है। प्रारम्भ ही से विश्वास के कारण अधिकतर बालक गलत उद्देश्य या लक्ष्य बना लेते हैं और उसे ही पाने की चेष्टा करते हैं। अध्यापकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए कि बालक आत्मनिर्देश का केवल सदुपयोग ही करें।

२. आप्त-निर्देश का महत्व :

इसका आधार प्रतिष्ठा है। शिक्षक कक्षा में प्रतिष्ठित है और उस वातावरण में अपने शब्दों द्वारा तथा चरित्र व व्यक्तित्व द्वारा वह बालक में उन शक्तियों का संचार कर सकता है जो बालक के जीवन को सार्थक बना दे। इसकी अधिकता पर ध्यान देते हुए शिक्षक को अपनी इस शक्ति का उपयोग करना चाहिए। यह आप्त-निर्देश का ही परिणाम है कि बालकों को अपने शिक्षक के प्रति अटूट विश्वास तथा श्रद्धा होती है।

३. समूह-निर्देश का महत्व :

प्रत्येक व्यक्ति का यह स्वभाव होता है कि समूह के साथ वह भली-भाँति प्रभावित हो जाता है। बड़े-बड़े भाषण वक्ता इसको भली भाँति समझते हैं। वे यह भी जानते हैं कि किस समय कौन विषय समूह को अधिक रुचिकर होगा। व्यक्ति अपना व्यक्तित्व समूह में मिला देता है और उस समय उसमें तथा समूह में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। शिक्षा के क्षेत्र में समूह-निर्देश का उपयोग बालकों में नैतिक भाव भरने के लिए किया जा सकता है। गोष्ठियों तथा कक्षा आदि में बालक समूह निर्देश से लाभ उठा सकता है।

४. विरुद्ध-निर्देश का महत्व :

निर्देशित विचार के विरुद्ध कार्य करना ही विरुद्ध-निर्देश है। अधिकतर बालकों को जो आदेश मिलता है उसके ठीक विपरीत ही वे करते हैं। शिक्षक आदेश देता है 'बैठ जाओ' पर वह खड़ा रहता है। इस प्रकार की अनेक घट-

दूसरों में अपनी रुचि रख सकते हैं। बिना सहानुभूति के सामूहिक जीवन सम्भव न होगा।

शिक्षा के क्षेत्र में सहानुभूति

शिक्षा में सहानुभूति का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। बालक का भविष्य शिक्षक के हाथ में हैं, यदि वह उसे पूर्ण मनुष्य बनाने में सफल हुआ तो उसका उद्देश्य पूरा हो गया। सहानुभूति के द्वारा बालक को नैतिकता का पाठ पढ़ाया जा सकता है। सहानुभूति समानता का ज्ञान कराती है। एक विशेष परिस्थिति में अध्यापक स्वयं सहानुभूति का प्रदर्शन करके उदाहरण और आदर्श उपस्थित कर सकता है। पाठ्य पुस्तक पढ़ाते समय भी शिक्षक इस प्रवृत्ति का प्रोत्साहन प्रदान कर सकता है।

अनुकरण[1]

ऊपर हम निर्देश तथा सहानुभूति पर प्रकाश डाल चुके हैं। वास्तव में निर्देश तथा सहानुभूति भी एक प्रकार के अनुकरण ही हैं। निर्देश से हम अन-जान में दूसरों का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं; जब कि सहानुभूति से हम दूसरों के भावों का अनुकरण करते हैं। अनुकरण से हम दूसरों की क्रियाओं का अनुकरण करते हैं। यह प्रवृत्ति पशु तथा पक्षियों में भी पाई जाती है। पशुओं में बन्दर तथा पक्षियों में तोता, अनुकरण के लिए प्रसिद्ध है।

अनुकरण का महत्त्व :

शैशवकाल ही से अनुकरण प्रारम्भ हो जाता है। यह ज्ञात तथा अज्ञात रूप से चलता रहता है। कोई भी कार्य बिना अनुकरण के सम्भव नहीं। नर्तकी के नृत्य को देखकर हम इतने मुग्ध हो उठते हैं कि थोड़ी देर के लिए तुरन्त कह देते हैं "वास्तव में नृत्य कला चरम सीमा पर पहुँच गई" पर उस समय भूल जाते हैं कि नर्तकी ने हर भाव, हर-क्रिया को वर्षों के अनुकरण के द्वारा सीख कर वह इस सीमा तक पहुंच गई कि अनुकरण तथा मौलिकता में अन्तर तक नहीं प्रतीत होता। यह प्रत्येक क्षेत्र में है। अनुकरण ही आधार बनकर मौलिकता को जन्म देता है।

1. Imitation.

खेल में स्वतन्त्रता का आभास होता है और बालक को इससे अधिक कोई वस्तु पसन्द नहीं। वह हर कार्य को स्वतन्त्र होकर करना चाहता है। खेल-प्रणाली में रुचि के साथ-साथ स्वतन्त्रता को प्रधानता दी जाती है। इस प्रकार न बालक केवल सीख ही जाता है, वरन् उसका मानसिक तथा शारीरिक विकास होता रहता है। यही तो शिक्षा का उद्देश्य है। खेल का एक सबसे बड़ा लाभ यह है कि उस अमनोरंजक विषय में भी मनोरंजन का पटु दे देता है। किण्डरगार्टन, मॉन्तेसरी; प्रॉजेक्ट तथा डाल्टन आदि शिक्षा पद्धतियों ने इस सत्य को भली-भाँति समझ लिया है। विषय में नवीन आकर्षण लाने के लिए खेल आवश्यक है। इन पद्धतियों पर आधारित विद्यालय बालक के लिए 'भय' का घर न होकर मनोरंजन तथा रुचि का स्थान बन जायेगा।

आदत[1]

आदत और मूलप्रवृत्ति में भेद :

जेम्स का विश्वास है कि आदत मनुष्य का दूसरा स्वभाव है। आदत तथा मूलप्रवृत्ति में मौलिक अन्तर यह है कि आदत अर्जित और मूलप्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। यद्यपि दोनों की ही प्रेरणा से मनुष्य अनेकों कार्य करता है परन्तु मूलप्रवृत्ति क्रियात्मक प्रवृत्ति न देकर क्रिया विशेष का मार्ग देती है। मूलप्रवृत्ति का सम्बन्ध है वंशानुक्रम से, परन्तु आदत व्यक्तिगत जीवन के अभ्यास के फलस्वरूप होती है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि आदत का आधार मूलप्रवृत्ति ही होती है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि आदत से हमें कार्य करने की प्रेरणा नहीं मिलती। समय के साथ, मूलप्रवृत्ति के समान आदत भी मानसिक संस्कार का अंग हो जाती है और व्यक्ति की क्रियाओं पर प्रभाव डाला करती है।

आदत का स्वभाव समझने के लिए निम्नलिखित चार गुणों पर ध्यान देना होगा जो लगभग प्रत्येक आदत में होते हैं।

१. एकरूपता

२. सुगमता

1. Habit.

परन्तु उनके हवाई महल की कभी नींव नहीं पड़ती। यह कार्यशीलता के अभाव का उदाहरण है। शिक्षक स्वयं उदाहरण उपस्थित करके अधिक प्रोत्साहन दे सकता है।

३. संलग्नता और अभ्यास : केवल आदत डालने ही से कार्य नहीं चलता। यह भी आवश्यक है कि संलग्न होकर नित्य उसका अभ्यास करता रहे। लोगों को कहते सुना गया 'अरे आप क्या गाते हैं, कोई जमाना था जब हम भी गवय्ये थे।' वे श्रीमान् अब गवय्ये या संगीतज्ञ इसलिए नहीं, क्योंकि उनकी आदत छूट चुकी है। अतः आदत पड़ने पर नित्य अभ्यास आवश्यक है।

आदत के लिए जितनी संलग्नता आवश्यक है उतना ही अभ्यास। यदि निरन्तर अभ्यास न किया गया तो कुशल से कुशल कलाकार भी अपनी कला की दक्षता खो बैठेगा। जहाँ तक आदतों के भेद का प्रयत्न है यह केवल दो ही प्रकार की होती हैं, अच्छी या बुरी। अच्छी आदत वह है जो हमें सदमार्ग पर ले चले, इसके विपरीत बुरी आदत वह है जो कुमार्ग पर चलने को बाध्य करे। कहने की आवश्यकता नहीं कि अध्यापक को केवल अच्छी ही आदतों के बीज बोने का प्रयत्न करना चाहिए। अच्छी आदतें नैतिक चरित्र के आधार हैं।

सारांश

दूसरों के विचारों से वशीभूत होना—निर्देश। मानसिक रोगों को दूर करने का एक अच्छा साधन।

आत्म निर्देश : साधना का फल, सफलता की कुंजी, बालकों में इसके संचार की आवश्यकता।

आप्त निर्देश : प्रतिष्ठा पर आधारित, अधिक निर्देश अमनोवैज्ञानिक, ठीक अवसर पर प्रशंसा आवश्यक, शिक्षक को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

समूह निर्देश : नैतिक उन्नति में सहायक, अनेक आदतों का आधार समूह निर्देश समूह के विचारों का अधिक प्रभाव होना।

विरुद्ध निर्देश: अभावात्मक आदेश हानिकर, उचित उदाहरण ही उपयोगी, शिक्षक को अपने चरित्र की ओर ध्यान देना चाहिए।

विशेषतायें ! १. एक रूपता २. सुगमता ३. रोचकता ४. ध्यान स्वातन्त्र्य
आदत डालने के चार मुख्य नियम :

१. कार्य शीलता, २. संकल्प की दृढ़ता, ३. संलग्नता, ४. अभ्यास अच्छी तथा बुरी आदत का सदैव ध्यान रखना शिक्षक के लिए आवश्यक ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. निर्देश का शिक्षा क्षेत्र में क्या महत्त्व है ?
२. अनुकरण कितने प्रकार का होता है ? सिद्ध कीजिए कि निर्देश भी एक प्रकार का अनुकरण ही है ?
३. 'खेल बालक के लिए उतना ही आवश्यक है जितना भोजन' इस इस कथन की पुष्टि करते हुए इसका महत्त्व शिक्षा-क्षेत्र में क्या है ? समझाइए ।
४. समझाकर लिखिए "अच्छी आदतें नैतिक चरित्र का आधार हैं ।"

की क्षमता स्थायीभाव के द्वारा मूलप्रवृत्तियों पर शासन के लिए प्रयोग की जा सकती है। सभी महान् कार्य स्थायीभाव की प्रेरणा से होते हैं।

स्थायीभाव तथा आदत में भेद

आदत का क्षेत्र सीमित है जब कि स्थायीभाव का क्षेत्र सीमित नहीं। आदत एक यान्त्रिक क्रिया है और विशेष परिस्थिति में ही सम्भव होती है। स्थायीभाव कुछ संवेग और विचारों पर निर्भर रहता है। समानता यह है कि दोनों ही अर्जित गुण हैं। दोनों की अतृप्ति दुःखमय होती है और दोनों के द्वारा कोई व्यक्ति किसी निश्चित आचरण के लिए प्रेरित हो सकता है।

स्थायीभाव की उत्पत्ति

जैसे जैसे मनुष्य शैशव से प्रौढ़ावस्था की ओर प्रगति करता है, वह वातावरण से अधिक परिचित होता जाता है और अपनी रुचि के अनुसार मूलप्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करके नवीन अनुभव प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार नवीन विचारों का जन्म होता है। ये विचार ही आगे चल कर स्थायीभाव का रूप धारण कर लेते हैं।

स्थायीभाव की उत्पत्ति क्रिया के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं (१) वस्तु, विचार तथा घटना को ठीक तरह समझना, तथा (२) उनके प्रति संवेगों की उत्पत्ति और इन संवेगों का सुसंगठित होना। किसी वस्तु के निरन्तर प्रयोग से पूर्ण परिचय के फलस्वरूप विचार उत्पन्न हो जाते हैं और इस प्रकार उस वस्तु के प्रति स्थायीभाव बन जाता है। जैसे-जैसे वातावरण के प्रति परिचय बढ़ता जाता है स्थायीभावों का भी क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। शैण्ड के अनुसार किसी वस्तु की ओर केन्द्रित सुसंगठित संवेग स्थायी भाव है। मैग्डूगल का मत है कि अनुभव के आधार पर किसी वस्तु की ओर केन्द्रित हमारी स्थायी क्रियात्मक मनोवृत्ति स्थायी भाव है।

यह न भूलना चाहिये कि उच्च कोटि के स्थायी भाव प्रौढ़ावस्था में ही आते हैं और वह भी विचारशील मनुष्य के जीवन में। न्याय-प्रियता, आदर्श प्राप्त करने की लालसा तथा धर्म आदि के प्रति प्रेम जो महान् चरित्र के आधार हैं, केवल अनुभव के पश्चात् ही प्राप्त होते है।

वातावरण में रहकर मनुष्य विवेचना के द्वारा अपने आत्म को समझने का प्रयत्न करता है। यह ज्ञान अनुभव की सहायता से धीरे-धीरे दृढ़ होता जाता है, और एक स्थिति पर पहुँचने तक वह इस आत्म के स्वभाव से पूर्णतया परिचित हो जाता है। विलयम जेम्स के अनुसार आत्म के प्रमुख भाग दो हैं (१) ज्ञाता और (२) ज्ञात हुआ । समाज में रहकर मनुष्य अपने आत्म को पहचान पाता है। दूसरे की प्रशंसा से वह अपने गुणों का आभास करता है, तथा निन्दा से अवगुणों का। इस प्रकार दूसरों की धारणा के अनुसार वह अपने आत्म को समझता है। यही कारण है कि बालक को प्रशंसा भी चाहिये और साथ ही उसके अवगुणों का भी ज्ञान इस प्रकार होता रहे कि उसे धक्का न लगे। उत्साह तथा आशा के सहारे बालक महान् पुरुष बन सकता है और यह तभी सम्भव है जब उसे अपनी बुराइयों तथा गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान हो ।

विवेक की सहायता से विचारशील मनुष्य कर्मक्षेत्र में परीक्षा देकर अपना आदर्श बना लेता है और उसे वह अपनाने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। यह न भूलना चाहिये कि आत्म-गौरव का स्थायीभाव सर्वप्रिय है। यह स्थायी-भाव इतना महत्वपूर्ण होता है कि मैग्डूगल ने इसको सभी स्थायी भावों का स्वामी[1] कहा है। इसी की सहायता से मनुष्य अपने जीवन-पथ को अपनाता है और इससे प्रेम करता है ।

शिक्षा के क्षेत्र में स्थायीभाव

संसार में कोई भी दो मनुष्य एक समान नहीं। एक ही वातावरण में पलकर भी उनमें अन्तर होता है। अतः उनके स्थायीभाव में भी भेद रहता है। किसी का कोई आदर्श होता है और किसी का कोई सिद्धान्त। कोई इसमें विश्वास करता है कि अधिक से अधिक भोग-विलास करना चाहिये तो कोई यह मानता है कि विलासता से दूर चरित्र निर्माण तथा भगवान् के ध्यान की ओर जीवन नौका मोड़ना चाहिये। प्रश्न यह है कि किस प्रकार उचित आदर्शों का जन्म हो ? यह शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। शिक्षा आदर्श का महल बनाने में पहली ईंट है और शिक्षक प्रथम कारीगर। सारे महल की

1. Master.

रहता है। यदि उसे इन भावना-ग्रन्थियों का ज्ञान ही हो जाये तो यह समाप्त हो जाये। यह दशा तो वैसी ही है जैसे कि एक नशाखोर की होती है। नशा में चूर व्यक्ति यही कहता रहता है कि 'यह मत समझना कि मैं नशे में हूँ'। मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि भावना-ग्रन्थियों की उत्पत्ति काम-प्रवृत्ति-सम्बन्धी प्रतिरुद्ध इच्छाओं के कारण ही होती है।

भावना-ग्रन्थियों की विभिन्न बुराइयों को ध्यान में रखते हुए अध्यापक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने व्यवहार, स्वभाव, विचार तथा भावनाओं को सारे उन अवगुणों से स्वतन्त्र करलें जिनसे भावना-ग्रन्थियों का जन्म हो सकता है। कभी-कभी कुछ अध्यापक बड़ा ही अमानुषिक व्यवहार का प्रदर्शन करते हैं। समय-समय पर वे गालियाँ तथा मार-पीट आदि प्रयोग करते रहते हैं। अपने लिये तो वह क्रोध का संवेग प्रकट कर रहे हैं। पर बालक को मस्तिष्क में वे उन भावना-ग्रन्थियों के बीज बो रहे हैं जो जीवन भर उसके साथ रहेंगी। प्रशंसा, प्रोत्साहन तथा उत्साह द्वारा भावना-ग्रन्थियों के स्थान पर आत्म-विश्वास की नींव चरित्र में डालने का नाम ही शिक्षा है।

विभिन्न प्रकार की भावना-ग्रन्थियाँ

आत्मगौरव-सम्बन्धी भावनाग्रन्थि :

दुर्भाग्यवश कभी-कभी मनुष्य अपने आपको सीमा से अधिक मान बैठता है। थोड़ी सी प्रशंसा को वह बहुत समझ बैठता है। वास्तव में इस प्रकार की भावना प्रारम्भ में ही पड़ जाती है और अधिक लाड़-प्यार का यही परिणाम होता है। ऐसा व्यक्ति अपनी आलोचना सहन नहीं कर सकता। उसमें यह क्षमता ही नहीं कि सत्य की तुला पर वह अपने गुणों तथा अवगुणों का भार निकाल सके।

हीनता-सम्बन्धी भावना-ग्रन्थि :

यह भावना-ग्रन्थि आत्मगौरव के विपरीत हीनता के भाव को जन्म देती है। व्यक्ति या बालक यह समझ लेता है कि वह संसार में कुछ कर ही नहीं सकता। उसमें केवल अवगुण ही भरे हैं, वही सारी मुसीबतों का कारण है आदि आदि। परिणाम यह होता है कि हीनता के कारण आत्म-विश्वास जो

है कि आदेशों की सीमा लाँघ कर वह न केवल अनुशासन की जड़ काट रहा है, वरन् बालक को क्रांतिकारी स्वभाव का वरदान प्रदान कर रहा है। मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस प्रभुत्व के शिकार बालक क्रांतिकारी, डाकू तथा चोर बनकर दबी हुई क्रान्ति विस्फोट करते हैं। अतः दूसरे की भावना का उचित ध्यान रखकर ही प्रभुत्व स्पष्ट करना चाहिये।

भावना-ग्रन्थियों का सुधार

भावना-ग्रन्थियों की उत्पत्ति एक ऐसा मानसिक रोग है जिसका उपचार केवल मनोविश्लेषक ही कर सकता है। जब तक अचेतन मस्तिष्क का पूरा हाल मालूम नहीं हो जाता, तब तक इनका सुलझना कठिन ही है। पर साधारण तौर पर दैनिक जीवन में नित्य यह ध्यान रखना चाहिये कि आत्म-प्रकाशन को निरन्तर अवसर मिलता रहे। आत्महीनता से बचकर आत्मविश्वास की ओर कदम रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रकार की शंका न रखनी चाहिये। स्पष्ट कह देना बहुत उपयोगी है।

सारांश

मानसिक वृत्ति का स्थायी स्वभाव ही स्थायीभाव, वातावरण के सम्पर्क में आने के कारण, रुचि के अनुसार इनकी उत्पत्ति।

संवेग, भाव तथा उमंग आदि से अन्तर : संवेग क्षणिक मानसिक अनुभव, संवेग अस्थिर, स्थानीय भाव स्थिर, संवेग जनित स्थायी मानसिक वृत्ति। स्थायीभाव से अनेक संवेगों की उत्पत्ति सम्भव।

मूलप्रवृत्ति तथा स्थायीभाव में भेद : मूलप्रवृत्तियों के शोधन का परिणाम स्थायीभाव। उत्तेजना के लिये किसी वस्तु की उपस्थिति आवश्यक नहीं।

मूलप्रवृत्ति द्वारा उत्साहित कार्य आवेशपूर्ण, परन्तु स्थायीभाव द्वारा प्रेरित कार्य समझकर।

आदत तथा स्थायीभाव में भेद : स्थायीभाव का क्षेत्र सीमित नहीं, आदत द्वारा प्रेरित क्रिया यान्त्रिक, परन्तु दोनों अर्जित, दोनों की अतृप्ति से दुख।

इसके प्रति इच्छा स्वाभाविक, माता-पिता तथा शिक्षकों को स्पष्ट विचार रखने की आवश्यकता।

प्रभुत्व-सम्बन्धी : अधिक आदेशों का फल, क्रान्तिकारी भावनाओं का जागृत होना, स्वाभाविक ग्रन्थि का समाधान आवश्यक। आदेश या नियन्त्रण के पूर्व दूसरे की भावनाओं का समुचित सम्मान।

ग्रन्थियों का सुधार : केवल मनोविश्लेषकों का ही कार्य, कारण जानना आवश्यक, आत्म प्रकाशन नितान्त आवश्यक।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. शिक्षा के क्षेत्र में स्थायीभाव का क्या महत्त्व है ?
२. स्थायीभाव की उत्पत्ति पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिए।
३. 'भावना-ग्रन्थियाँ विकृत स्थायीभाव हैं' इस कथन की पुष्टि कीजिए।
४. समझाकर लिखिए-'शिक्षा का प्रधान उद्देश्य है आत्म-गौरव के स्थायीभाव को प्रोत्साहन देना।'

का ही सुसंगठित फल है । व्यक्तित्व के विकास में मूलप्रवृत्तियों के साथ-साथ शिक्षा द्वारा विभिन्न अर्जित व्यवहारों का भी प्रभाव पड़ता है । अतः व्यक्तित्व में केवल व्यक्ति का ही व्यवहार नहीं आता वरन् दूसरे व्यक्तियों की उस व्यवहार-सम्बन्धी प्रतिक्रिया का सम्बन्ध भी रहता है; अर्थात् व्यक्तित्व दूसरे के समझने का दृष्टिकोण है ।

व्यक्तित्व के रहस्य को समझना सरल कार्य नहीं । कुछ लोग व्यक्तित्व को वाह्य शक्ति मानते हैं । कुछ इस आत्मा के सदृश्य भौतिकवाद और अध्यात्म-वाद का संयोजक मानते हैं । परन्तु हमें केवल मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में ही इसकी समीक्षा करनी है । अतः हमें देखना है कि व्यक्ति के व्यवहार पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ना है ।

१. वंशानुक्रम का प्रभाव

कुछ लोगों का मत है कि व्यक्तित्व पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है, वंशानुक्रम का नहीं । परन्तु यह धारणा गलत है । प्रायः देखा गया है कि व्यक्ति अपने व्यवहार पूर्वजों से संक्रमित करता है । साथ ही जिन गुणों को वह वातावरण में सीखता है उनसे भी वह कभी-कभी वंशानुक्रमीय दोषों के कारण लाभ उठाने में असमर्थ रहता है । व्यक्तित्व किसी एक बात पर निर्भर नहीं रहता । वह विभिन्न प्रभावों का फल होता है । शारीरिक गठन तथा मुखाकृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है और यह गठन और आकृति संक्र-मित होती है । अतः वंशानुक्रम का प्रभाव व्यक्तित्व के निर्माण में कुछ अवश्य रहता है ।

२. वातावरण का प्रभाव

व्यक्तित्व वातावरण से अत्यधिक प्रभावित होता है । धनी परिवार में जन्म लेने वाला बालक एक निर्धन परिवार के बालक से भिन्न होता है । एक तीव्र बुद्धि बालक धनी परिवार में पलकर मन्द बुद्धि हो सकता है तथा इसके विपरीत भी । निर्धनता के कारण वातावरण ऐसा बुरा हो सकता है कि बालक को अपने विकास का समुचित अवसर न मिले । परीक्षण द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि अच्छे वातावरण से आये हुए बालक दूसरों से सभी बातों में अच्छे होते हैं ।

बहिर्मुखी :

बहिर्मुखी सांसारिक कार्यों में अधिक रुचि लेता है। उसे साथियों में बैठना, व्यर्थ की बातें करना तथा जोर जोर से चिल्लाना अधिक प्रिय मालूम होता है। वह एकान्त से घबड़ाता है। ऐसा व्यक्ति अपने विचार दूसरों से सरलता से कह सकता है।

यूंग ने एक तीसरा वर्गीकरण भी किया है जो 'उभय[1]-मुखी' कहलाता है। उभय मुखी व्यक्ति अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी के बीच का रास्ता अपनाता है। इन वर्गीकरणों को यूङ्ग ने पर्याप्त नहीं समझा। अतः उसने अपने सिद्धान्त की व्यवस्था करते हुए अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी के प्रत्येक प्रकार में विचार[2] प्रधान, भाव[3] प्रधान, तर्क[4] प्रधान तथा दिव्य दृष्टि प्रधान[5] चार भेद और किए हैं। इस प्रकार यूङ्ग के अनुसार आठ प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं।

अन्तर्मुखी के प्रकार :

अन्तर्मुखी विचार प्रधान व्यक्ति चिन्तन एवं अध्ययन में अपना अधिक समय देता है। ऐसे व्यक्ति को भी दो कोटियों में रक्खा जा सकता है। एक तर्क बुद्धि वाले तथा दूसरे दिव्य दृष्टि वाले। तर्क बुद्धि वाले प्रायः दार्शनिक होते हैं। वह सदा सत्य की खोज में रहते हैं पर सत्य के ज्ञाता नहीं होते। इसके विपरीत विचार प्रधान व दिव्यदृष्टि वाले सत्य के ज्ञाता होते हैं। वह जगत के कल्याण के लिए अपना जीवन लगा देते हैं। ऋषि मुनि ऐसे ही लोगों में होते हैं।

अन्तर्मुखी भाव-प्रधान :

ऐसे व्यक्ति सदा निराश तथा दुखी रहते हैं। वह संसार के दुख से दुखी तो होते हैं, परन्तु दुःखी प्राणियों के उद्धार के लिए कुछ नहीं सोचते। ऐसा व्यक्ति सदा निराशामय वातावरण में आत्महत्या की सोचा करता है। उसे संचार में कोई आनन्द नहीं मिलता। ऐसे व्यक्ति प्रायः हठी भी होते हैं।

---

1. Ambivert. 2. Thinking type. 3. Feeling type. 4. Reasoning type. 5. Intiutive type.

बच्चों को उनके कार्यों में निरुत्साह करना, फटकारना तथा कटु आलोचना करना उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधा उत्पन्न करता है। शिक्षक व अभिभावक को चाहिये कि बच्चे की प्रशंसा करके उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न करे। बच्चे के उपहासप्रद कार्य भी उसके ज्ञान तथा लगन के प्रतीक होते है।

प्रभुत्व तथा दीनता : प्रभुत्व तथा दीनता मानव के व्यवहार में स्वाभाविक है। बच्चे भी इनसे बन्चित नहीं रहते। बच्चों में प्रभुत्व की भावना पैदा होने के कारण छोटी उम्र में उत्तरदायित्व को सम्भालना, घर में नियन्त्रण का अभाव, स्वस्थ शारीरिक मानसिक अवस्था माता-पिता के व्यवहार का प्रभाव है। इसी प्रकार दीनता आने के कारण शारीरिक अस्वस्थता, घरेलू झगड़े, बड़ों से अपनी तुलना तथा स्वतन्त्रता का अभाव है।

अतर्मुखी तथा बहिर्मुखी बालक : छोटी अवस्था में बालक प्रायः अन्तर्मुखी होते हैं। लड़कियाँ अधिक अन्तर्मुखी होती हैं। जिन बच्चों की इच्छाओं का अवदमन किया जाता है वे अधिकतर अर्न्तमुखी होते हैं। उनमें विचारों की कमी हो जाती है।

बालक के व्यक्तित्व में माता पिता तथा शिक्षक का स्थान

बालक के व्यक्तित्व के सभी पहलुओं की समीक्षा करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बालक के व्यक्तित्व के विकास का उत्तरदायित्व माता-पिता तथा शिक्षक पर बहुत अधिक है। बालक का अधिक सम्मर्क अपने माता-पिता अथवा अभिभावक से रहता है। अतः व्यक्तित्व का बालक पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। उनके माता-पिता की मनोवृत्ति का बहुत अधिक प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। साहित्यिक मनोवृत्ति वाले माता-पिता की सन्तान भी साहित्य-प्रेमी होती है। कुछ इसके अपवाद भी हो सकते हैं, परन्तु नगण्य।

बालक के व्यक्तित्व विकास में विद्यालय का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। विद्यालय में वह केवल ज्ञानोपार्जन ही नहीं करता, अपितु वह वहाँ एक वातावरण भी पाता है जिसमें उसको विकसित होना है। उसे विभिन्न प्रकार की मनोवृत्ति वाले सहपाठी मिलते हैं। शिक्षक उसके लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य

स्वतंत्रता : बालक बचपन से ही स्वतन्त्रता प्रेमी, सब काम स्वयं करने की प्रवृत्ति, स्वतन्त्रता में बाधा डालना अमनोवैज्ञानिक।

आत्मविश्वास : प्रारम्भावस्था से ही आत्मविश्वास पैदा करना आवश्यक, बच्चे के उपहासप्रद कार्य भी उसकी लगन तथा ज्ञान के प्रतीक।

प्रभुत्व तथा दीनता : मानव स्वभाव : उत्पन्न होने का कारण घरेलू वातावरण तथा शारीरिक अवस्था।

बालक के व्यक्तित्व विकास में माता पिता तथा शिक्षक का स्थान : माता-पिता के व्यक्तित्व का बालक पर प्रभाव, शिक्षक तथा सहपाठियों के व्यक्तित्व का प्रभाव, सर्वांगी विकास की आवश्यकता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. व्यक्तित्व के विकास का वर्णन करते हुये बताइये कि इसके विकास में किन २ बातों का प्रभाव पड़ता है ?

२. बचपन से ही व्यक्तित्व का विकास आरम्भ हो जाता है, स्पष्ट कीजिए।

३. बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए माता-पिता तथा शिक्षक का कहाँ तक उत्तरदायित्व है ?

२. संवेदना के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने संवेदना के पाँच प्रकार किए हैं :—

१. दृष्टि[1] संवेदना, २. ध्वनि[2] संवेदना, ३. घ्राण[3] संवेदना, ४. स्वाद[4] संवेदना, ५. स्पर्श संवेदना।

इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त गति-सम्बन्धी[5] शक्ति भी मनुष्यों में पाई जाती है। उनका कहना है कि इस शक्ति के कारण मनुष्य में विभिन्न प्रकार की संवेदनाएँ पैदा होती हैं।

३. संवेदना के भाग

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार एक संवेदना में गुण[6], तीव्र[7], काल[8] तथा विस्तार[9] भाग होते हैं। परन्तु कुछ संवेदनाएँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें विस्तार न हो। उदाहरणार्थ, दृष्टि-संवेदना में किसी वस्तु के रंग का अनुभव गुण सम्बन्धी संवेदना है। तीव्रता हम उसके हल्के अथवा गहरेपन में देखते हैं। काल से तात्पर्य उस समय से है जब तक वह दिखाई दे अथवा कोई ध्वनि सुनाई दे। दृष्टि-संवेदना में विस्तार न होना सम्भवाना है परन्तु ध्वनि जितनी दूर तक सुनाई होती है वह विस्तार है।

४. बेबर फेचनर नियम[10]

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक बेबर तथा फेचनर के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव करने की एक अधिकतम और न्यूनतम सीमा होती है। व्यक्ति को इन्हीं सीमाओं के भीतर किसी उद्दीपक की अनुभूति हो सकती है। जैसे किसी छोटे कीड़े के शरीर पर बैठने का अनुभव हमें नहीं होता जब तक उसे देखा न जाय। इसी प्रकार संवेदना में भेद रहता है। जिनकी श्रवणेन्द्रियाँ बहुत तेज होती हैं वे साधारण से उद्दीपक से भी अवगत हो जाते है। बेबर का कथन है कि 'उद्दीपक के अनुपात के अनुसार ही वृद्धि या कमी होने से संवेदना के भेद का ज्ञान हो सकता है'। जैसे किसी व्यक्ति के सर पर बीस सेर सामान

---

1. Visual. 2. Auditory. 3. Olfactorly. 4. Test.
5. Kinaesthetic. 6. Quality. 7. Intensity. 8. Duration.
9. Extensity. 10. Weber Fechner.

अपने खोये हुए कलम का ध्यान आ सकता है। इस प्रकार हमें कलम का प्रत्यक्षीकरण सम्बन्ध ज्ञान के आधार पर होता है।

३. प्रतिनिध्यात्मक[1] :

उपास्थक पक्ष के आ जाने पर प्रतिनिध्यात्मक पक्ष आता है। जैसे, किसी व्यक्ति के मलिन मुख को देखकर हमें उसके दुख का बोध होता है। अर्थात मलिन मुख उसके दुःख का प्रतिनिधि है।

६. निरीक्षण

तीन प्रकार का उल्लेख किया जा सकता है :—

१. साभिप्राय[2] : किसी निरीक्षण के लिए पहले से निश्चय करना अथवा तैयार होना उसका साभिप्राय निरीक्षण कहलाता है। जैसे, किसी पुस्तक की आलोचना अथवा किसी स्थान की जानकरी साभिप्राय निरीक्षण है।

२. परिस्थितियात्मक[3] : यह अनिच्छापूर्ण निरीक्षण है। जैसे, घर में किसी अजनवी व्यक्ति के आने पर उसके बारे में पूरी जानकरी प्राप्त करने को हम विवश हो जाते हैं।

३. प्रयोजनात्मक निरीक्षण[4] : यह निरीक्षण नायास ही होता है। इसके लिए मस्तिष्क पहिले से तैयार नहीं रहता। इसमें व्यक्ति स्थिति की सारी बातें ठीक-ठीक समझना चाहता है।

निरीक्षण की शिक्षा

बालक बड़ा ही जिज्ञासु होता है। अपनी जिज्ञासा के आधार पर ही वह अपने वातावरण-सम्बन्धी विविध बातों को समझना चाहता है। बालक अपने वातावरण पर शीघ्रातिशीघ्र नियन्त्रण प्राप्त करले इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी जिज्ञासाओं को बढ़ाया जाय और उनका समाधान किया जाय। इसके लिए उसे निरीक्षण के लिए पर्याप्त अवसर देना चाहिये। विभिन्न वातावरण में समय-समय पर उसे ले जाकर विविध बातों का निरीक्षण करने

---

1. Observation, 2, Purposeful. 3, Circumstancial 4. Purposive,

५७
संकल्प और चरित्र विकास

संकल्प शक्ति[1]

संकल्प शक्ति मनुष्य की वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा वह किसी निर्णय पर पहुँचता है। इसी शक्ति के द्वारा हम निर्णय करते हैं कि आज अमुक कार्य करने हम जाँय या नहीं। हमारे निर्णय अथवा निश्चय का आधार संकल्प शक्ति होती है।

संकल्प शक्ति की विवेचना

संकल्प शक्ति में कई शक्ति‍यों का मिश्रण रहता है डाम्बेल क्रियात्मक मनोवृत्ति[2] को संकल्प-शक्ति मानता है। व्यक्ति में विविध मनोवृत्तियाँ अथवा इच्छाएँ विद्यमान रहती हैं। ये बहुधा उसे एक विशिष्ट दिशा में आचरण दिखलाने के लिए विवश करती रहती हैं, यह आचरण दिखलाने के पूर्व व्यक्ति के मन में विविध प्रकार के आते हैं। इन विचारों में कभी-कभी परस्पर विरोध होता है। इस विरोध के आने पर व्यक्ति के मन में एक संघर्ष आ जाता है। इस संघर्ष को निपटा कर किसी एक निर्णय पर पहुँचना संकल्प-शक्ति का कार्य है।

जेम्स ने किसी कार्य को विपरीत परिस्थिति में भी बहुत देर तक करते रहने के समर्थ्य को संकल्प शक्ति कहा है। जिस व्यक्ति में सङ्कल्प-शक्ति, निष्ठा अथवा लगन की कमी होगी वह किसी कार्य को बहुत देर तक नहीं कर सकता। उडवर्न ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन नेचर एन्ड एजूकेशन' में किसी कार्य में लगे रहने की प्रवृत्ति को सङ्कल्प शक्ति कहा है।

1, Will and character. 2, Conation.

आवेश में आकर सब कार्य किया करता है। स्थायीभाव परिपक्वास्था में पहुँचकर ही आते हैं। जिस व्यक्ति में आत्म-गौरव का स्थायीभाव जितना प्रबल होता है उसकी सङ्कल्प-शक्ति भी उतनी ही दृढ़ होती है। बालक में आत्म-गौरव के भाव का विकास देर में होता है। अतः सङ्कल्प की दृढ़ता भी उसमें बाद में आती है।

हठ :

हठ सङ्कल्प-शक्ति की दूसरी दुर्बलता है। हठ करने की प्रवृत्ति बालक में स्वभावतः रहती है। जिस बात की वह हठ कर लेता है उसे पूरा करके ही छोड़ता है। इस स्वभाव के कारण उसके चरित्र और सङ्कल्प-शक्ति के विकास का पथ अवरोधित हो जाता है। हठ करने की प्रवृत्ति कुछ प्रौढ़ लोगों में भी दिखाई देती है। यह उनके लिये बहुत ही हानिकारक सिद्ध होती है।

दुविधा :

दुविधा भी सङ्कल्प शक्ति की दुर्बलता का द्योतक है। जब तक व्यक्ति किसी कार्य करने का उचित निर्णय नहीं कर पाता वह दुविधा में रहता है कि अमुक कार्य करे या न करे अथवा उसका क्या परिणाम होगा वह सफलता पूर्वक कोई कार्य नहीं कर पाता। उसको कार्य सम्पन्न होने से पूर्व ही फल के विषय में दुविधा हो जाती है। बालक में इस प्रवृत्ति का भी समावेश रहता है। इसका निराकरण अध्यापक शिक्षा द्वारा कर सकता है।

चरित्र

चरित्र और मूलप्रवृत्तियाँ :

चरित्र का विकास सङ्कल्प-शक्ति तथा आत्म-गौरव के स्थायी भाव से होता है। जिस व्यक्ति का चरित्र अच्छा होता है उसमें आत्म-सम्मान की भावना कूट-कूट कर भरी होती है। इसमें सङ्कल्प की दृढ़ता भी होती है। जिस कार्य को करने का वह सङ्कल्प कर लेता है उसे वह पूरा करके ही छोड़ता है। चरित्र का विकास मूलप्रवृत्तियों के शोधन के परिणाम-स्वरूप होता है। यदि मूल-प्रवृत्तियों का उचित रूप से शोधन न किया जा सका तो व्यक्ति का चरित्र दूषित हो जायगा। अतः बहुत प्रारम्भ से ही यह ध्यान रखना चाहिये कि यथा समय बालक की मूलप्रवृत्तियों का शोधन हो जाय।

बालक का चरित्र-विकास

जीवन में उच्च चरित्र के विकास का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। जिस व्यक्ति का चरित्र जितना ही उच्च होता है समाज में उसका उतना ही मान होता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि चरित्र के निर्माण में स्थायीभाव, संकल्प की दृढ़ता तथा भावों की उच्चता बड़ा कार्य करती हैं। अतः बालक के चरित्र-विकास में हमें यह ध्यान देना है कि उनमें इन सबका समुचित विकास हो। इसके लिए बालक को यथासम्भव ऐसा स्वतन्त्र वातावरण प्रदान करना चाहिये जिसमें उसे अपने संकल्प-शक्ति की क्रियाशीलता में किसी प्रकार की बाधा का सामना न करना हो। चरित्र के विकास के लिए ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। बिना ज्ञान के व्यक्ति को किसी स्थिति से पूर्ण परिचय न होगा और सम्भव है कि उस स्थिति में उसका आचरण अवांछित हो जाय। अतः आचरण के अच्छा होने के लिए स्थिति का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान के ही आधार पर बालक में अच्छी रुचियों का विकास किया जा सकता है। ज्ञान के देने के साथ ही बालक के मानसिक संगठन में संकल्प की दृढ़ता का भी हमें समावेश करना चाहिए। जैसे व्यायाम से शरीर पुष्ट होता है उसी प्रकार अभ्यास से संकल्प की दृढ़ता बढ़ती है। बालक को यह बतलाना चाहिये कि किसी अच्छी बात का संकल्प कर लेने पर उसे पूरा करने में तनिक भी शिथिलता नहीं दिखलानी चाहिए। छोटे-छोटे कार्यों में भी बालकों को संकल्प की दृढ़ता अपनाने का अभ्यास दिया जा सकता है। बालक को हमें यह बतलाना चाहिये कि किसी बाधा के उपस्थित होने पर उसे शीघ्र निरुत्साहित नहीं होना चाहिए।

चरित्र-विकास में नैतिक शिक्षा का भी एक विशेष स्थान है। बालक को नैतिक और अनैतिक का ज्ञान होना चाहिये, अन्यथा उसका व्यवहार नैतिक नहीं हो सकेगा। यह ज्ञान देने के लिए उपदेश विशेष सहायक न होगा। बालक में नैतिकता भरने के लिए उसके सामने नैतिकतापूर्ण उदाहरण रखना आवश्यक है। वस्तुत: बालक का सारा वातावरण ही ऐसा हो कि कोई गलत काम करने के लिए वह अभिप्रेरित न हो। इस सम्बन्ध में माता-पिता, अभिभावकों और शिक्षकों का विशेष कर्त्तव्य है।

की अपेक्षा इस शक्ति की कमी। संकल्प-शक्ति जन्म-जात नहीं। व्यक्ति इसको अर्जित करता है।

सुसंगठित विचारों के होने पर संकल्प-शक्ति प्रबल होती है। संकल्प-शक्ति का इच्छा और ध्यान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आवेश, हठ और दुविधा संकल्प शक्ति को दुर्बल बना देती है।

चरित्र-विकास

चरित्र का विकास मूलप्रवृत्तियों के शोधन के आधार पर आत्मगौरव के स्थायीभाव पर निर्भर करता है। चरित्र-निर्माण में व्यक्ति के स्थायीभाव, आदत तथा संकल्प-शक्ति प्रमुख हैं।

उच्च चरित्र-विकास के लिए हमें बालक में उच्च स्थायीभाव, उच्च आदत तथा दृढ़ संकल्प-शक्ति उत्पन्न करना चाहिये। इन सबके लिये बालक का वातावरण आदर्श रूप होना चाहिये, अच्छे कार्य करने का उसे यदाकदा अभ्यास देना चाहिये। कोई उपदेश के स्थान पर उसके सामने अच्छे-अच्छे उदाहरण रखने चाहिये। बालक अनुकरण से बहुत सीखता है। अतः बड़ों को बालक के सामने अपने व्यवहार में बड़ा सतर्क रहना चाहिये। बालक को प्रेम देना चाहिये, परन्तु अत्यधिक लाड़-प्यार नहीं। दण्ड का समुचित प्रयोग भी अच्छे चरित्र-विकास में एक विशेष स्थान रखता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. संकल्प-शक्ति क्या है? इसकी दृढ़ता के लिए हमें क्या करना चाहिए?

२. चरित्र क्या है? बालक के अच्छे चरित्र-विकास के लिए हमें किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिये?

अवधान तथा रुचि में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस वस्तु में हमारी रुचि होती है, चेतना भी उसी में शीघ्र केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार अवधान की क्रिया से हमें वस्तु विशेष को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलती है।

अवधान की विशेषतायें[1] :

नीचे अवधान की विशेषताओं की ओर संकेत किया जा रहा है :—

१. प्रयोजनता[2] :

ध्यान का आधार प्रयोजनता है। बालक में प्रौढ़ की अपेक्षा ध्यान देने की शक्ति कम होती है। वह अपने लक्ष्य तथा उद्देश्य की ओर उतनी प्रबलता से आकर्षित नहीं होता। चित्त को एकाग्र करने की शक्ति का सम्बन्ध चरित्र की दृढ़ता से होता है। अस्थिर प्रकृति के लोग अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाते। चंचल स्वभाव होने के कारण उनमें जीवन का लक्ष्य भी चंचल होता है।

शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह बालक में ध्यान की एकाग्रता के अभाव को पूरा करने का प्रयत्न करे। यह आवश्यक है कि बालक की सारी शारीरिक तथा मानसिक शक्ति एक लक्ष्य की ओर प्रेरित की जाय जिससे कि उसके चरित्र में दृढ़ता का उदय हो।

२. उद्योगशीलता[3] :

किसी वस्तु की ओर ध्यान देते समय शरीर तथा मन दोनों से परिश्रम करने की आवश्यकता होती है। जब हमारा ध्यान स्वतः किसी की ओर हो जाता है तो हमें इस परिश्रम का अनुमान या अनुभव नहीं होता, परन्तु जब हमको जान बूझकर किसी की ओर ध्यान आकर्षित करना पड़ता है तो शक्ति व्यय होती है उसका, अनुमान अवश्य होता है। शारीरिक चेष्टा तथा ध्यान में सम्बन्ध होने के कारण ही कक्षा में यह ध्यान देना आवश्यक है कि विद्यार्थी अपनी ठीक मुद्रा में बैठे हों। झुककर या टेढ़े बैठकर पढ़ने से ध्यान एकाग्र

---

1. Characteristics of Attention. 2. Purposivensss. 3. Presence of Effort.

लिए निश्चित हो जाती है। रुचियाँ व्यक्ति की ऐसी कृतियाँ है जिनसे उसकी आदतों का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। किसी वस्तु में रुचि रखने का तात्पर्य उस वस्तु से अपना आत्मसात करना है'। इस प्रकार रुचियों के दो भाग हैं, जन्म जात तथा अर्जित। व्यक्ति जन्म जात रुचियाँ जन्म से ही अपने साथ लेकर आता है, जैसे, भोजन में हमारी रुचि।

अर्जित रुचि :

अर्जित रुचियाँ वे हैं जो किसी वस्तु की आंतरिक भावनाओं से उत्पन्न होती हैं। अर्जित का भी आधार जन्मजात रुचियाँ ही हैं। किसी वस्तु की ओर आकर्षित होना अर्जित रुचि का परिणाम है। रुचि के कारण लोग कष्ट भी सहन कर लेते हैं, परन्तु रुचि के अभाव में वह क्षण भर के लिए भी टिक नहीं सकते। अध्ययन को रुचिकर बनाना अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि योग्य शिक्षक अपनी अध्यापन-सामग्री अधिक से अधिक रोचक बनाने का प्रयत्न करते हैं।

अवधान के बहिरंग प्रेरक[1]

अवधान के बहिरंग प्रेरक निम्नलिखित हैं।

१. उद्दीपन की तीव्रता[2] :

ध्यान केवल रुचि से ही सम्बन्धित नहीं है। क्या कारण है कि लाउड स्पीकर की ध्वनि अचानक कान में पड़ते ही ध्यान उधर आकर्षित हो जाता है? या तीव्र आवाज या शोरगुल से हम आकर्षित हो जाते हैं। रुचि न होते हुए भी उद्दीपक की तीव्रता के, कारण ध्यान वस्तु या विषय की ओर आकर्षित हो जाता है।

२. नवीनता[3] :

ध्यान आकर्षित होने का कारण नवीनता भी है। नवीन वस्तु, नवीन विषय नवीन व्यक्ति सब ही ध्यान को अपनी ओर खींच लेते हैं। यही कारण है कि शिक्षक अपने विषय में नित्य नवीनता का पुट देने का प्रयत्न करता रहता है जिससे उसका विषय नवीन प्रतीत हो।

1. Outer Incentives of attention. 2. Intensity of stimulus. 3, Newness.

द्वारा, संकल्प की सहायता से रुचि का आभास करके अवधान का अनुभव किया जाता है। प्रतिभाशाली मनुष्य इस अवधान ही से महान् कार्य करने में सफल हुए हैं। यह आवश्यक है कि शिक्षक बालकों में दृढ़ संकल्प की भावना जागृत करे जिससे अपनी शक्ति का अवलम्बन लेकर वह महान् पुरुष बन सकें।

४. ऐच्छिक निष्प्रयत्नात्मक अवधान[1] :

यह अवधान आदत और स्थायीभाव के कारण सम्भव होता है। निरन्तर प्रयत्न करते रहने से किसी कार्य को करने की आदत सी पड़ जाती है और बिना किसी परिश्रम के वह कार्य सफलतापूर्वक हो जाता है। इस प्रकार यह ध्यान ऐच्छिक प्रयत्नात्मक अवधान पर निर्भर रहता है। कोई भी कार्य यदि नित्य किया जाय तो सुगम हो जाता है। यही कारण है कि यह अवधान बिना प्रयत्न के सम्भव हो जाता है।

अवधान का विस्तार[2]

जब हम पाँच छः वस्तुओं को एक साथ देखते हैं तो हम उनकी इकाई बना लेते हैं और तब ही सबको एक साथ देख लेते हैं। वस्तुओं की इकाई बनने की क्षमता वैयक्तिक भिन्नता, आयु और मनोविकास पर आधारित होती है।

अवधान में बाधा[3]

कार्य करते समय अनेक बाधायें सामने आती हैं। अपने अध्ययन में संलग्न विद्यार्थी जब चारों ओर शोर-गुल सुनता है तो उसका मन खीझ उठता है और वह अपनी पुस्तकें बन्द कर देता है, परन्तु दूसरी ओर एक अन्य विद्यार्थी शोर-गुल की उपस्थित में भी अपने काम में लगा रहता है। क्यों ? इसका मुख्य कारण यह है कि इस विद्यार्थी में कार्य करने की लगन ही नहीं वरन् दृढ़ संकल्प भी है जिसके परिणाम-स्वरूप वह बाधाओं के होते हुए भी अपने काम में लगा रहता है। इस प्रकार बाधा या विघ्न यदि एक के लिए अभिशाप

1. Voluntary non-effortful Attention.
2. Span of Attention. 3. Distraction of Attention.

शिक्षक तथा अवधान :

ऊपर बताया जा चुका है कि शिक्षा की सफलता अवधान पर निर्भर है, अतः शिक्षक के लिये यह आवश्यक है कि वह अवधान के बारे में पूर्ण जानकारी रक्खे और कक्षा में अवधान के नियमों का पालन करे। विषय में रुचि उत्पन्न करके, विषय परिवर्तन से, तथा कार्य में क्रियाशीलता के समावेश से वह बालकों के अवधान को आसानी से केन्द्रित कर सकता है। जो शिक्षक इन बातों को नहीं जानते वास्तव में वह मनोवैज्ञानिक ढंग से अत्यन्त दूर हैं। शिक्षक का यह भी प्रयत्न रहना चाहिये कि ऐच्छिक अवधान के विकास के लिये विद्यार्थियों को समुचित वातावरण मिलता रहे।

थकान[1]

कार्य करते समय थकान बाधा के रूप में उपस्थित होती है। थकान के समय अवधान का अभाव होता है। थकान दो प्रकार की होती है : शारीरिक और मानसिक। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि थकान शरीर में रासायनिक परिवर्तनों के कारण ही होती है। शारीरिक थकान ही नहीं मानसिक थकान भी इन रसायनिक परिवर्तनों का परिणाम है। मनोवैज्ञानिकों ने यह जानने का प्रयत्न किया है कि शारीरिक तथा मानसिक थकान में क्या सम्बन्ध है। परन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक फल प्राप्त नहीं हो पाये है। बहुमत में यह मान लिया गया है कि मानसिक थकान शारीरिक थकान के पश्चात् ही होती है।

थकान और शिक्षा

अवधान के समान थकान भी शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती है। यदि इस ओर ध्यान न दिया गया तो अध्यापन कार्य सरलता पूर्वक नहीं चल सकता। यही कारण है कि थकान को दूर करने के लिये बीच-बीच में खेल कूद तथा दोपहर के समय कुछ खाने पीने का प्रबन्ध किया जाता है। इसके अतिरिक्त कार्य-परिवर्तन से भी थकान को दूर करने का प्रयत्न किया

1. Fatigue.

अवधान का विस्तार

विस्तार आयु, वैयक्तिक भिन्नता तथा मनोविकास पर निर्भर।

अवधान में बाधा

बाधायें संकल्प वाले व्यक्ति के लिये वरदान, शिक्षकों का उचित प्रयत्न, समस्यायें उपस्थित करने का प्रयास। बाधा से लगन की परीक्षा।

अवधान और शिक्षा

विषय में परिवर्तन, अवधान केन्द्रित करने का अभ्यास, अवधान के लिये क्रियात्मक प्रवृत्ति तथा रुचि की सहायता से अवधान केन्द्रित करना।

अवधान और शिक्षक :

अध्यापन में क्रियाशीलता का समावेश, अवधान के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी आवश्यक, ऐच्छिक अवधान के विकास की ओर ध्यान आवश्यक।

थकान

ध्यान न लगने का कारण थकान भी इसके दो भेद : शारीरिक तथा मानसिक, मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न मत, शारीरिक थकान का मानसिक थकान पर प्रभाव।

थकान और शिक्षा

कार्य परिवर्तन तथा जलपान का प्रबन्ध, रुचि, आदत और थकान में पारस्परिक सम्बन्ध, शिक्षकों का प्रयत्न, रुचि का समावेश, विषय को मनोरंजक बनाने का प्रयत्न करना।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. अवधान कितने प्रकार के होते हैं ?

२. शिक्षा के क्षेत्र में अवधान का क्या महत्त्व है ?

३. थकान और शिक्षा के सम्बन्ध पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिये ?

धीरे चलती है। सीखने की इस विधि में वह गलत प्रतिक्रिया को छोड़ता जाता है और ठीक को वह एक में सुसंगठित कर लेता है। गणित के प्रश्न करने में इसी क्रिया को अपनाना पड़ता है। इसमें सूझ का मुख्य स्थान है क्योंकि प्राणी त्रुटियों को अपनी सूझ द्वारा ही समझ पाता है, और प्रयास करता रहता है। अन्त में वह अपने प्रयास में सफल हो पाता है।

अनायास प्रतिक्रिया का होना[1] : जिस प्रकार बच्चा पलंग पर पड़ा अनायास ही हाथ पैर चलाता रहता है उसी प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति भी अपनी अनायास क्रियाओं से व्यवहार की बहुत सी बातों को सीखा करता है। बुरे वातावरण में पड़कर वह बुरी बातें ही सीखेगा।

व्यर्थ प्रतिक्रिया की अवहेलना[2] : प्रायः प्राणी को अनेकों प्रतिक्रियाओं का सामना करना पड़ता है। इनमें वह जिनसे संतोष पाता है उन्हीं को अपना लेता है तथा जिनमें असंतोष मिलता है उन्हें छोड़ देता है।

स्थानापन्न उत्तेजना[3] : कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि किसी एक प्रतिक्रिया के स्थान पर दूसरी प्रतिक्रिया भी वही कार्य करती है। जैसे मिठाई को देखकर बच्चे की लार टपकने लगती है। परन्तु कभी-कभी मिठाई का नाम ही सुनने से ऐसा हो जाता है, क्योंकि मिठाई शब्द की ध्वनि से ही मिठाई वस्तु से सम्बन्धित प्रतिक्रिया की उत्पत्ति हो जाती है।

स्थानापन्न प्रतिक्रिया[4] : बालक भय में प्रायः ऐसा सीखता है। यदि कभी वह आग से जल गया तो जलती हुई सभी वस्तुओं को वह कभी नहीं छुएगा और उसे भय मालूम होगा।

प्रतिक्रियायों का मिश्रण[5] : हमारा सीखना वास्तव में प्रतिक्रियाओं के मिश्रण का ही फल है। हमारी आदतें कई प्रतिक्रियाओं के योग से पड़ती हैं। पहिले हमें कोई कार्य कठिन लगता है, परन्तु विभिन्न क्रियाओं के योग से उसे करने में हमें कठिनाई नहीं होती।

---

1. Random Responses. 2. Elimination of wrong responses. 3. Substitute stimulus. 4. Substitute Response. 5. Combination of Responses.

होती है, २५ वर्ष तक उसमें स्थिरता रहती है तथा उसके पश्चात धीरे-धीरे गिरती जाती है।

सीखने की योग्यता के विकास के गिरने के कारणों पर अभी तक कोई निश्चित मत नहीं है। फिर भी इसका मुख्य कारण यह बताया जाता है कि उम्र के बढ़ने से नारी-मण्डल में कुछ दोष आ जाता है, उत्साह की कमी हो जाती है तथा ज्ञानार्जन की ओर से अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

कुछ लोग बाल्यावस्था को सीखने तथा स्मरण करने का सबसे अच्छा काल मानते हैं। परन्तु आधुनिक अन्वेषणों से यह सिद्ध हो गया है कि सीखना प्रगतिशील होता है। इसके लिए आयु का बन्धन नहीं; यद्यपि यह सत्य है कि बालकों के मस्तिष्क पर सांसारिक समस्याओं का भार नहीं होता जिससे उनका नाड़ी मण्डल अधिक लचीला होता है और वह किसी विषय को अधिक सरलता से सीख लेते हैं। प्रौढ़ावस्था में रुचि अवश्य कम हो जाती है परन्तु यदि व्यक्ति लगन तथा निष्ठा के साथ सीखे तो वह भी उतना ही सीख सकता है जितना एक बालक।

वातावरण : सीखने की क्रिया पर वातावरण का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आक्सीजन की कमी से मस्तिष्क शीघ्र थक जाता है। अयः स्कूल का खुले मैदान मे होना आवश्यक है। गंदे वातावरण में तथा किसी मिल या फैक्टरी के पास यदि स्कूल हुआ तो उसका वातावरण दूषित हो जायगा और सीखने की क्रिया को प्रभावित करेगा।

अभ्यास : सीखने के लिए अभ्यास करना आवश्यक है। इसके लिए ३० मिनट का समय उपयुक्त रहता है क्योंकि इतने समय तक मस्तिष्क में थकान नहीं आती। नित्य प्रति अभ्यास करते रहना अधिक लाप्रद होता है। यह अभ्यास बालक अपने दैनिक कार्यों के साथ साथ भी कर सकता है। अपने स्कूल विषय को वह दैनिक कार्यक्रम में स्थान देकर अपना जीवन भी क्रम बद्ध तथा सुसंगठित बना सकता है।

रुचि : किसी भी कार्य करने में रुचि का होना आवश्यक है। बालक में यदि सीखने की रुचि नहीं है तो वह कुछ भी नहीं सीख सकता। बालक

बढ़ना चाहता। अतः पठार का आना आवश्यक है। परन्तु पठार आने से विद्यार्थी हतोत्साह न हो। इसके लिए उसे रोकने के समुचित प्रबन्ध उसके कारणों का निराकरण द्वारा किया जा सकता है।

पठारों के कारण :

पठार आने के कारण रुचि अभाव, समझने की कमी, गलत विधि, थकान तथा आवर्तों का पुनर्संगठन हो सकते हैं। हार्लिगवर्थ ने पठारों का तात्पर्य अनेकों बातों से लगाया है : १. विद्यार्थी ने परिश्रम कर बन्द कर दिया है, २. विद्यार्थी में उत्साह की कमी, ३. वह गलत विधि को अपनाता है अथवा ४. विद्यार्थी की उन्नति की गति इतनी धीमी है कि वह सरलता से आँकी नहीं जा सकती। किसी भी कार्य में विद्यार्थी की रुचि में कमी होने के कुछ विशेष कारण होते हैं। अतः कुशल अध्यापक को सर्वप्रथम उन कारणों की खोज करना चाहिए। प्राय: देखा गया है कि विद्यार्थी किसी विषय की प्रस्तावना को अच्छी प्रकार नहीं जानता। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी को सर्वप्रथम प्रस्तावना अच्छी तरह समझा देना चाहिए। इसके अतिरिक्त सीखने वाले की शारीरिक, मानसिक दशा तथा वातावरण भी उसकी उन्नति में बाधक हो सकता है।

सारांश

सीखने का अर्थ

सीखने से तात्पर्य है अनुभवों से अधिक लाभ उठाना, प्रतिक्रियाओं को उपयुक्त बनाना, सीखना सारी सफलता की जड़ है।

थार्नडाइक के सीखने के नियम

१. तत्परता का नियम :

२. अभ्यास का नियम :

३. प्रभाव का नियम:

थार्नडाइक के सिद्धान्त की आलोचना

यह सिद्धान्त सम्बन्धवाद, सीखना कुछ स्वतन्त्र स्वत्वों का संगठन; अवयवीवाद की आलोचना, यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक आणुवाद,।

६०

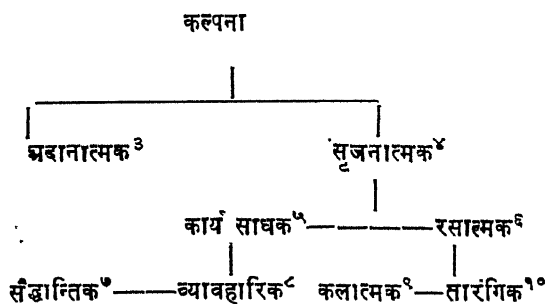
(१) कल्पना[1]

कल्पना की परिभाषा :

कल्पना एक मानसिक क्रिया है। किसी वस्तु की अनुपस्थिति में अपनी स्मृति के आधार पर उसकी प्रतिमा को बनाकर जो कुछ भी विचार किया जाय वही कल्पना है। यह एक स्वतन्त्र मानसिक क्रिया है। इससे व्यक्ति अपने अतीत के अनुभवों के आधार पर अपने मस्तिष्क में एक नई सृष्टि की रचना करता है। स्मृति और कल्पना में भेद है। स्मृति का सम्बन्ध अतीत से होता है, परन्तु कल्पना का सम्बन्ध अतीत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों से होता है।

कल्पना के प्रकार[2]

मैग्डूगल तथा डेवर के विचारों के आधार पर कल्पना का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।



नीचे हम प्रत्येक के स्वरूप की ओर संकेत कर रहे हैं।

---

1. Imagination. 2. Kinds of Imagination. 3. Receptive. 4. Creative. 5. Pragmatic 6. Aesthetic. 7. Theoretical. 8. Practical. 9. Artistic. 10. Fantastic.

कल्पना कलात्मक रूप लेती है। परन्तु जब वह स्वाभाविकता की सीमा को पार करके अपनी तरंगों में हिलोरें लेता है तो उसकी कल्पना तारंगिक कही जा सकती है। बालकों के खेल में तारंगिक कल्पना का उदाहरण सरलता से मिलता है।

कल्पना और बालक

बालक में कल्पना का प्राधान्य होता है। ज्यों-ज्यों उसका अनुभव बढ़ता है उसमें कल्पना की मात्रा कम होती जाती है। बालक में कल्पना का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि यह शक्ति उसमें न होती तो उसका जीवन बड़ा ही दुखी होता, क्योंकि कल्पना के सहारे ही मन ही मन उन इच्छाओं की काल्पनिक तृप्ति वह कर लेता है जो वातावरण के कारण अवरुद्ध होती है। बालक सर्वप्रथम कल्पना में इतना लीन रहता है कि वह वास्तविक और कल्पना के भेद को नहीं समझ पाता। इसीलिए तो वह डण्डे को घोड़ा मान-कर उसके साथ खेलता है। बालक के विकास के लिए उसमें कल्पना का होना बड़ा ही आवश्यक है।

कल्पना और शिक्षा

ऊपर हम कह चुके हैं कि प्रतिमा कल्पना का आधार है। बालक में प्रतिमा जितनी ही प्रबलता के साथ जमी रहेगी उसमें कल्पना-शक्ति भी उतनी ही दृढ़ और प्रबल होगी। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा से प्रतिमा को दृढ़ बनाया जा सकता है। इसीलिए मान्तेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर बड़ा बल दिया है।

कल्पना का विकास भाषा-विकास से सम्बद्ध रहता है। जिस बालक का भाषा-विकास अच्छा रहता है उसकी कल्पना-शक्ति भी अच्छी होती है। अतः माता-पिता और शिक्षकों को यह देखना चाहिए कि बालक का भाषा-विकास किसी कारण अवरोधित न हो। इसके लिए समय-समय पर बालक को विभिन्न वातावरण के सम्पर्क में लाना चाहिए और अपनी बातों को कहने की उसे पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

बालकों की कल्पनायें प्रायः तारंगिक होती हैं। इसीलिए कहानियों में उनकी बड़ी रुचि होती है। कहानियों से उनकी कल्पना का विकास होता है

कल्पना और बालक :

बालक अपनी बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पना के सहारे करता है। उसके विकास के लिए कल्पना आवश्यक है।

कल्पना और शिक्षा

कल्पना प्रतिमा पर आधारित। अतः प्रतिमा को दृढ़ बनाना चाहिए। भाषा-विकास से कल्पना विकसित होती है। अतः भाषा-विकास पर विशेष ध्यान देना चाहिए। बालकों को कहानियाँ सुनानी चाहिए। सृजनात्मक कल्पना के लिए कहानियों का अभिनय। संगीत और साहित्य से रसात्मक कल्पना का विकास। वैज्ञानिकों के जीवन चरित्र से कार्य साधक कल्पना का विकास।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. कल्पना क्या है? इसके कितने प्रकार होते हैं?
२. शिक्षा में कल्पना का क्या स्थान है?

मस्तिष्क में बनता है। एक ही वस्तु का प्रत्यय अनेक व्यक्तियों के लिए अनेक अर्थ रखता है।

प्रत्यय के प्रकार

गणित-सम्बन्धी प्रत्यय ज्ञान :

थार्नडाइक का विश्वास है कि किसी संख्या के चार तात्पर्य हो सकते हैं: क्रम, समूह, अनुपात और सम्बन्ध। संख्या के प्रत्यय का ज्ञान आयु के विकास के साथ होता है।

सम्बन्ध विषयक प्रत्यय ज्ञान :

सम्बन्ध विषयक प्रत्यय ज्ञान मानसिक विकास पर निर्भर होता है। गुण वाचक ज्ञान के पश्चात् ही यह सम्भव है। वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को समझाने से पूर्व उनके व्यक्तिगत गुणों का ज्ञान होना आवश्यक है।

निर्णय[1]

गुणों का वर्गीकरण तथा उनके बारे में ज्ञान करने की क्षमता व्यक्ति की निर्णय-शक्ति पर निर्भर करता है। डम्बिल का मत है कि निर्णय और 'प्रत्यय' एक ही क्रिया के विभिन्न अंग हैं। प्रत्यय के बनने में निर्णय की सहायता आवश्यक होती है, चाहे जान पड़े अथवा नहीं। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि निर्णय पूर्व प्राप्त विचारों के आधार पर ही किया जा सकता है।

निर्णय करने की क्षमता अनुभव का परिणाम होती है। शिक्षकों को चाहिये कि बालकों को अपना निर्णय बनाने में स्वतंत्र अनुभव होने दें तथा समय का भी ध्यान रक्खें। निर्णय से आत्म विश्वास का जन्म होता है, इसके अभाव में व्यक्तित्व का पूर्ण विकास असम्भव है।

तर्क[2]

स्वरूप :

चिन्तन की सर्वोत्तम क्रिया अवस्था तर्क हैं। यह तब ही सम्भव है जब मस्तिष्क भली-भाँति विकसित हो चुका है। यह उच्च प्रकार का चिन्तन है और

---

1. Judgment. 2. Reasoning.

भाषा की उत्पत्ति :

भाषा की उत्पत्ति की कहानी उतनी ही प्राचीन है जितना कि मनुष्य। प्रारम्भ में शारीरिक गतियों तथा विभिन्न ध्वनियों से भाव स्पष्ट किये जाते थे। इसके उपरान्त लौकिक प्रभाव से निश्चित वस्तुओं के निश्चित नाम पड़ गये। नामकरण का आधार उस वस्तु का गुण भी था। इसके अतिरिक्त भाषा के विकास पर वातावरण तथा विभिन्न जातियों का भी प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त अन्य भी प्रभाव पड़े।

भाषा और मनोविकास :

मनोविकास के साथ ही भाषा का विकास जुड़ा है। बालक का मनोविकास अधिक न होने के कारण अपने भाव व विचार स्पष्ट करने में पग-पग पर कठिनाई होती है। यही दशा अशिक्षित व्यक्ति की होती है। इसके विपरीत शिक्षक, वक्ता, तथा वकील आदि भाषा की सहायता से अपने विचार अनेक प्रकार से स्पष्ट कर लेते हैं। यह सत्य नहीं कि प्रत्येक अभाव को भाषा का रूप मिल सकता है। वास्तविक दृष्टिकोण से भाषा अनेक परिस्थितियों में भाव को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने में असमर्थ है। कवि के भाव अनेक हैं, वह अनेक साधनों से उन्हें रूप देने का प्रयत्न करता है, परन्तु हर बार भाषा उसकी सहायता नहीं कर पाती।

भाषा विकास की अवस्थायें :

प्रथम अवस्था : एक वर्ष तक बालक केवल निरर्थक शब्दों का ही उच्चारण करता है। यह अवस्था इसी समय तक सीमित होती है।

दूसरी अवस्था : शब्द वाक्य का काम करते हैं और उच्चारण अर्थ पूर्ण होता है। संज्ञा का अधिक प्रयोग होता है। यह अवस्था भी बाल्यावस्था तक ही सीमित है।

तीसरी अवस्था : इस अवस्था तक पूर्ण वाक्य प्रयोग किये जाने लगते हैं जिनमें संज्ञा तथा क्रिया-विश्लेषण आदि का उचित प्रयोग होता है। इसी अवस्था के बाद तर्क का विकास होता है।

भाषा की उत्पत्ति

ध्वनि तथा शारीरिक गतियाँ भाषा के आधार, लौकिक प्रभाव, गुणों पर निर्भर, वातावरण तथा जातियों में पारस्परिक चिन्तन का प्रभाव।

भाषा और मनोविकास

दोनों के विकास में सम्बन्ध।

भाषा-विकास की अवस्थायें :

निरर्थक शब्दों का उच्चारण, शब्दों से वाक्यों का कार्य लेना, संज्ञा का प्रयोग और पूर्ण वाक्य का प्रयोग।

भाषा की शिक्षा

मातृभाषा में शिक्षा पढ़ने से भाषा विकास की गति में विकास, सस्वर तथा मौन-पाठ की आवश्यकता, लिखने से विचार सुसंगठित।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सिद्ध कीजिए कि तर्क चिन्तन की सर्वोत्तम परिक्रिया है ?
२. प्रत्यय ज्ञान का क्या स्वरूप है ?
३. भाषा के महत्व पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिए।
४. भाषा और चिन्तन में क्या सम्बन्ध है ?

शक्ति है, वरन्, यह वह शक्ति है जो अवसर के समय अतीत के अनुभव को प्रयोग में लाने में सहायक सिद्ध होती है।

स्मृति एक जन्मजात शक्ति है जिसकी प्रगति अनुभवों द्वारा आगे बढ़ती है। परन्तु इस प्रगति अथवा उन्नति की एक सीमा है। यह सीमा वंशानुक्रम[1] द्वारा प्रभावित होती है।

स्मृति के अंग[2]

स्मृति के प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं :

१. याद करना[3]
२. धारण[4]
३. पुनस्मरण[5]
४. पहचान[6]

याद करने का विवेचन हम स्मृति के नियम में करेंगे। नीचे शेष अंगों का विवेचन किया जा रहा है।

धारण

अनुभव को मस्तिष्क में रख लेना ही धारण है। वास्तव में स्मृति धारण पर ही आधारित होती है। विभिन्न व्यक्तियों में धारण-शक्ति विभिन्न मात्रा में होती है। बालकों में यह शक्ति अधिक प्रबल होती है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों का मत है कि यह शक्ति निम्नलिखित बातों पर आधारित रहती है :

१. मस्तिष्क,
२. स्वास्थ्य,
३. रुचि, और
४. चिन्तन

मस्तिष्क : का केवल इतना ही कार्य नहीं है कि अनुभव उसमें स्थित हो जाय। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क विभिन्न अनुभवों में चुनाव करके केवल उन्हीं

1. Heredity. 2. Factors of Memory. 3. Remembering. 4. Retention. 5. Recall. 6. Recognition.

वास्तव में पुनर्स्मरण की सारी कार्य-प्रणाली समानता,[1] वैपरीत्य[2] और सहचारिता[3], पर आधारित है। ये तीनों मिलकर ही प्रत्यक्ष-साहचर्य कहलाती हैं। इन तीन के अतिरिक्त नवीनता[4], प्रबलता[5] और रोचकता[6] भी प्रत्यय-साहचर्य को प्रबल बनाने में सहायक होते हैं।

समानता : समानता केवल 'रूप' तक ही सीमित नहीं होती है। वह गुण से भी अनुभव होती है। जैसे, एक ही शक्ल के दो भाइयों में से एक को देखने से दूसरे की याद आ जाती है। कठोर वस्तु के स्पर्श से अन्य भी कठोर वस्तुओं की भी याद आ जाती है।

वैपरीत्य : यदि समान वस्तुओं के देखने से अन्य उसी प्रकार की वस्तुओं की याद आ जाती है तो विपरीत गुणवाली वस्तुयें भी एक दूसरे की याद कराती हैं। क्या कारण है कि रोगी को देखकर हमें स्वस्थ्य व्यक्ति की याद आ जाती है? चांदनी रात अन्धकार रात का अनुभव कराती है, गरीबी के साथ धनवान् की स्मृति और कुरूपता से सौन्दर्य का आभास इस वैपरीत्य ही का फल है।

सूक्ष्म विश्लेषण से यह समझने का प्रयत्न किया गया है कि वास्तव में वैपरीत्य समानता ही का एक लक्षण है। प्रत्येक दशा में मौलिक रूप से विरोधी वस्तु भी एक प्रकार से समान ही होती हैं। यदि मृत्यु से जीवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है तो उसका मुख्य कारण यह है कि जीवन और मरण एक ही विचार-डोर की दो शाखायें हैं जिनमें एक समानता और एक पारस्परिक सम्बन्ध है।

सहचारिता : एक साथ अनुभव की हुई वस्तुओं का एक के स्मरण से दूसरे का स्मरण आ जाना सहचारिता नियमानुसार ही होता है। यह दो प्रकार की होती है, देशगत तथा कालगत। यदि एक ही स्थान पर दो अनुभव प्राप्त हुए हैं तो एक के स्मरण से दूसरा याद आना स्वाभाविक ही है। यह देशगत सहचारिता का परिणाम है। इसी प्रकार एक समय में

---

1. Similarity. 2. Contrast. 3. Contignity. 5 Recency. 5. Vividness. 6. Interest.

पूर्ण तथा अपूर्ण दोनों प्रकार की पहचान ज्ञान-वृद्धि के लिये आवश्यक है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि चेतना में आये हुये अनुभव या पुराने अनुभव से सम्बन्ध समझना 'पहचान' के लिए आवश्यक है। परन्तु यह धारणा सदैव ही ठीक नहीं समझी जा सकती। एक व्यक्ति को देखने से हम उसे पहचान तो लेते हैं पर यह नहीं समझ मिलता कि उसे कब और कहाँ देखा था।

स्मृति के प्रकार[1]

बर्गसन ने स्मृति को दो भागों में विभाजित किया है, आदत-जन्य स्मृति और प्रतिमा-संयुक्त स्मृति। जो स्मृति आदत या अभ्यास के परिणाम स्वरूप होती है उसे वास्तविक स्मृति नहीं माना जा सकता। रटने से कोई विषय याद तो अवश्य हो जाता है, परन्तु मस्तिष्क पर बल पड़ने के कारण यह याद किया हुआ क्षणिक होता है।

वास्तविक स्मृति आत्म-चेतना पर निर्भर रहती है। हमारे मस्तिष्क में विचारों के फलस्वरूप जो चिह्न बन जाते हैं वही इस वास्तविक स्मृति के आधार का कार्य करते हैं। कुछ समय उपरान्त इसमें तथा आदत-जन्य स्मृति में कोई अन्तर नहीं अनुभव होता। परन्तु दोनों की उत्पत्ति भिन्नता के कारण मौलिक रूप से भी भिन्नता रहती है।

स्मरण-क्रिया के नियम[2]

अधिकतर देखा जाता है कि परीक्षा के दिनों में विद्यार्थी इतिहास के पन्ने के पन्ने कंठस्थ कर डालते हैं। वह अपनी स्मरण-शक्ति के बल पर ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं,परन्तु इस प्रकार से सीखी हुई सामग्री केवल इने-गिने दिन तक ही चलती है। इसका मुख्य क्या कारण है ? वास्तव में उन्होंने रटी हुई सामग्री के पारस्परिक सम्बन्ध या उसकी विशेषताओं की ओर ध्यान ही नहीं दिया। विषय के आन्तरिक सम्बन्ध को समझ लेने से स्मरण-शक्ति की नींव दृढ़ हो जाती है। उसमें प्रयोजनता की झलक मिलती है जिससे कि स्मरण की क्रिया अधिक सुगम तथा सुदृढ़ हो जाती है। यदि संख्या १५१८५७

1. Kinds of memory. 2. Laws of Memory.

एकाग्र चित्त होकर अपना ध्यान पुस्तकों की ओर ही लगा सके। स्थान ऐसा हो जहाँ बालकों को उचित प्रकाश तथा हवा प्राप्त होती रहे।

१. खण्डशः तथा समग्र याद करने की विधि[1]:

खण्डशः विधि वह विधि है जिसमें विषय-सामग्री को कई खंडों में विभाजित कर लिया जाता है और फिर उसे याद करने का प्रयत्न किया जाता है। समग्र विधि के अनुसार समस्त वस्तु को एक साथ ही याद किया जाता है।

अधिकतर देखा गया है कि बालक खण्डशः विधि ही अपनाते हैं। यह देखने से अधिक सुविधाजनक प्रतीत होती है। परन्तु आलोचकों का विश्वास है कि इस विधि को अपनाने से वस्तु का पारस्परिक सम्बन्ध टूट जाता है। यह न भूलना चाहिए कि समग्र वस्तु अपने खन्डों के समूह से कुछ और ही है।* उदाहरण के लिए यदि एक कविता को पंक्ति-पंक्ति में खंडित कर दिया जाय तो याद करने में सुगम तो अवश्य हो जायगी परन्तु विद्यार्थी उस पूर्ण कविता का पारस्परिक सम्बन्ध न समझ सकने के कारण उसके सौन्दर्य का आनन्द नहीं ले सकता।

लगभग सभी मनोवैज्ञानिक समग्र विधि की सफलता पर सहमत हैं। पाइन तथा सिन्डर का विश्वास है कि १४० पंक्तियों तक की कविता समग्र विधि की सहायता से कंठस्थ हो सकती है। वास्तव में हम इसके लिये एक निश्चित संख्या नहीं दे सकते। यह वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति मैकाले नहीं हो सकता।

मनवैज्ञानिक कालविन ने बीच का पथ अपना कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दोनों ही विधियाँ उपयोगी हैं। सर्वप्रथम समग्र विधि द्वारा वस्तु को पढ़कर समझने का प्रयत्न करना चाहिये, तत्पश्चात् खंडशः विधि द्वारा उसे याद कर लेना चाहिये। यह भी आवश्यक है कि स्मृति को जीवित रखने के लिये समय-समय पर याद की हुई वस्तु को दोहराते रहना चाहिये।

1. Put versus whole method.
*Whole is more than the parts.

१. याद करने की रीति[1] :

निरर्थक शब्द जिनकी संख्या ८ होती है एक छोटे नलाकार वाले पीपे पर व्यक्ति के सम्मुख घुमाये जाते हैं और जब उसे सब याद हो जाते हैं तो उन्हें दोहराने को कहा जाता है। इस प्रकार उस व्यक्ति की स्मृति की परीक्षा ली जाती है। ध्यान यह रक्खा जाता है कि वह व्यक्ति कितने बार देखने के बाद दोहराने में सफल हुआ।

२. बचाने की रीति[2] :

शब्दों की सूची बार-बार दिखाकर यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति ने हर बार अपना समय कितना बचा लिया अर्थात् उसे उस सूची को याद करने में कितना समय लगा। इस प्रकार बारी-बारी समय की तुलना करके उसकी स्मत्रि का नाप किया जाता है।

३. उकसाने की रीति[3] :

निरर्थक तथा सार्थक शब्दों की सूची याद कराकर दोहराते समय व्यक्ति को ठीक करने के हेतु उकसाया जाता है। ठीक-ठीक दोहराने के लिये उस व्यक्ति को कितनी बार उकसाया गया इससे स्मृति की नाप की जाती है।

४. गिनने की रीति[4] :

दो-दो शब्दों की सूची द्वारा जिनकी ध्वनि भिन्न-भिन्न हो, व्यक्ति से यह कहा जाता है कि एक शब्द बोलने के पश्चात् वह जोड़े का दूसरा शब्द पूरा करे। उदाहरणार्थ यदि 'सीटी' में से केवल 'सी' बोला जाता है तो व्यक्ति 'टी' कह कर उसे पूरा करता है। इस प्रकार उसकी स्मृति का अनुमान लगाया जाता है।

विस्मृति[5]

स्मृति के समान विस्मृति भी महत्त्वपूर्ण है। यदि मनुष्य अपनी अनेक चिन्ताओं तथा दुखद घटनाओं को भुलाने का प्रयत्न न करे तो वह सदैव ही दुखी तथा चिन्तित रहेगा। जिन बातों से स्मरण-शक्ति प्रबल होती है उनकी

---

1. Learning Method. 2. Saving Method, 3. Prompting method. 4. Scoring method. 5. Forgetting.

संशय का प्रादुर्भाव : संशय मानसिक दुर्बलता का प्रतीक है। इससे आत्म-विश्वास हटकर अनेक अवांछनीय संस्कार बन जाते हैं जिनके कारण विस्मृति हो जाना स्वाभाविक है।

भावना-ग्रन्थि का होना : प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ भावना-ग्रन्थियाँ होती हैं जिनकी सहायता से वह अनेक ऐसी घटनाओं को भुला देता है जो उसके जीवन-मंच पर हो चुकी हैं। इस प्रकार वह इनकी सहायता लेकर दुख से छुटकारा पा जाता है।

सारांश

अर्थ :

जीवन में स्मृति का महत्व, मनुष्य में चेतनता, चेतना से युक्त संचय ही स्मृति, अतीत का अनुभव स्मृति।

स्मृति के अंग :

सीखना, धारण करना, स्मरण करना, पहचान की शक्ति।

मस्तिष्क का कार्य :

अस्वीकृत ज्ञान का प्रभाव, स्मृति का आधार चुनाव, जन्मजात चिह्नों से स्मृति में सहायता, मनोवैज्ञानिक विधि की आवश्यकता।

स्वास्थ्य :

धारण शक्ति पर इसका प्रभाव, समय का महत्व, प्रातःकाल में सर्वोत्तम।

पुनर्स्मरण

विचारों का साहचर्य :

सम्बन्धित बात का स्मरण, वैपरीत्य, सहचारिता, नवीनता, और प्रबलता।

समानता :

रूप तथा गुण की समानता, समानता द्वारा एक से दूसरे की याद सम्भव।

विस्मृति

संस्कार की निर्बलता तथा रुचि के अभाव में विस्मृति होना।

विस्मृति पर परीक्षण, निष्क्रिय और सक्रिय विस्मृति।

असाधारण विस्मृति के कारण :

संशय का प्रादुर्भाव, संवेगों का उत्तेजित होना, भावना-ग्रन्थि।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. शिक्षा के क्षेत्र में स्मृति का क्या महत्त्व है?
२. स्मरण के करने के नियमों का उल्लेख कीजिए?
३. विस्मृति का क्या महत्त्व है? इसके मुख्य कारण क्या हैं?

के कार्य में संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार को आवश्यकता पड़ी कि अत्यल्प समय में तथा सामूहिक रूप में बुद्धि परीक्षण के आधार पर उचित रूप में सेना का सङ्गठन किया जाय। सामूहिक बुद्धि-परीक्षा के सिद्धान्त के सृजन में पीन्टर, लॉक्सीन, ओटिस, पाइल तथा थार्नडाइक आदि मनोवैज्ञानिकों द्वारा सराहनीय प्रयत्न किया गया। अन्ततोगत्वा ओटिस और टरमैन द्वारा निर्मित सामूहिक बुद्धि परीक्षा के सिद्धान्त सरकार की आवश्यकता की पूर्ति में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए और टरमैन द्वारा निर्मित प्रश्नों के आधार पर ४१ हजार सैनिक अधिकारियों तथा ६ लाख सैनिकों की बुद्धि परीक्षा ली गई।

सामूहिक परीक्षा विधि के अपवादों को दूर करने हेतु अशिक्षितों के लिए क्रिया-प्रश्न निर्धारित किये गये तथा बिने की वैयक्तिक शिक्षितों के लिये प्रथम श्रेणी की अल्फा तथा अशिक्षितों के लिए द्वितीय श्रेणी को बीटा नामक परीक्षायें निर्धारित की गईं। इन परीक्षा-पद्धतियों द्वारा २३ मिनट में २१२ प्रश्नों के उत्तर परीक्षार्थियों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में देना होता था। इन प्रश्नों का एक निश्चित उत्तर होता था जब कि बिने के प्रश्नों के २–३ उत्तर हो सकते थे।

उपर्युक्त परीक्षा विधि की उपादेयता से प्रभावित होकर अन्य मनोवैज्ञानिकों ने वैयक्तिक रूप से सामूहिक बुद्धि परीक्षा की पद्धति का संशोधित एवं परिमार्जित रूप प्रस्तुत किया।

वैयक्तिक बुद्धि परीक्षा[1]

वैयक्तिक बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नों के उत्तर मौखिक तथा क्रिया[2] प्रधान अथवा क्रिया प्रधान और मौखिक दोनों प्रकार के होते हैं। इस परीक्षा में समय अधिक लगता है तथा परीक्षा का संचालन एक ही व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है। परीक्षा कार्य प्रयोगशाला के कार्य के समान होता है। इस विधि के बुद्धि मापक प्रश्न सरलता से दुरूहता का अनुसरण करते हैं। आयु के क्रमानुसार बिने-प्रणाली के प्रश्नों के चयन का संक्षिप्त उदाहरण निम्न प्रकार से है।

1, Individual Test of intelligence. 2. Performance Test.

अवस्था वालों के लिए ६५ प्रश्न निर्धारित किए। साथ ही साथ ऊँची अवस्था वाले बालकों के प्रश्नों में क्रमानुसार विचार तथा तर्क-सम्बन्धी प्रश्नों का समावेश यथेष्ट रूप में किया। उदाहरणार्थ :

७ वर्ष की आयु वाले के लिए प्रश्न :

(१) अ ब से अधिक चतुर है और ब स से अधिक चतुर है तो बताओ अ ब तथा स में कौनसा सबसे अधिक चतुर है।

१५ वर्ष के वालों के लिए :

(१) आनन्द और सुख, कष्ट और दीनता का अन्तर बताओ ?

क्रिया परीक्षायें[1]: बुद्धि परीक्षा सम्बन्धी ये प्रश्न जिन पर हम विचार कर चुके हैं शिक्षित बालकों के लिए तो ठीक हैं परन्तु गूंगे, बहरे, अन्धे तथा अशिक्षित बालकों के लिए सर्वथा अनुपयोगी हैं। अत: इन बालकों की बुद्धि परीक्षा हेतु ऐसे प्रश्नों के निर्माण की आवश्यकता पड़ती है जिनके उत्तर में बालकों को कुछ समस्यापूर्ण व्यवहारिक कार्य करने पड़े। ये परीक्षायें विद्यार्थियों की मनोदशा, विश्वास, धैर्य, अर्न्तदृष्टि, धैर्य तथा बुद्धि के क्षमता की परिचायक होती हैं। ये परीक्षाएं फार्म-बोर्ड तथा सेनग्विनबोर्ड आदि के माध्यम द्वारा ली जाती हैं। इसके अतिरिक्त भूल-भुलैया[2] परीक्षा तथा पार्श्व दृश्य परीक्षाओं[3] की गणना भी इसी के अन्तर्गत की जाती है। इन परीक्षाओं के प्रश्नों के उत्तरों का क्रियात्मक रूप होता है। अतः बालक की बुद्धि का अनुमान उसके द्वारा किये गये कार्यों की उपयुक्तता पर लगाया जाता है।

मानसिक आयु[4] **तथा बुद्धि-लब्धि**[5] : बिने के मानसिक आयु के नियम के आधार पर टरमैन ने बुद्धि-लब्धि की विधि का निर्माण किया। बुद्धि लब्धि के आधार पर टरमैन ने व्यक्ति को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया। मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग देने में पश्चात भजनफल को १०० से गुणा कर देने पर जो गुणनफल आता है उसे ही बुद्धि-लब्धि कहा जाता

---

1. Performance Tests. 2. Maze Test. 3. Profile Tests. 4. Mental age. 5. Intelligence Quotient.

किया जा सके। इस प्रणाली में प्रयोग किए गये प्रश्नों के उत्तर निश्चित होते हैं। परीक्षा का समय ४० से ६० मिनट तक का होता है। इस परीक्षा द्वारा मन्द, साधारण तथा प्रखर बुद्धि के वर्गों में विद्यार्थियों को बाँटा जा सकता है। परीक्षा के प्रश्नों के चयन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका उत्तर- केवल हाँ या नहीं ही होता है। प्रश्न बालक के दैनिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं और उनके उत्तरों द्वारा यह अनुमान लगाया जाता है कि किस बालक में दैनिक जीवन की परिस्थितियों को सरल करने की किस सीमा तक क्षमता है। सामूहिक परीक्षा के मुख्य अंग निम्नलिखित हैं। इन्हीं के अनुसार प्रश्नों का चयन किया जाता है।

१. **शब्द-चयन की परीक्षा :** इसके द्वारा बालक के शब्द ज्ञान की परीक्षा होती है। इनसे शब्दों के उचित प्रयोग, उनके अर्थ तथा पर्याप्त के ज्ञान की परीक्षा ली जाती है।

२. **वर्गीकरण :** इसके अन्तर्गत ऐसे प्रश्न होते हैं जिनके द्वारा समान वर्गों की वस्तुओं के ज्ञान की परीक्षा होती है।

३. **भाग अथवा पूर्ण :** इसके अन्तर्गत एक वस्तु से दूसरे वस्तु के सम्बन्ध के ज्ञान की परीक्षा होती है।

इसी प्रकार अपूर्ण वाक्यों को पूरा करना, समानता, तर्क, आदेश-पालन, अङ्कगणित तथा चित्र-सम्बन्धी प्रश्नों का चयन इसके अन्तर्गत किया जाता है।

सामूहिक परीक्षा के प्रश्नों की जाँच :

सामूहिक बुद्धि-परीक्षा के प्रश्न-पत्रों का बनाना जितना हो कठिन है, उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच करना उतना ही सरल है। इसमें अङ्क देने का एक माध्यम निश्चित कर लिया जाता है। जिसे सामान्य[1] अङ्क कहते हैं। मध्यम श्रेणी के बालक द्वारा प्राप्त किया गया अङ्क ही सामान्य अङ्क मान लिया जाता है। जैसे परीक्षा में सम्मिलित १०० विद्यार्थियों में से योग्यतानुसार जो मध्य श्रेणी का होता है उसी के पाये हुए अङ्क को सामान्य अङ्क माना जाता है। इसी

1. Norm.

२. विभिन्न प्रकार की दो या तीन योग्यताओं का समूह बुद्धि है।

३. सभी विशिष्ट योग्यताओं का निचोड़ बुद्धि है।

इस प्रकार विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा बुद्धि पर की गई व्याख्याओं के आधार पर इसका पारिभाषिक रूप इस प्रकार निश्चित किया जा सकता है।

१. एक प्रकार की मानसिक सामान्य योग्यता ही बुद्धि है, परन्तु इसकी क्रियाओं के रूप विभिन्न हैं।

२. निम्न मानसिक प्रक्रियाओं में बुद्धि उतना क्रियाशील नहीं रहती जितनी कि उच्च मानसिक प्रक्रियाओं में।

३. बुद्धि-बल का प्रदर्शन उस समय होता है जब व्यक्ति को किसी नवीन परिस्थिति का सामना करना पड़ता है।

४. संस्कारों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेना ही बुद्धि का कार्य नहीं है, अपितु आवश्यकतानुसार अनुभव के विभिन्न अंशों की परीक्षा का उन्हें सुव्यवस्थित करना भी बुद्धि का लक्षण है।

बुद्धि तथा ज्ञान

प्रायः लोग ज्ञान तथा बुद्धि में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ऐसे लोगों का कहना है कि आयु के साथ-साथ ज्ञान की वृद्धि होती है तथा ज्ञान की वृद्धि के साथ बुद्धि का प्रकाश होता है, यही कारण है कि बुद्धि-परीक्षा में आयु अर्थात् ज्ञान-वृद्धि के अनुसार विभिन्न आयु के व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रश्न निर्धारित किये जाते हैं। इस प्रकार उपरोक्त परीक्षा बुद्धि परीक्षा न होकर ज्ञान-परीक्षा कही जा सकती है, परन्तु ऐसा नहीं है। य अवश्य है कि ज्ञान-परीक्षा के माध्यम द्वारा बुद्धि परीक्षा ली जाती हैं। पर बुद्धि-परीक्षा के प्रश्नों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसके द्वारा ऐसे ज्ञान की परीक्षा ली जाती है जिसे व्यक्ति अपनी सामान्य परिस्थितियों में स्वतः पा जाता है। इसे अर्जित करने हेतु उसे किसी प्रकार का अतिरिक्त परिश्रम नहीं करना पड़ता। बुद्धि प्रकृति-प्रदत्त होती है और ज्ञान

भारतवर्ष में बुद्धि परीक्षा की व्यवस्था तीन प्रकार से की जा सकती है।

(अ) पाश्चात्य देशों की बुद्धि परीक्षा प्रश्नावलियों को अनुदित करके प्रयोग किया जाय।

(ब) उपर्युक्त प्रश्नावलियों में देश की आवश्यकता एवं वातावरण के अनुसार संशोधन करके काम में लाया जाय।

(स) नवीन प्रश्नावलियाँ तैयार की जाय।

यद्यपि नवीन प्रश्नावलियों का निर्माण करना ही उपयुक्त होगा, परन्तु अभी इस दिशा में इतनी सफलता नहीं प्राप्त की जा सकी है। केवल भारतीय मनोवैज्ञानिकों द्वारा पाश्चात्य प्रणाली के संशोधनों एवं उनके परीक्षण के फलस्वरूप बुद्धि परीक्षा की प्रश्नावलियाँ तैयार की गई हैं तथा उनका प्रयोग किया जा रहा है। जैसा कि बताया जा चुका है उत्तर प्रदेशीय ब्यूरो आफ साइकॉलाजी, इलाहाबाद इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न कर रहा है। यहाँ से भी सामूहिक बुद्धि परीक्षा सम्बन्धी कई संशोधन निकल चुके हैं।

इस दिशा में इन संशोधनों से देश को वांछित लाभ प्रदान करना सम्भव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इनमें मौलिकता का सर्वथा अभाव है। जब तक ये प्रश्नावलियाँ बालकों के वातावरण पर आधारित न होंगी तथा उनमें मौलिकता न होगी तब तक इस दिशा में सफलता प्राप्त करना आकाश-कुसुम ही बना रहेगा।

सारांश

बुद्धि से परिचित होने के लिए बुद्धि परीक्षा का इतिहास जानना आवश्यक है।

बिने द्वारा नयी विधि बनाई गई। प्रश्नावली अवस्थानुसार बनी।

सामूहिक बुद्धि परीक्षा : अमेरिका द्वारा परीक्षण, अलफाबीटा टेस्ट तथा टरमैन क्रिया प्रश्न।

३. बुद्धि के विकास पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

४ बुद्धि-परीक्षा का क्या महत्व है? बुद्धि विकास से इसका क्या सम्बन्ध है?

५. बुद्धि परीक्षा की प्रश्नावली के निर्माण में किन बातों को दृष्टिगत करना आवश्यक है।

३. भारतवर्ष में बुद्धि परीक्षा की व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

वर्तमान निबन्ध परीक्षा का रूप तथा उपलब्धि परीक्षा की आवश्यकता :

जब तक अध्यापक को यह भली-भाँति नहीं ज्ञात हो जाता है कि कौन विद्यार्थी किस विषय में कितना ज्ञान प्राप्त कर सका है तब तक वह उचित रूप में उसका पथ प्रदर्शन नहीं कर सकेगा। बुद्धि-परीक्षा द्वारा यह सम्भव नहीं, क्योंकि बुद्धि परीक्षा द्वारा विभिन्न विषयों के अर्जित ज्ञान की परीक्षा नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त वर्तमान निबन्ध प्रणाली भी दोष मुक्त तथा पूर्णतया मनोवैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। वर्तमान निबन्ध परीक्षा के निम्नलिखित प्रमुख दोषों के कारण परीक्षा का उद्देश्य उचित रूप में नहीं पूर्ण हो पाता।

१. पाठ्य-विषय के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर याद करके बहुधा अयोग्य विद्यार्थी भी अच्छे अंक प्राप्त कर लेते हैं और इसके विपरीत योग्य विद्यार्थी विषय ज्ञान की क्षमता रखते हुए भी अयोग्य घोषित हो जाते हैं।

२. निबन्ध-परीक्षा-प्रणाली में भाषा-ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि किसी बालक का भाषा का ज्ञान अच्छा है तो अन्य विषयों के प्रश्नों के उत्तर को विषय-सम्बन्धी समुचित ज्ञान न होते हुये भी अच्छी प्रकार लिखकर अच्छे अंक प्राप्त कर लेता है।

३. प्रश्नों के उत्तर देने का समय केवल तीन घन्टा होता है। प्रश्न की कठिनाई के आधार पर प्रश्नों के अंक नहीं विभाजित किये जाते।

इन सब कारणों से विद्यार्थियों का ध्येय विषय का ठोस ज्ञान न प्राप्त करके उस विषय की परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करना हो जाता है। इस प्रकार विषय के ज्ञान प्राप्त करके उस विषय की परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करना हो जाता है। इस प्रकार विषय के ज्ञान-प्राप्ति पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाना। केवल परीक्षा सम्बन्धी प्रश्न विद्यार्थी याद कर लेता है जो परीक्षा के बाद ही विस्मृत हो जाते हैं।

निबन्ध-परीक्षा-प्रणाली के अतिरिक्त यदि हम बुद्धि परीक्षा द्वारा इस विषय में सफलता प्राप्त करना चाहें तो वह भी असम्भव है, क्योंकि समान बुद्धि वाले बालकों में किसी विषय के ज्ञानार्जन की समान शक्ति होते हुये भी

स्थान उपलब्धि आयु का है। उपलब्धि-परीक्षा के १० वर्ष की आयु के लिये निर्धारित प्रश्नों को कर लेने वाले परीक्षार्थी की उपलब्धि आयु १० वर्ष मान ली जाती है। इस परीक्षा के विषयों के कई भाग होते हैं। जैसे, हिन्दी की परीक्षा में भाषा लेख भावार्थ इत्यादि इन भागों में प्राप्त आयु के अनुपात के अनुसार ही परीक्षार्थी की उपलब्धि आयु निश्चित की जाती है।

ज्ञानलब्धि[1] :

मानसिक आयु, ज्ञान आयु तथा बुद्धि-लब्धि से हम परिचित हो चुके हैं। बुद्धि-लब्धि के अनुसार ही व्यक्ति की ज्ञान आयु में मानसिक आयु से भाग देकर पूर्णाङ्क प्राप्त करने हेतु भजनफल को १०० से गुणा करके ज्ञानलब्धि प्राप्त की जा सकती है। बुद्धिलब्धि को ज्ञात करने में मानसिक आयु में वास्तविक आयु से भाग दिया जाता है। परन्तु ज्ञानलब्धि जानने के लिये ज्ञान आयु में मानसिक आयु से भाग दिया जाता है। इसका कारण यह है कि ज्ञान परीक्षा द्वारा यह जानने का प्रयास किया जाता है कि शिक्षक शिक्षार्थी की मानसिक आयु के अनुसार अपने कार्य में किस सीमा तक सफल है। ज्ञान-लब्धि की न्यून मात्रा का कारण शिक्षक अथवा शिक्षार्थी की कमजोरी तथा वातावरण की अनुपयुक्तता हो सकती है। इस कमी की पूर्ति करके ज्ञानलब्धि बढ़ाई जा सकती है, परन्तु बुद्धिलब्धि का बढ़ाना असम्भव है और ज्ञानलब्धि तथा बुद्धिलब्धि में यही अन्तर है। ज्ञानलब्धि के आविष्कारक बेंकिंघान और ड्बलू० एस० मुनरो है।

शिक्षालब्धि[2] :

बालकों के विकास के लिये यदाकदा यह जानने की आवश्यकता पड़ जाती है कि वह अमुक विषय में किस बात से कितना आगे अथवा पीछे है और यदि वह बालक सामान्य बुद्धि का होता तो विषय सम्बन्धी ज्ञान की किस सीमा तक पहुँच सकता है। इसके लिए ज्ञान आयु में वास्तविक आयु से भाग देकर पूर्णांक बनाने के लिये १०० से गुणा करके शिक्षा-लब्धि निकाली

---

1. Achievement Quotient. 2. Educational Quotient.

किसी की भौंहें तनी हैं तो उसे क्रोधी की श्रेणी में रख लेते हैं। यदि चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी होती हैं तो उसे उदासीन समझ लिया जाता है। ऐसा अनुमान लगाना अमनोवैज्ञानिक है और यह अनुमान कभी-कभी बड़ा ही हानिकारक सिद्ध होता है।

साक्षात्कार द्वारा स्वभाव का अनुमान[1] : साक्षात्कार द्वारा किसी व्यक्ति के स्वभाव की जाँच करने की विधि व्यक्तिगत राय बना लेने वाली विधि से अच्छी है। इसमें व्यक्ति के वातावरण का ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुसार मौखिक तथा लिखित प्रश्नों के आधार पर व्यक्ति के स्वभाव का अनुमान किया जाता है।

शब्दों द्वारा स्वभाव-विश्लेषण[2] : इस विधि का आविष्कार गाल्टन ने किया है। बिने ने भी इसे अपनाया था। परन्तु इसको अत्यधिक मनोवैज्ञानिक बनाने का श्रेय डा० युंग को है। इस विधि में व्यक्ति के सामने कुछ शब्द रखकर उन शब्दों से सम्बन्धित उसके विचारों को प्रकाशित कराया जाता है। इस प्रकाशन की सामान्य-प्रकाशन की सूची से तुलना करके स्वभाव के विषय में अनुमान लगाया जाता है। सामान्य सूची परीक्षण के आधार पर तैयार की जाती है।

कागज द्वारा स्वभाव परीक्षा[3] ; इस विधि के निर्माण में कठिनाई तो अवश्य है, परन्तु इसकी परीक्षा बुद्धि तथा ज्ञान परीक्षा की भाँति होती है। इस विधि के तीन अंग होते हैं। एक कागज पर व्यक्तियों की रुचि, अरुचि तथा विचार आदि के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न होते हैं। व्यक्ति को उसका उत्तर कागज़ की दूसरी ओर लिखना होता है। इस पद्धति में परीक्षार्थी सत्य को छिपा भी सकता है। दूसरे अंग में व्यक्ति के नैतिक तथा सामाजिक गुणों से सम्बन्धित प्रश्न पूछ कर उसकी परीक्षा की जाती है। इसमें शब्दों की परिभाषा तथा उनके समस्यापूर्ण निर्णय भी पूछे जाते हैं। तीसरी पद्धति के अनुसार जिस पृष्ठ पर नैतिक गुणों से सम्बन्धित प्रश्न होते हैं उनकी दूसरी

---

1. Interview. 2. Psycho-analytic method of word association. 3. Paper-pencil Test.

सम्भव है, फिर भी इनके द्वारा किसी के स्वभाव की पूरी जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती, क्योंकि मानव मस्तिष्क का नियन्त्रण सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। इसके फलस्वरूप स्वभाव का मनोविश्लेषण यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। मानव स्वभाव में वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन का होना स्वाभाविक है। किसी कारण विशेष वश आज का गम्भीर व्यक्ति कल उच्छृङ्खल हो सकता है। उसकी संवेगात्मक प्रवृत्तियाँ बदलती रहती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि स्वभाव परीक्षाओं के आधार पर व्यक्ति के कुछ स्वाभाविक गुणों का केवल अनुमान लगाया जा सकता है।

झुकाव परीक्षा[1]

झुकाव परीक्षा की आवश्यकता :

बुद्धि, ज्ञान और स्वभाव परीक्षा के अतिरिक्त शिक्षा को और अधिक लाभकारी बनाने के लिये बालकों की झुकाव परीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। बहुधा देखा गया है कि अच्छे स्वभाव, अच्छी बुद्धि और ज्ञान रखते हुए भी बालक किसी-किसी विषय में कमज़ोर रहता है और किसी-किसी में अपेक्षाकृत अधिक तीव्र। इसका मूलकारण बालक की विषय सम्बन्धी रुचि अथवा झुकाव है। जिस विषय में बालक का झुकाव होगा; उसमें वह अवश्य ही अच्छा रहेगा। अतः रुचिकर विषय के अध्ययन का अवसर प्रदान करने के लिए झुकाव-परीक्षा की व्यवस्था होना अत्यन्त आवश्यक है।

झुकाव परीक्षा पर न ध्यान देने से देश तथा समाज का भी बड़ा अहित होता है। जब झुकाव के विरुद्ध किसी विषय का अध्ययन बालकों को करना पड़ता है तो अध्ययन में स्वभावतया उनका मन नहीं लगता। किसी प्रकार विषय को रट कर परीक्षा पास कर लेना ही उनका ध्येय रह जाता है। यही कारण है कि शिक्षा का स्तर बहुत गिरता जा रहा है। अतः उचित होगा कि छोटी कक्षाओं में ही बालक की झुकाव परीक्षा लेकर उसी के अनुसार उसकी शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

---

१. Aptitude Testing.

सारांश

उपलब्धि तथा बुद्धि परीक्षा में अन्तर :

बुद्धि-परीक्षा में ज्ञान साधन और उपलब्धि परीक्षा में वह साध्य होता है।

वर्तमान निबन्ध परीक्षा का रूप तथा उपलब्धि की आवश्यकता :

प्रचलित परीक्षा में विषय-ज्ञान को भाषा का विशेष ज्ञान छिपा देता है। अनुमान द्वारा अयोग्य विद्यार्थी भी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। उत्तर पुस्तिकाओं की जांच उचित रूप में नहीं हो पाती, ये बुराइयाँ बुद्धि-परीक्षा द्वारा भी नहीं दूर हो सकतीं अतः उपलब्धि परीक्षा आवश्यक है।

उपलब्धि परीक्षा के प्रश्न :

प्रचलित परीक्षा की सभी बुराइयाँ इससे दूर की जा सकती हैं। निश्चित उत्तर तथा निश्चित अंक अनुमान का स्थान नहीं।

ज्ञान-लब्धि :

मानसिक आयु से ज्ञान आयु को भाग देकर निकालना समुचित ज्ञान-लब्धि का न होना अध्यापक अथवा बालक की कमजोरी का प्रदर्शक।

स्वभाव अथवा व्यक्तित्व परीक्षा की आवश्यकता :

बालक की उन्नति में उसके स्वभाव का भी योग होता है। शिक्षक को बालक के चरित्र और स्वभाव का ज्ञान आवश्यक। व्यक्ति के व्यवहार के जानने का प्रयत्न अधिकारों तथा कर्त्तव्य पर स्वभाव का प्रभाव। अतः स्वभाव परीक्षा आवश्यक। इसके द्वारा केवल गुण-दोषों का निर्धारण। व्यक्ति की विशेषताओं का इससे ज्ञान नहीं होता। केवल प्रश्नों की सहायता से अनुमान लगाया जाता है।

स्वभाव परीक्षा के प्रकार :

१. व्यक्तिगत विचार, २. साक्षात्कार द्वारा स्वभाव का अनुमान, ३. शब्दों द्वारा स्वभाव विश्लेषण, ४. कागज़ द्वारा स्वभाव परीक्षा, ५. गति परीक्षा, ६. प्रयोगशाला की पद्धति।

६५

मानसिक स्वास्थ्य

प्रत्येक व्यक्ति के लिए जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य आवश्यक है उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य भी उसके जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है। मानसिक अस्वस्थता समाज को दूषित बना देती है। अत: बालक की सर्वांगीण उन्नति के लिए आवश्यक है कि शिक्षक उसके मानसिक स्वास्थ्य का ज्ञान प्राप्त करके उसे उचित रूप में विकसित होने का अवसर प्रदान करे। बालक का यह विकास समाज को उन्नत बनाने में सफल सिद्ध होगा।

परिपक्व भावना :

परिपक्व भावना वाले व्यक्ति में अपने भावों को उचित रूप में व्यक्त करने की क्षमता होती है। वह अपनी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित कर सकता है। ऐसे व्यक्ति अन्य सामाजिक व्यक्तियों के सत्व, अधिकार तथा आवश्यकताओं से भली-भाँति परिचित होते हैं। समाज की जटिल से जटिल परिस्थितियों से टक्कर लेने की ये योग्यता रखते हैं तथा गंभीरतापूर्वक अपने को सहिष्णुता, संयमी तथा उत्तरदायी बना कर समाज का नेतृत्व कर सकते हैं। भावना की परिपक्वता जिन पर आधारित है उनकी ओर नीचे संकेत किया जा रहा है।

मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें :

भावना का विकास बहुत कुछ शारीरिक कारणों पर भी आधारित है। अत: किसी बालक की भावना को विकसित करने के प्रयत्न में सर्वप्रथम हमें उसकी शारीरिक स्थित का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ये ऐसे कारण हैं जिनको दूर करने में बालक प्रायः असमर्थ होता है। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम हम बालक के विषय में यह जानकारी प्राप्त करें कि उसमें कितनी बुद्धि है, जन्मजात कोई शारीरिक रोग तो नहीं है, अथवा पैतृक रूप में उसे कोई

हो सकता है कि वे उतने दृढ़ तथा गहन नहीं होते जितना कि माँ के सम्बन्ध। बच्चे के माता-पिता के आभास के प्रेमपूर्ण व्यवहार तथा शुद्ध आचरण का बच्चे के संवेगात्मक विकास पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। सामाजिक सम्बन्ध की शिक्षा का श्री गणेश बच्चा सर्वप्रथम परिवार ही में करता है। शनैः शनैः वह भाई-बहिन के अधिकारों और माता-पिता के सम्बन्ध को समझने की क्षमता प्राप्त करता है। उसमें विरोध तथा ईर्षा की भावनायें उत्पन्न होती हैं। बच्चों की ये भावनायें कहाँ तक माता-पिता द्वारा नियन्त्रित हो पाती हैं, बच्चे की इन भावनाओं में क्या वृत्ति है तथा वह उन्हें संयमित करने में किस सीमा तक सफल होता है इन्हीं बातों पर बालक का वाह्य सामाजिक सम्बन्ध आधारित होता है। बालक का सर्वप्रथम वाह्य सामाजिक सम्बन्ध स्कूल के साथियों से होता है। यदि परिवार द्वारा उसकी मूल मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति उचित रूप में हुई रहती है तो वह इस वाह्य समाज में आनन्द की अनुभूति करता है। वह समूह की माँग की पूर्ति करने में सफल तथा उसके उत्तरदायित्व को निभाने के योग्य होता है। इन सामाजिक अनुभव द्वारा ही बालक दूसरे के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ अपने कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व को विवेकात्मकता के साथ समझने की क्षमता प्राप्त करता है। इसके विपरीत यदि माता-पिता के दुर्व्यवहार से बालक का व्यक्तित्व विकृत हो चुका रहता है तो उसके सामाजिक सम्बन्धों का विकास कुण्ठित हो जाता है। यह असंतोषजनक पारिवारिक सम्बन्ध निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न होते हैं।

बच्चे के विकास सम्बन्धी हानिकारक पारिवारिक सम्बन्ध :

किसी विशेष परिस्थिति अथवा अज्ञानतावश माता-पिता के सतर्क न रहने से बालक के साथ माता-पिता का कुछ ऐसा व्यवहार हो जाता है जो बालक की संवेगात्मक उन्नति में बाधक होता है।

इनके निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं : १. अत्यधिक लाड़-प्यार, २. बलपूर्वक अधिकार, ३. ईर्षा, और ४. उपेक्षा। अधिक लाड़-प्यार से बालक

है। अनाथालय तथा पारिवारिक बच्चों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनाथ बच्चे सदैव अपनी भावनाओं की पूर्ति कल्पना द्वारा किया करते हैं; फलतः उनमें अभिव्यक्ति का अभाव रहता है। उनका काल्पनिक प्रासाद बार-बार गिरकर उन्हें हतोत्साह करता रहता है। उनमें किसी वस्तु के तोड़ने-फोड़ने तथा चोरी की आदतें अधिक पाई जाती हैं। उनके व्यवहार में किंचित मात्र की सामाजिकता नहीं होती।

अर्द्ध विकसित बच्चे :

ऐसे बच्चे जिन्हें बचपन में अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकसित होने के साधन नहीं सुलभ होते उनके द्वारा समाज की उन्नति की कल्पना करना पानी पर पत्थर तैराने के बराबर है। उनसे समाज का मंगल नहीं हो सकता। बच्चों का विकास जिन कारणों से नहीं हो पाता वे निम्नलिखित हैं। इनकी पूर्ति ही बालक के संवेगात्मक विकास में सहायक सिद्ध हो सकती है। ये कारण मुख्यतया दो प्रकार के हैं। प्रथम मौलिक और आन्तरिक कारण तथा द्वितीय परिस्थितिगत और वाह्य कारण। मौलिक और आन्तरिक कारणों के अन्तर्गत आने वाली परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं :

१—दोषपूर्ण पारिवारिक सम्बन्ध जिसके अन्तर्गत गृह कल संघर्ष, गृहत्याग तथा विवाह-सम्बन्ध विच्छेद आते हैं।

२—घर के वातावरण का प्रेम युक्त न होना। यह प्रायः घर के महत्वपूर्ण प्रौढ़ व्यक्ति के सम्मान की अवहेलना तथा ममता और प्रेम के अभाव के कारण होता है। बालक के व्यक्तित्व पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। फलतः बालक का व्यक्तित्व प्रेम-शून्य होता है। ऐसे बालक जो अपने जीवन के प्रथम पाँच वर्षों में ६ महीने से अधिक माँ से विलग रहे हों, उनके व्यक्तित्व के विकास पर इसका अधिक प्रभाव पड़ता है।

३—बच्चे के लिए माता-पिता का आदर्श रूप में न होना उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए हानिकारक होता है। यदि माँ-बाप बच्चे के समक्ष आदर्श उपस्थित करके उसको नागरिकता का बोध नहीं करा पाते तो इस अभाव की

१. बच्चों के विकास हेतु निर्देश की पर्याप्तता; विशेषतया जच्चे तथा बच्चे के कल्याणार्थ ऐसी सेवायें जो माता पिता को भी निर्देषित कर सकें।

२. स्कूल, घर तथा समाज में सहयोग स्थापित हो। बालकों के सर्वांगीण विकास और प्रगति पर स्कूल द्वारा विशेष ध्यान दिया जाय। बालक को स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने की उचित प्रेरणा और साधन तथा सुविधायें सुलभ हों।

३. सामाजिक परिस्थितियाँ विकास के अनुकूल हों और समाज द्वारा बालक के मनोरंजन के पर्याप्त साधन तथा सुविधायें प्रदान की गई हों।

ये ऐसी सुविधायें हैं जिनसे बालक का उत्तरोत्तर विकास होता रहता है और उसे मानसिक आरोग्य प्राप्त होता है।

सारांश

व्यक्ति की मानसिक विकृति समाज के अमंगल का कारण बनती है। अतः शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों की सर्वांगीण उन्नति के लिए उनके मानसिक आरोग्य पर भी यथेष्ट ध्यान दें।

परिपक्व भावना : किसी व्यक्ति की भावना की परिपक्वता का तात्पर्य उसकी उन भावनाओं से है जिसे वह उचित रूप में व्यक्ति करने की क्षमता रखता हो। वह दूसरे के सत्य तथा अधिकारों से पूर्णतया परिचित होकर उनकी सुरक्षा तथा समाज के नेतृत्व की क्षमता रखता हो।

मूल मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें : ये आवश्यकतायें निम्नलिखित हैं। बालक के संवेगात्मक विकास के लिए इन आवश्यकताओं की पूर्ति अत्यन्त आवश्यक है। १. माता पिता का स्नेह युक्त सम्बन्ध, २. सुरक्षा की भावना, ३. अपनत्व की भावना।

अच्छे सामाजिक सम्बन्धों का महत्व : बालक के संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास में माता का महत्वपूर्ण स्थान है। माँ का स्नेह शिशु में प्रेम की भावना उत्पन्न करता है। स्नेह के अभाव में शिशु में घृणा के भाव उत्पन्न हो

सप्तम खण्ड: विद्यालय-संगठन

६६

प्रधानाध्यापक

प्रधानाध्यापक विद्यालय का कर्णधार तथा छात्रों और अध्यापक का पथ-प्रदर्शक है। अतः उसमें कुछ गुणों की अपेक्षा की जाती है। नीचे हम इनकी ओर संकेत कर रहे हैं :—

प्रधानाध्यापक के गुण

१. उच्च चरित्र :

प्रधानाध्यापक को ऐसे चरित्र का होना चाहिए कि सभी अध्यापक और छात्र उससे प्रेरणा ले सकें। चरित्र के ऊँचा न रहने पर वह दूसरों के समक्ष उचित आदर्श न रख सकेगा।

२. शिष्टता :

प्रधानाध्यापक का आचार, व्यवहार और मुद्रा ऐसी हो कि उससे शिष्टता टपके और सभी लोग उसमें विश्वास रक्खें, तथा उसे आदर की दृष्टि से देखें।

३. आशावादी :

प्रधानाध्यापक को आशावादी होना चाहिए, अन्यथा पग-पग पर वह अध्यापकों और छात्रों को निरुत्साह करता रहेगा। उसे अपने जीवन में रुचि और मानव-शक्ति में विश्वास होना चाहिए। उसे इस धारणा का होना चाहिए कि प्रयत्न करने पर व्यक्ति अपने जीवन में कुछ भी कर सकता है। उसे अपने व्यवसाय अर्थात् अध्यापन-कार्य में पूर्ण-विश्वास होना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं है तो इसका उसके सहयोगियों पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा।

१०. व्यावसायिक ज्ञान :

प्रधानाध्यापक को शिक्षा-सम्बन्धी साहित्य का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। उसे शिक्षा-संहिता (एडूकेशन कोड) तथा शिक्षा-विभाग के विभिन्न नियमों का पूरा ज्ञान होना चाहिए। विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के उद्देश्यों का उसे ज्ञान होना चाहिए।

११. कार्यदक्षता :

विद्यालय में समय-समय पर विभिन्न परिस्थितियों का आते रहना बड़ा स्वाभाविक है। इन परिस्थितियों के अनुसार ठीक कदम उठाने की प्रधानाध्यापक में क्षमता होनी चाहिए।

१२. सुधार लाने में शीघ्रता नहीं :

प्रधानाध्यापक को किसी सुधार को लाने में शीघ्रता न करनी चाहिए। कोई सुधार लाने के पूर्व उसे सभी परिस्थितियों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और यथा सम्भव अध्यापकों, छात्रों और अभिभावकों से परामर्श अवश्य कर लेना चाहिए।

प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व[1]

प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व अनेक हैं। विद्यालय की उन्नति का उत्तरदायित्व उसी पर है और विद्यालय के सभी कर्मचारियों, छात्रों, अध्यापकों तथा अभिभावकों के प्रति उसका कर्त्तव्य है। कहने का अर्थ यह है कि उसे यह देखना है कि विद्यालय का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है। नीचे हम प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की ओर संकेत कर रहे हैं।

१. अध्यापक के रूप में :

प्रधानाध्यापक को इतने अधिक कार्य करने पड़ते हैं कि दो या ढाई घण्टे से अधिक समय वह अध्यापन के लिए नहीं दे सकता। परन्तु कम से कम इतने समय के लिए कक्षाध्यापन करना उसके लिए आवश्यक है।

---

1. Duties and Responsibilities.

निर्धारित पाठ्य-क्रम के प्रायः सभी अंगों पर आधारित हैं और वे उपयुक्त हैं। उसे यह देखना चाहिये कि प्रश्न-पत्र पर समय की अवधि, निर्धारित अंक तथा वैकल्पिक प्रश्न भी छपे हैं।

विद्यालय की प्रगति

विद्यालय की प्रगति के लिए प्रधानाध्यापक ही प्रधानतः उत्तरदायी है। अतः उसे देखना चाहिए कि छात्रों की शारीरिक, मानसिक और भौतिक उन्नति में विद्यालय के कुप्रबन्ध के कारण कोई गड़बड़ी नहीं हो रही है। उसे यह देखना चाहिए कि विद्यालय में सदैव एक नैतिक वातावरण विद्यमान रहे।

पाठ्य-पुस्तकें

प्रधानाध्यापक को यह देखना चाहिए कि स्वीकृत पुस्तकों में से सबसे उपयुक्त पुस्तक ही छात्रों के लिए चुनी जा रही हैं। इस विषय में उसे अध्यापकों से परामर्श कर लेना चाहिए। किसी प्रकाशक अथवा लेखक के दबाव में आकर उसे किसी पुस्तक को नहीं चुनना चाहिए।

छात्रावास

छात्रावास के लिए एक अधीक्षक[1] अवश्य नियुक्त किया जाता है, परन्तु इस सम्बन्ध में प्रधानाध्यापक को भी यह देखना है कि छात्रावास के उद्देश्यों की पूर्ति में कोई बाधा तो नहीं पड़ रही है। अतः उसे समय-समय पर छात्रावास के निरीक्षण के लिए पहुँचते रहना चाहिए। इस निरीक्षण में उसे कभी सुबह, कभी शाम और कभी रात्रि को आना चाहिए, जिससे उसे छात्रावास के सभी पहलुओं का ज्ञान हो जाय। छात्रावास में छात्रों के कमरे, भोजनालय, बरामदे, स्नानागार, मूत्रालय, नालियाँ, शौचालय तथा आस-पास के स्थान आदि सभी का उसे निरीक्षण करके आवश्यक निर्देश देना चाहिए।

अभिभावक

प्रधानाध्यापक को अभिभावकों के साथ बहुत अच्छा सम्बन्ध रखना चाहिए। समय-समय पर उसे उन्हें विद्यालय में आमन्त्रित करना चाहिए जिससे

---

1. Superintendent.

विद्यालय प्रारम्भ होने के दस मिनट पहले ही प्रधानाध्यापक को आ जाना चाहिए। कार्य प्रारम्भ हो जाने पर उसे एक बार विद्यालय का निरीक्षण कर लेना चाहिए जिससे उसे यह ज्ञात हो जाय कि विद्यालय का कार्य कैसा चल रहा है। इसके बाद वह कार्यालय में डाक देख सकता है और आगन्तुकों से मिल सकता है। यथासम्भव उसे नित्य प्रत्येक कक्षा में जाना चाहिए, चाहे वह उसमें झाँक करके ही क्यों न चला आये। उसे सुस्त तथा अनुशासन-हीन छात्रों से बात करके उन्हें ठीक रास्ते पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे देर से आये हुए छात्रों और अध्यापकों से प्रेम-पूर्वक बात करके उनकी देरी का कारण पूछना चाहिए। कार्यालय के कार्य का भी उसे निरीक्षण करना चाहिए :

सारांश

प्रधानाध्यापक विद्यालय का कर्णधार और छात्रों व अध्यापकों का पथ-प्रदर्शक है।

उसे ऊँचे चरित्र का होना चाहिए। उसमें शिष्टता कूट-कूट कर भरी हो। उसे आशावादी और प्रेरणादायक होना चाहिए। उसका स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिए। वह विद्वान् हो। वह मनुष्यों में रुचि रक्खे। एक कुशल-प्रबन्धक हो। उसके पास व्यावसायिक ज्ञान हो। विभिन्न परिस्थितियों को समझे बिना कोई सुधार लाने में उसे शीघ्रता न करनी चाहिए।

कक्षाध्यापन करना आवश्यक। रजिस्टरों का निरीक्षण, अध्यापन कार्य का निरीक्षण करना। छात्रों के लिखित कार्य का निरीक्षण करना। विद्यालय की प्रगति के लिए प्रधानाध्यापक उत्तरदायी। पाठ्य-पुस्तकों के चुनाव में सतर्क रहना। प्रधानाध्यापक को छात्रावास पर भी निगरानी रखनी चाहिए। अभिभावकों के साथ सद्व्यवहार करना। विद्यालय में एक अच्छी ध्वनि, रीति अथवा परम्परा करना। पाठ्य-क्रम सहगामी क्रियाओं का निरीक्षण करना।

प्रधानाध्यापक को समाज में प्रचलित बुराइयों को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए।

६७

अध्यापक और उनका कार्य-वितरण

आज की शिक्षा बाल-केन्द्रित समझी जाती है। तथापि बालक की शिक्षा में अध्यापक के स्थान की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि अध्यापक पथ-प्रदर्शक के रूप में बालक के साथ विद्यमान ही रहता है, और शिक्षा की सफलता बहुत हद तक उसकी निर्देशन-शक्ति तथा प्रणाली पर ही निर्भर करती है। अतः अध्यापकों में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है। नीचे हम इन्हीं गुणों की ओर संकेत करगे।

गुण

चरित्र : अध्यापक को बालक सभी बातों में आदर्श मानता है और उसका अनुकरण करने का प्रयास करता है। अतः अध्यापक को बड़े ही ऊँचे चरित्र का होना चाहिए जिससे बालकों के सामने वह कोई गलत आदर्श न रख दे। यदि अध्यापक चरित्रवान् है तो उसकी अमिट छाप बालकों पर पड़ेगी। अतः अध्यापक को परिश्रमी, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा-भाव, परोपकार, सत्यवादिता, तथा स्वच्छता आदि सभी गुणों का निधान होना चाहिये।

बच्चों से प्रेम : अध्यापक को बच्चों के साथ प्रेम करना चाहिए। यदि उसके हृदय में बालकों के लिए स्नेह और आदर नहीं भरा है तो उसे अध्यापक नहीं होना चाहिये।

दीक्षित होना : अध्यापक को दीक्षित होना चाहिये। दीक्षा के समय उसे शिक्षा-शास्त्र-सम्बन्धी सभी बातें समझाई जाती हैं। उसे बाल मनोविज्ञान तथा शिक्षा मनोविज्ञान का ज्ञान दिया जाता है। इन सबके ज्ञान के बिना वह अपना कार्य अच्छी तरह नहीं कर सकता।

आशावादिता : अध्यापक को आशावादी होना चाहिये। आशावादी अध्यापक बालक को आशावादी बनाता है और निराशावादी अध्यापक बालकों को निराशावाद की ओर अनजान में ले जाता है। आशावादी अध्यापक बालकों के विकास में विश्वास रखता है और कठिनाइयों से लड़ने के लिये तैयार रहता है। ये सभी प्रवृत्तियाँ वह बालकों में डालने में समर्थ होता है।

मौलिकता : अध्यापक में इस गुण के होने से अवसर पर वह किसी समस्या का मौलिक सुलझाव निकाल सकता है, और इस प्रकार बालकों को भी मौलिकता की ओर वह अभिप्रेरित करता रहेगा।

शीघ्र निर्णय : विद्यालय के कार्य में कई ऐसे अवसर आते हैं जहाँ शीघ्र निर्णय करने की आवश्यकता होती है। अतः अध्यापक में इस शक्ति का होना आवश्यक है, अन्यथा छात्रों पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा।

आत्म-सम्मान : व्यक्ति का आत्म-सम्मान उसे बहुत आगे बढ़ा देता है। इसके अभाव में व्यक्ति किसी भी समय गर्त में गिर सकता है। यदि अध्यापक में यह गुण है तो इसे वह छात्रों को भी दे सकता है।

प्रखर अन्वेषण-शक्ति : कक्षा में विभिन्न प्रकार के छात्र होते हैं। तदनुसार उनकी कठिनाइयाँ भी विविध होती हैं। प्रखर अन्वेषण-शक्ति वाला ही अध्यापक कक्षा में पाये जाने वाले वैयक्तिक वैभिन्य को समझकर उसके लिए समुचित उपाय कर सकता है।

अध्यापकों में कार्य वितरण

अध्यापकों में कार्य-वितरण करते समय प्रधानाध्यापक को कई बातों पर ध्यान देना चाहिये। प्रधानाध्यापक की यह धारणा न होनी चाहिए कि कोई व्यक्ति किसी भी कार्य को नहीं कर सकता। साथ ही, उसे यह भी याद रखना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य को नहीं कर सकता। नीचे हम उन बातों की चर्चा कर रहे हैं जिन्हें अध्यापकों में कार्य-वितरण के समय प्रधानाध्यापक को याद रखना चाहिए :—

कार्य-वितरण में प्रधानाध्यापक को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए :—

१. कार्य-वितरण में प्रधानाध्यापक को सभी अध्यापकों को अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जिससे कार्यक्रम ऐसा बने कि अध्यापक उसे स्वनिर्मित समझकर उसमें पूरा सहयोग दे। प्रधानाध्यापक को अध्यापक की कार्य-क्षमता में विश्वास रखना चाहिये और उसे यह न समझना चाहिये कि उसके अलावा और कोई कुछ नहीं जानता। कार्य-वितरण के बाद प्रत्येक अध्यापक को अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। जनतन्त्रात्मक व्यवस्था की यह माँग है। इस माँग की पूर्ति से ही सब में जनतन्त्रात्मक विचारों का प्रचार हो सकेगा।

२. कार्य-वितरण में सभी अध्यापकों पर समान दृष्टि रखनी चाहिए। ऐसा न हो कि किसी अध्यापक को अधिक कार्य दे दिया जाय और किसी को कम, ऐसा करने से अध्यापकों में असन्तोष फैला रहता है।

३. कार्य-वितरण में प्रत्येक अध्यापक को अवश्य सुविधायें देनी चाहिए।

४. कार्य-वितरण के बाद प्रधानाध्यापक को कार्य का पूर्ण निरीक्षण करना चाहिए और प्रत्येक अध्यापक के सम्बन्ध में अलग-अलग पुस्तक में उसे रिपोर्ट लिखनी चाहिए।

५. समय-समय पर अध्यापकों की बैठक कर कार्य-वितरण-व्यवस्था के सम्बन्ध में परामर्श करना चाहिए। जो कार्य अधिकांश अध्यापकों की राय से किया जायगा वह अवश्य ही उत्तमोत्तर होगा।

हमारे अध्यापकों को अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त अन्य भी कई कार्य जैसे : उपस्थित-रजिस्टर रखना, फीस लेना, अङ्क-रजिस्टर रखना तथा डायरी रखना आदि करने पड़ते हैं। इस प्रकार हमारे अध्यापक भार से अवश्य ही बोझित हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें अधिक से अधिक सहायता, प्रोत्साहन और सलाह देना चाहिए। यदि साथ ही, उन्हें आवश्यक सुविधायें भी प्रदान की जाँय तो

६८

छात्रों का प्रवेश तथा वर्गीकरण

विद्यार्थियों का प्रवेश तथा उनका वर्गीकरण लगभग एक ही विषय है। छात्रों के प्रवेश का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :

विद्यालय में छात्रों का प्रवेश :

विद्यालय के प्रधानाध्यापक के समक्ष प्रथम एवं प्रमुख समस्या विद्यार्थियों के प्रवेश की है। प्राय: अभिभावक यह प्रयत्न करते हैं कि उनके बच्चे का प्रवेश यथासम्भव उच्च कक्षा में हो। परन्तु प्रधानाध्यापक को चाहिए कि बच्चे की योग्यता, आयु, स्वास्थ्य तथा किसी विषय के ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार ही उसे उचित कक्षा में भर्ती करे।

आज का बालक ही कल देश का नागरिक होता है। समाज तथा देश की सभ्यता तथा सर्वांगीण उन्नति का भार उसी पर होगा। अतः बालक के विकास का कार्य बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण है। अतः बालकों की शिक्षा का उचित ढङ्ग में होना बड़ा आवश्यक है। इन बातों को दृष्टगत करते हुए शासन की ओर से शिक्षा-सम्बन्धी कुछ नियम बना दिये गये हैं। देश की आर्थिक स्थिति सुसम्पन्न न होने के कारण बच्चों के लिए शिशुशालाओं का प्रबन्ध पर्याप्त संख्या में नहीं हो सकता। फलतः बच्चे कुटुम्ब के वातावरण से निकल कर सीधे प्राइमरी पाठशालाओं में आते हैं।

शिक्षा संहिता[1] में विद्यार्थियों के प्रवेश-सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। उनकी आयु के अनुसार ही उन्हें निम्नलिखित कक्षाओं में भर्ती किया जा सकता है। आयु के लिए प्रधानाध्यापक का संतुष्ट होना आवश्यक है। बिना अभिभावक

---

1. Educational Code.

२—पूर्व माध्यमिक कक्षाओं में ३५

३—हाईस्कूल[1] में ४०

४—इन्टरमीडिएट[2] कक्षाओं में ५०

बालक का किसी कक्षा में केवल उत्तीर्ण होने का अर्थ यह नहीं है कि वह उस कक्षा के योग्य है। कक्षा की शिक्षा का प्रभाव उसके सर्वांगीण विकास[3] तथा समाजीकरण[4] पर भली-भाँति पड़ना आवश्यक है। अतः उसके विकास को ध्यान में रखते हुए ही बालक को उपयुक्त कक्षा में भर्ती करना चाहिए।

विद्यार्थियों की व्यक्तिगत भिन्नता से परिचित होने के लिए प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक अध्यापक होना चाहिए। परन्तु यह विधि महान व्ययवाली है। व्यय करने पर भी आवश्यकतानुसार अध्यापक नहीं मिल सकेंगे। अतः कक्षा-ध्यापन का ही हमें सहारा लेना होगा। कक्षा में बालकों की ऐसी संख्या हो, और उनका वर्गीकरण उनकी समानता को ध्यान में रखकर इस प्रकार किया जाय कि अध्यापक सुगमतापूर्वक उनके निकट आ सके। कक्षाध्यापन-विधि के गुण दोष निम्नांकित हैं।

कक्षाध्यापन-विधि के प्रमुख गुण :

१. वैयक्तिक अध्यापन-विधि अत्यन्त खर्चीली विधि है। प्रत्येक बालक के लिए एक अध्यापक का प्रबन्ध करना असम्भव सा है। कक्षाध्यापन में ३५, ४० बालकों के लिए एक अध्यापक की आवश्यकता होती है। परन्तु कक्षाध्यापन-विधि में अध्यापक का प्रत्येक विद्यार्थी से पूर्णतया परिचित होना अनिवार्य है।

२. सामूहिक अध्यापन विधि द्वारा समूह में होने के कारण बालक एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। इससे उनमें शिक्षा ग्रहण करने की लगन सी उत्पन्न होती है। प्रतियोगिता की भावना जागृत होती है जो कि शिक्षा को सुलभ बनाती है। यहीं से बालक समाज में रह कर दूसरे के हितों की रक्षा

---

1. ९वीं तथा १० वीं कक्षा। 2. ११ वीं तथा १२ वीं।

3. All side Development. 4. Socialization.

लिए उनकी व्यक्तिगत भिन्नता से परिचित होना चाहिए। इसके लिए कक्षा में बालकों की उचित संख्या एवं उनका समुचित वर्गीकरण होना आवश्यक है। छात्रों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए।

१. सहज बुद्धि[1]
२. पहले की परीक्षाओं का फल तथा योग्यता और शक्ति[2]
३. बालक की रुचि[3]
४. लिंग[4]
५. शारीरिक स्वास्थ्य सहज बुद्धि।

वंशानुक्रमागत[5] प्राप्त बालक की बुद्धि-सम्बन्धी योग्यता ही उसकी सहज बुद्धि है। इसी प्रकार संवेग बालक की जन्म जात शक्तियाँ हैं। प्रत्येक बालक में ये शक्तियाँ भिन्न-भिन्न मात्रा में होती हैं। बुद्धि माप[6] के सहारे इससे परिचित होकर बुद्धि लब्धि[7] के अनुसार बालकों का वर्ग बनाना चाहिए।

वर्गीकरण के लिए बालकों की ज्ञान तथा क्रियात्मक परीक्षा भी आवश्यक है। हमारे देश में इन परीक्षाओं को महत्त्व नहीं दिया जाता। परन्तु उचित वर्गीकरण के लिए इन परीक्षाओं का होना बहुत आवश्यक है।

पहले की परीक्षाओं का फल तथा योग्यता और शक्ति :

बालकों का प्रवेश निश्चित रूप में एकदम किसी कक्षा में नहीं करना चाहिए। पूर्व-प्रमाण-पत्रों के आधार पर आवश्यक कक्षा में बैठाने के पश्चात्, योग्यतानुसार ऊँची अथवा नीची कक्षा में भर्ती करना चाहिए। इसके निर्णय के सम्बन्ध में मासिक, त्रैमासिक एवं अर्द्ध वार्षिक परीक्षाएँ सहायता पहुँचाती हैं।

रुचि :

झुकाव परीक्षा[8] द्वारा बालकों की रुचि का ज्ञान प्राप्त करके उनका

1. Intelligence. 2. Capacity tests. 3. Interest. 4. Sex. 5. Heriditory. 6. Intelligence test. 7. Intelligence quotient. 8. Aptitude test.

उपर्युक्त बातों के अनुसार किया गया वर्गीकरण अध्यापकों को बालकों की वैयक्तिक भिन्नता से पूर्णतया परिचित करने में पर्याप्त योग देगा। बिना विद्यार्थियों की वैयक्तिक भिन्नता से परिचित हुए बालकों का सर्वांगीण विकास करने में शिक्षक सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। अतः वर्गीकरण के साथ ही साथ अध्यापक को बालक की वैयक्तिक भिन्नता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अध्यापक तभी बालकों की रुचि और उनकी योग्यता के अनुसार शिक्षा देने में सफल हो सकता है जब कि वह बालकों से भली-भाँति परिचित हो।

अध्यापक को चाहिए कि कक्षा के कमजोर बालकों के बारे में विशेषतया अधिक ज्ञान प्राप्त करके, उसके विकास की गति के पथ को प्रशस्त बनाने के लिए, बालक की कठिनाइयों को दूर करे। उन्हीं बालकों पर प्रयोग करना चाहिए जो अन्य विद्यार्थियों की भाँति कक्षा के साथ सफलतापूर्वक आगे बढ़ सके। यदि फिर भी विद्यार्थी कक्षा के साथ चलने में असमर्थ हो तो उसकी योग्यतानुसार निम्न कक्षा में कर देना उचित होगा।

बालकों को दूसरी ऊँची कक्षा में चढ़ाने के लिए एक बार की ही परीक्षा देखना उचित नहीं है। पूरे वर्ष भर के कार्य के आधार पर और उसकी प्रगति के अनुसार ही कक्षोन्नति[1] प्रदान करना उपयुक्त है। कक्षोन्नोति के समय बालक के स्वास्थ्य एवं शारीरिक विकास पर भी ध्यान देना आवश्यक है जिससे बालक आगे की कक्षा के बालकों का सहयोग प्राप्त कर सके और उनके साथ चल सके।

सारांश

विद्यार्थियों का प्रवेश

बालकों के वंशानुक्रमागत ज्ञान, उचकी रुचि, योग्यता, स्वास्थ्य, आयु तथा वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर समान गुण वाले बालकों का प्रवेश एक वर्ग के अन्तर्गत करना चाहिए। समान गुण वाले छात्रों को ही एक साथ उचित शिक्षा देकर उनकी सर्वांगीण उन्नति की जा सकती है।

1. Promotion to another class.

६९

विद्यालय की समय-विभाग-तालिका[1]

विद्यालय में बालकों का केवल बौद्धिक विकास ही नहीं किया जाता। उन्हें केवल कक्षा की पाठ्य पुस्तकें तथा अध्यापकों के प्रवचन का ही ज्ञान नहीं दिया जाता, अपितु उनकी सर्वांगीण उन्नति के लिए उनके शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक सभी शक्तियों का विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए विद्यालय में उन्हें अपने जीवन का पर्याप्त समय बिताना पड़ता है। विद्यार्थियों के विकास को दृष्टिगत करते हुए उनके इस समय को व्यवस्थित रूप प्रदान करना विद्यालय का कर्त्तव्य है। अतः विद्यालय के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसके समय-विभाग-तालिका का उचित रूप में होना आवश्यक है।

समय-विभाग-तालिका की आवश्यकता

विद्यालय के उद्देश्यों की पूर्ति बहुत कुछ उसकी व्यवस्था और प्रबन्ध पर निर्भर है। समय-विभाग-चक्र द्वारा विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को ज्ञात रहता है कि किस घन्टे में कौन सा विषय पढ़ाना अथवा पढ़ना है। इसके लिए वे तत्पर रहते हैं। प्रधानाध्यापक अपने कार्यालय में बैठे-बैठे हर समय यह ज्ञात कर सकता है कि किस कक्षा में कौन सा विषय किस अध्यापक द्वारा पढ़ाया जा रहा है। किसी अध्यापक की अनुपस्थिति में उसके द्वारा पढ़ाये जाने वाले विषयों के घन्टे में दूसरे अध्यापक को नियुक्त करने में सुविधा पड़ती है। इस प्रकार विद्यालय को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए समय-विभाग-चक्र का निर्माण आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। इससे विद्यालय के प्रबन्ध में सहायता मिलने के साथ ही साथ विद्यार्थियों का समय नष्ट होने से बचाया

---

1. The School Time-table.

यक है कि उसे उपयोगी बनाने के लिए उसका संगठन अथवा निर्माण बड़ी सतर्कता से किया जाय। इसके निर्माण के समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

१. सर्वोत्तम तो यह है कि बालक अपनी इच्छानुसार विषय चुन ले और जब वह उस विषय को पढ़ना चाहे तो उसे वांछित सुविधा प्रदान की जाय, परन्तु इस समय हमारे देश की आर्थिक स्थिति इस प्रकार प्रबन्ध करने योग्य नहीं है। यहाँ के पाठ्य-क्रम में इस प्रकार के इतने विषय भी नहीं हैं कि विद्यार्थियों की इच्छानुसार भिन्न-भिन्न विषय चुने जा सकें। वे अपनी आवश्यकतानुसार केवल वर्ग ही चुन सकते हैं। चुने हुए वर्ग के सभी विषयों का पढ़ना विद्यार्थी के लिए आवश्यक होता है। अतः समय-चक्र का निर्माण विद्यार्थियों की रुचि विभिन्नता को ध्यान में रख कर सतर्कतापूर्वक करना चाहिए।

२. बालकों की रुचि के विषयों को दो प्रकार से जाना जा सकता है। पहली विधि यह है कि सभी बालकों की सम्भावित रुचियों की तालिका बना ली जाय। दूसरी विधि के अनुसार प्रत्येक बालक से उसकी रुचि के विषय का नाम लिख कर देने को कहा जाय। इनमें दूसरी विधि श्रेयस्कर है। इसके पश्चात् इस रुचि विभिन्नता को ध्यान में रख कर उपयुक्त समय-चक्र का निर्माण किया जाय जिससे वह बालकों के लिए अत्यधिक उपयोगी हो सके। आजकल के विद्यालय इस विषय में प्रायः उदासीन हैं, यही कारण है कि समय-चक्र उपयोगी न होकर विद्यालय तथा विद्यार्थियों की प्रगति में बाधक हो जाता है। प्रायः गत वर्ष के लिए बनाया गया समय-विभाग-चक्र निरन्तर कई वर्षों तक चलता रहता है। ऊँची कक्षाओं के विभिन्न विषयों को एक ही घन्टे में पढ़ाया जाता है। फलतः अपनी रुचि के अनुसार एक से अधिक विषय को पढ़ने में बालक असमर्थ रहता है। अतः इन त्रुटियों का निराकरण करना अत्यन्त आवश्यक है।

३. समय-तालिका में सभी विषयों को पाठ्यक्रमानुसार वांछित स्थान देना चाहिए। पाठ्यक्रम के अनुसार ही प्रति सप्ताह में विभिन्न विषयों के लिए निश्चित घन्टे होने चाहिए।

४. प्रायः देखा गया है कि अध्यापक बालकों के सम्मुख सदैव गम्भीर बने रहते हैं। उनके निकट सम्पर्क में आना अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझते

के वर्ष भर के कार्य को महीनों, सप्ताह और दिनों में विभक्त करके उसी के अनुसार समय-तालिका बनावे। इस प्रकार अध्यापक अपने विषय के प्रति सदैव सतर्क रहेंगे और बालकों का समय न नष्ट होगा। प्रायः देखा जाता है कि परीक्षा के सन्निकट अध्यापक और विद्यार्थियों दोनों को विषय की पुस्तक (कोर्स) समाप्त करने में अधिक परिश्रम करना पड़ जाता है। फलतः मानसिक व्यतिक्रमता के साथ-साथ शारीरिक कष्ट से भी पीड़ित होने का भय रहता है और इस पढ़ाई का कोई प्रभाव भी बालकों पर नहीं पड़ता। इसका मूल कारण समय-तालिका का पाठ्यक्रम के अनुसार और विषयों का उचित विभाग न होना है। यदि इस ओर उचित ध्यान दिया जाय तो सभी विषयों को आवश्यकतानुसार उचित समय मिलता रहेगा, वे भारस्वरूप न होंगे। अध्यापकों को झूठी डायरी न भरनी पड़ेगी। बालकों का समय नष्ट होने से बच जायगा। अनुशासन में शिथिलता न आयेगी। बालकों का सर्वांगीण विकास होता रहेगा। प्रधानाध्यापक को विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के वास्तविक पठन-पाठन का ज्ञान होता रहेगा।

१०. विद्यालय के अन्य कार्यक्रमों के साथ-साथ पाठ्य विषयों की तथा बालकों की अवस्था और योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न समय की व्यवस्था समय तालिका में करना आवश्यक है। छोटी कक्षाओं के बालकों के घन्टे उतने बड़े न हों जितने कि ऊँची कक्षाओं के। यद्यपि भिन्न-भिन्न विषय और कक्षाओं के लिए इस प्रकार समय की सीमा निर्धारित करना बड़ा कठिन है, परन्तु अन्तिम के कुछ घण्टों को छोटे करके किसी सीमा तक इसका प्रयोग किया जा सकता है।

विद्यार्थियों की थकान के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बातें

समय विभाग-चक्र के निर्माण में इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि बालकों को कम से कम थकावट का अनुभव हो सके। इस विषय में समय-तालिका का उचित संगठन पर्याप्त सहायता पहुँचा सकता है। इस ओर अध्यापकों को चाहिए कि विशेष ध्यान दें।

विद्यार्थियों के थकान पर दिनों का प्रभाव :

विद्यार्थियों के मनोभाव और थकान पर सप्ताह के दिनों एवम् अवकाश का अधिक प्रभाव पड़ता है। सप्ताह के दो दिन शनिवार तथा सोमवार को

उनमें अनुशासन की भावना भी उत्पन्न होती है। अध्यापकों के विषय में भी इस बात का ध्यान रखना आवश्यक हैं। उनके लिए भी उचित अवकाश मिलना अनिवार्य है। लगातार कठिन अथवा एक ही विषय पढ़ाने के लिए नहीं देना चाहिए। ऐसा होने पर वे पढ़ाने में रुचि न लेंगे और विद्यार्थियों का यथेष्ट लाभ न हो सकेगा।

ध्यान केन्द्रित करने की शक्ति तथा घंटों के समय की सीमा :

छोटे बच्चे किसी विषय पर अधिक देर तक अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाते। साधारणतया ६ वर्ष से १० वर्ष तक के बच्चे एक विषय पर २० मिनट तक, १२ वर्ष वाले लगभग २५ मिनट तक, १४ वर्ष तक के बच्चे आधा घण्टे तक और इससे अधिक आयु वाले ४५ मिनट तक अपने ध्यान को केन्द्रित कर पाते हैं। एक विद्यालय में विभिन्न आयु के बालक विभिन्न कक्षाओं में पढ़ते हैं। प्राय: सभी कक्षाओं के लिए घन्टों की सीमा एक ही होती है। अत: अध्यापकों को चाहिए कि इस ओर विशेष ध्यान दें। उन्हें विषय को सदैव रुचिकर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। विषय जितना ही रुचिकर होगा उतना ही विद्यार्थियों के ध्यान की एकाग्रता के समय की सीमा भी बड़ी होगी। उन्हें चाहिए कि विषयान्तर्गत ही कार्यों के प्रकार में परिवर्तन लाकर उसे रुचिकर बनाये रहें। इस परिवर्तन से बालकों की कार्यरत मांसपेशियों को सुस्ताने का अवसर मिल जायगा और पहिले से सुस्त पड़ी हुई मांसपेशियों की शिथिलता मिट जायगी। इस प्रकार बालक शीघ्र थकावट का अनुभव नहीं करेगा।

स्कूल की स्थिति, बनावट, एवं मौसम आदि का थकान पर प्रभाव :

बालकों की थकावट में स्कूल की स्थिति तथा कक्षा की बनावट का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि स्कूल कहीं शान्त वातावरण में स्थित न हुआ तो बालकों का जल्द थक जाना स्वाभाविक है। हवा तथा प्रकाश यदि यथेष्ट रूप में बालकों को न मिल सकेगा तो वे जल्द थक जायेंगे। इसके अतिरिक्त इस विषय में ऋतुओं तथा मौसमों का भी बहुत बड़ा हाथ है। एक बालक जाड़े के मौसम में यदि ४० मिनट तक अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है तो गर्मी के दिनों में उसके लिए आधे घण्टे तक केन्द्रित करना कठिन हो जायगा। अत: समय-विभाजन में इन बातों पर वांछित ध्यान देना बहुत आवश्यक है।

विषयों में बालक समान रुचि नहीं रख सकता, क्योंकि एक विषय पढ़ने के पश्चात् ज्यों-ज्यों वह थकता जाता है त्यों-त्यों उसकी रुचि कम होती जाती है। समय-तालिका के अनुसार बालक का प्रतिदिन का कार्यक्रम निश्चित हो जाता है। ये निश्चितता तथा क्रमबद्धता बालक की निरसता का कारण बनती है। बालकों की वैयक्तिक विभिन्नताओं से परिचित होने के लिए अध्यापकों को पर्याप्त समय व अवसर नहीं मिल पाता। समस्त कक्षाओं की बालकों की अवस्था के अनुसार घन्टों के समय की अलग-अलग सीमा नहीं निश्चित की जा सकती। बालकों को सामूहिक रूप में किसी समस्या को सुलझाने अथवा अपने परीक्षण द्वारा ज्ञानार्जन करने का समय नहीं मिल पाता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समय-तालिका का प्रयोग विद्यालय के लिए अनावश्यक है। यदि बताये गये नियमों को दृष्टिगत करके समय-विभाग-चक्र का निर्माण किया जाय तो उससे अपने देश के विद्यालयों को लाभ ही लाभ है। हमारे विद्यालयों की वर्तमान परिस्थिति ऐसी है कि उनके लिए उचित समय-विभाग-चक्र का होना अनिवार्य है।

सारांश

समय-विभाग-तालिका द्वारा विद्यालय का कार्य व्यवस्थित रूप में चलता है। इस प्रकार बालकों को अपने समय के सदुपयोग का अवसर मिलता है।

समय विभाग-तालिका की आवश्यकता :

समय-विभाग-तालिका का सम्बन्ध स्कूल के समस्त कार्यक्रमों से होता है। इससे प्रधानाध्यापक अपने कक्ष में बैठे-बैठे मालूम कर सकता है कि किस कक्षा में किस अध्यापक द्वारा कौनसा विषय पढ़ाया जा रहा है।

समय-विभाग तालिका से लाभ :

विद्यालय में अनुशासन स्थापित करने में सहायता मिलती है। बालकों में नियमपूर्वक व्यवस्थित रूप में समय पर काम करने की कुशलता आती है।

समय-विभाग तालिका के संगठन-सम्बन्धी उपयोगी बातें :

बालकों के रुचि का ज्ञान प्राप्त किया जाय। जिससे तदनुसार विषयों के पढ़ने की सुविधा दी जा सके। बालकों एवम् अध्यापकों में निकट सम्बन्ध स्था-

७०

पाठ्यक्रम सहगामी विविध क्रियायें[1]

शिक्षा का उद्देश्य केवल पुस्तकीय ज्ञान देना न रह कर जनतन्त्र के भावी नागरिकों का समुचित रूप में मानसिक, शारीरिक तथा सामाजिक विकास करके उन्हें कुशल नागरिक बनाना है। इसी आधार पर पाठ्यक्रम-सहगामी क्रियाओं को शिक्षा-व्यवस्था में समुचित स्थान प्रदान करना आवश्यक हो गया।

ये सहगामी क्रियायें समन्वय तथा सामाजिकता से परिपूर्ण होती हैं। इनके प्रकार निश्चित करने के लिए इन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है। एक तो वे जिनके द्वारा बालक की सामाजिकता के विकास के साथ-साथ शारीरिक विकास पर अधिक प्रभाव पड़ता है और दूसरी वे हैं जिनका प्रभाव मानसिक विकास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त होता है। प्रथम श्रेणी में खेल-कूद, व्यायाम, एन०सी०सी०, पी०ई०सी० प्रशिक्षण तथा स्काउटिंग और बाल-चर गाइड की वे क्रियायें जो शारीरिक विकास से सम्बन्धित हैं, आती हैं। दूसरी श्रेणी में स्कूल की साहित्यिक गोष्ठियाँ, विद्यालय की पंचायत पुस्तकालय, पत्र-पत्रिकायें, स्कूल के उत्सव तथा छात्र समितियाँ आती हैं, जो स्कूल को समाज के निकटतम सम्पर्क में लाने के साथ-साथ बालकों के समुचित मानसिक विकास में वांछित योग प्रदान करती हैं।

विद्यालय में विभिन्न प्रकार के खेलों की व्यवस्था :

अन्य विषयों की भाँति पाठ्यक्रम की इन सहगामी क्रियाओं का भी महत्त्व-पूर्ण स्थान है। ये क्रियायें भी अन्य विषयों की भाँति वांछित निरीक्षण तथा पथ-प्रदर्शन के द्वारा अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। अतः प्रधाना-

---

1. The various Co-curricular Activities.

उत्तरदायी उसे बना दे। इस प्रकार विद्यार्थियों में नेतृत्व की भावना तथा सृजनात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न होगी और खेल भी नियमित रूप में होता रहेगा।

खेलों में अध्यापकों का सहयोग :

प्राय: देखा जाता है कि अध्यापक लोग केवल दूर खड़े होकर खेल के घन्टे में लड़कों का खेल देखा करते हैं तथा इसी प्रतीक्षा में रहते हैं कि कितनी जल्दी घन्टा समाप्त हो जावे। परन्तु बालकों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। वे भी उनकी देखा-देखी खेलों के प्रति उदासीन हो सकते हैं। अध्यापक को प्रत्येक समुदाय, चाहे वह बड़े लड़कों का हो अथवा छोटे, के साथ खेलना चाहिए। ऐसा करने के लिए अध्यापक को विभिन्न खेलों के तरीकों तथा नियमों से भलीभांति परिचित होना चाहिए। अध्यापक को रेफरी का कार्य भी करना होता है। अतः नियमों से उसका पूर्णतया अवगत होना अनिवार्य है। यदि भलीभांति उचित रूप में नियमपूर्वक खेल नहीं खेला जावेगा तो न तो उससे आनन्द की प्राप्ति होगी और न खेल के वास्तविक लाभों से लाभान्वित ही हुआ जा सकता है। अतः अध्यापक को इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

भारतीय खेलों की उपयोगिता :

आजकल स्कूलों में प्राय: अंग्रेजी खेल ही प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त कुछ भारतीय खेल ऐसे भी हैं जिनमें न तो किसी सामान की आवश्यकता पड़ती है और न अधिक स्थान की ही। इनमें से कबड्डी सबसे अधिक उपयोगी खेल है। यह भारत का बड़ा प्रचलित खेल है। इससे लगभग सभी लड़के परिचित रहते हैं। इसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए सांस रोकने के नियम को तोड़कर एक समय निश्चित किया जा सकता है। अध्यापक को चाहिए कि समय-समय पर बालकों को विभिन्न प्रकार के खेल खिलाता रहे जिससे उनमें खेलों के प्रति उत्साह बढ़े।

मैचों का आयोजन :

खेलों के प्रति विद्यार्थियों की रुचि एवम् उत्साह बढ़ाने तथा उन्हें खेल सम्बन्धी अपनी योग्यता का भान कराने हेतु मैचों का भी आयोजन करना चाहिए। ये मैच विद्यालय की विभिन्न टीमों के साथ अथवा दूसरे विद्यालय

वे खेलों से प्राप्त होने वाली निम्नलिखित शिक्षाओं और लाभों से भी लाभान्वित नहीं हो सकते।

१. खेलों में भाग लेकर बालक साहचर्य, सहयोग, ईमानदारी, न्याय तथा सामूहिक जीवन से प्रेम करना सीखता है।

२. खेलों द्वारा बालकों का शारीरिक तथा मानसिक विकास समुचित रूप में होता है।

३. बालकों को खेलों द्वारा उत्तरदायित्व के निर्वाहन का पाठ मिलता है तथा वे सामाजिक जीवन के निकट सम्पर्क में आकर अपने जीवन के भावी कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाने में सफल हो सकते हैं।

४. बालकों में सृजनात्मक भावनाओं का आविर्भाव होता है तथा वे अवकाश के सदुपयोग की शिक्षा पाते हैं। अतः खेलों की व्यवस्था इस प्रकार की जावे जिससे सभी बालकों का लाभ हो सके।

ड्रिल अथवा शारीरिक व्यायाम :

खेलों के अतिरिक्त विद्यालय में ड्रिल अथवा व्यायाम का प्रबन्ध होना आवश्यक है। व्यायाम द्वारा शारीरिक विकास में पर्याप्त सहायता मिलती है तथा खोई हुई मानसिक शक्ति भी प्राप्त की जा सकती है। शरीर के प्रत्येक अंग के व्यायाम की अलग-अलग विधियाँ हैं। उनका यथोचित रूप में पालन करने से व्यायाम अत्यधिक लाभप्रद बनाया जा सकता है। यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि व्यायाम नियमित एवं उचित रूप से कराया जाय, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना हो सकती है। व्यायाम की महत्ता एवं उपयोगिता के विषय में केवल इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि समुचित एवं नियमित व्यायाम द्वारा शरीर की कुछ विकृतिओं तक को दूर किया जा सकता है। व्यायाम द्वारा शारीरिक चिकित्सा का भी विधान किया गया है।

खेल, व्यायाम तथा ड्रिल इस प्रकार की पाठ्यक्रम सहगामी क्रियायें हैं जिनका प्रभाव शारीरिक विकास पर अधिक पड़ता है। अब आगे उन पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं के विषय में विचार किया जायगा जो मानसिक विकास में अधिक योग प्रदान करती हैं। ऐसी क्रियाओं में निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

विक्रय करेंगे। इसे सुचारु रूप में चलाने के लिए आवश्यक है कि अध्यापक वर्ग का कोई अध्यापक इसमें विशेष रुचि ले। उसे समिति का अध्यक्ष बनाना चाहिए। अध्यक्ष को चाहिए कि वह विक्री की वस्तुओं को जुटाने तथा मूल्य-निर्धारण और विकी हुई अथवा बची हुई वस्तुओं का प्रतिदिन निरीक्षण करे तथा हिसाब देख लिया करे।

३. स्काउटिंग (बालचर) तथा गर्ल्स गाइड :

ये ऐसी पाठ्यक्रम सहगामी क्रियायें हैं जिनके द्वारा बच्चों को स्वावलम्बन तथा परोपकार की शिक्षा देकर उनके भावी जीवन को सुखमय बनाया जा सकता है।

स्काउटिंग अथवा बालचर टोली के अतिरिक्त विद्यालयों में शेर-बच्चे[1], ब्ल्यूबर्ड[2] का होना भी आवश्यक है। बड़ी अवस्था के बच्चों के लिए जितना लाभप्रद बालचर टोली है, छोटे बच्चों के लिए उतने ही लाभकारी शेरबच्चा, और ब्ल्यूबर्ड हैं। इसके अतिरिक्त जो बालक शेर-बच्चे तथा ब्ल्यूबर्ड का सदस्य रह चुका रहता है वह आगे चल कर सुयोग्य बालचर बन सकता है।

४. रेड-क्रास समितियाँ :

बालक का सर्वांगीण अर्थात् शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक आदि सभी गुणों को विकसित करना विद्यालय का कर्त्तव्य है। शारीरिक विकास को सदैव वरीयता दी जानी चाहिये, क्योंकि शारीरिक विकास पर ही विद्यार्थी का मानसिक विकास बहुत कुछ निर्भर रहता है। शारीरिक विकास के लिए विद्यालयों में विद्यार्थियों के चिकित्सकीय निरीक्षण तथा प्राथमिक चिकित्सा का प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। रेड-क्रास समितियाँ, जोकि विद्यालय में जूनियर रेड-क्रास समितियों की संज्ञा से घोषित की जाती हैं इस विषय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। विद्यालय में यह प्रयास करना चाहिए कि अधिक से अधिक विद्यार्थी इसके सदस्य बन सकें। सदस्यता शुल्क इतना साधारण होना चाहिए जिसे प्रत्येक विद्यार्थी सुविधा पूर्वक दे सकें। समिति के पथ-प्रदर्शन तथा प्रबन्ध में कम से कम दो अध्यापकों को भाग लेना आवश्यक है। यदि

---

1. Wolf-cubs. 2. Blue Birds.

संघ के विषयों से विद्यार्थियों को परिचित कराके उनमें विश्वबन्धुत्व अथवा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना का आविर्भाव करना है।

७. स्कूल के उत्सव :

स्कूल के उत्सवों द्वारा बालकों को सहयोग, उत्तरदायित्व के निर्वाह, सामाजिकता तथा संगठन करने की क्षमता प्राप्त होती है। इन उत्सवों द्वारा बालकों में स्कूल के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। ऐसे अवसरों पर प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थियों के अभिभावकों तथा अन्य गण्यमान्य व्यक्तियों को आमन्त्रित करके विद्यालय की सफलताओं तथा उसकी कठिनाइयों का विवरण प्रस्तुत करें। इस प्रकार अभिभावकों में विद्यालय के प्रति प्रेम उत्पन्न होगा और वह जन-वर्ग के निकटतम सम्पर्क में आ सकेगा।

८. पत्रिकायें :

पत्रिकाओं द्वारा बालकों को विचाराभिव्यक्ति की प्रेरणा मिलती है तथा उनके ज्ञान के क्षेत्र में वृद्धि होती जाती है। उनसे लिखने-पढ़ने से प्रति भी उनमें रुचि उत्पन्न होती है।

विद्यालय में दो प्रकार की पत्रिकायें निकाली जा सकती हैं। पहिली, कक्षा-पत्रिका और दूसरी, विद्यालय-पत्रिका। कक्षा-पत्रिका के प्रकाशन के लिए कक्षा का एक सम्पादन-मंडल निर्वाचित कर लेना चाहिए। यदि अर्थाभाव के कारण यह पत्रिका छपाई न जा सके तो एक प्रति इसकी हाथ से लिख कर तैयार की जा सकती है। इस प्रति पर जिल्द बंधवा कर कक्षा में घुमाई जा सकती है। इस पत्रिका को त्रैमासिक पत्रिका होनी चाहिए।

९. नाटक :

नाटक अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है। स्कूलों द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले नाटकों का मूल उद्देश्य शिक्षा की प्राप्ति होता है न कि दर्शकों को मुग्ध करना। अतः इस बात पर सदैव ध्यान रखना चाहिए कि वह केवल प्रदर्शन की ही वस्तु न बन जाय, वरन शिक्षाप्रद भी रहे। नाटक के लिये निरीक्षण की बड़ी आवश्यकता है। कक्षा-अध्यापक या विषय-अध्यापक अथवा कोई अध्यापक जो इस कार्य में रुचि एवं योग्यता रखता हो निरीक्षक बनाया जा

बागवानी के अन्तर्गत स्कूल की क्यारी बनाना, फुलवारी तैयार करना तथा सजावट का कार्य आ जाता है। स्कूल के लान में घास उगाने, अच्छे-अच्छे फूलों तथा फलों के पौधे और तरकारियों के उत्पन्न करने का काम इसी विभाग के अन्तर्गत होना चाहिये। इन पेड़ पौधों के लगाने, पानी देने, खाद डालने तथा उनकी सुरक्षा का भार क्लब पर होना चाहिये। यदि स्कूल के पास पर्याप्त भूमि हो तो दो-दो विद्यार्थियों के बीच एक-एक क्यारियाँ बोई जा सकती हैं।

१२. भाषण :

विद्यार्थियों के ज्ञानवर्धन हेतु विद्यालय में सप्ताह में एक अथवा दो बार भाषण का प्रबन्ध करना आवश्यक है। इसके लिए विद्यालय को बड़ी तथा छोटी कक्षाओं के अनुसार बालकों को दो वर्गों में विभाजित करके एक ही समय में भाषण का प्रबन्ध किया जा सकता है। इनके विषय वैज्ञानिक आविष्कार, सामाजिक कुरीतियों के निराकरण, नागरिकता, शासन-प्रणाली तथा जन-सुधार आदि होने चाहिये। विद्यार्थियों के लाभार्थ आवश्यक ज्ञान देने के लिए आस-पास के डाक्टरों, सहकारी निरीक्षक, पंचायत निरीक्षक, तथा डेवलपमेन्ट अफसर[1] आदि को आमन्त्रित किया जाना उपयोगी होगा। विद्यालय के दोनों वर्गों के विषय उनकी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न स्तर के होने चाहिए। परन्तु आमन्त्रित किये गये लोगों के भाषणों को सुनने का अवसर प्रत्येक वर्ग को देना चाहिए।

सारांश

सहगामी-क्रियाओं के परिचालन की व्यवस्था :

प्रथम प्रकार की सहगामी क्रियाओं की व्यवस्था के लिए उसी प्रकार निरीक्षण एवं पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है जिस प्रकार अन्य विषयों के लिए। खेल के प्रबन्ध तथा परिचालन के लिए एक अध्यापक को जो इसमें रुचि रखता हो, और खेलों का उसे ज्ञान हो, अध्यक्ष नियुक्त कर देना चाहिये। उसकी

1. Development Officer.

आवश्यक है तथा संचालन के प्रति अध्यापकों तथा प्रधानाध्यापक को समुचित योग प्रदान करना अनिवार्य है। उचित निरीक्षण और पथ-प्रदर्शन द्वारा इन संगठनों तथा आयोजनों को सफल बनाकर बालकों को यथेष्ट रूप में विकसित किया जा सकता है। बालकों के विकास पर ही राष्ट्रोन्नति आधारित है। अतः इस विषय में अध्यापक, जनता, अधिकारी सभी को प्राण-पण से कार्यरत रहना आवश्यक है।

१. छात्र समिति, २. सहकारी समितियाँ, ३. स्काउटिंग, बालचर तथा गर्ल्स गाइड, ४. रेडक्रास समितियाँ, ५. साहित्यिक सभायें, ६. जूनियर राष्ट्रसंघ समितियाँ, ७. स्कूल के उत्सव, ८. पत्रिकायें, ९. नाटक, १०. पिकनिक अथवा पर्यटन, ११. बागवानी, १२. आदतें तथा १३. भाषण आदि। विद्यालयों के लिए इनका संगठन एवं आयोजन सर्वथा आवश्यक और हितकर है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. पाठ्यक्रम-सहगामी-क्रियाओं का क्या अर्थ है ?
२. बालकों के विकास में पाठ्यक्रम-सहगामी-क्रियायें क्या स्थान रखती हैं ?
३. विद्यालयों में पाठ्यक्रम-सहगामी-क्रियाओं के परिचालन एवं प्रबन्ध की व्यवस्था किस प्रकार की जानी चाहिए ?
४. पाठ्यक्रम-सहगामी क्रियाओं के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालिए ?

में भाग लेकर सामाजिक क्षमता अर्जित करता है और स्वयं व्यवस्था में रहकर कार्य करने का अभ्यासी हो जाता है।

४. **छात्र-अध्यापक-सम्बन्ध की दृढ़ता :** स्वशासन से अध्यापक केवल निर्देश देते है तथा विद्यार्थी सम्पूर्ण कार्यों में सहायता करते हैं। अतएव छात्र अध्यापक के और अध्यापक छात्र के व्यक्तित्व से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं। नागरिकता की भावना तथा छात्र-अध्यापक सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए विद्यार्थियों को स्वशासन देना चाहिए।

५. **शिक्षा व्यवस्था से प्रेम।** स्वशासन के वातावरण में छात्र समुदाय स्वयं विद्यालय के कार्यों में भाग लेते हैं। अत: उनकी इच्छा होती है कि उन्हें प्रत्येक कार्य में सफलता मिले। शिक्षक के निर्देश के फलस्वरूप उन्हें सफलता प्राप्त होती है। अतएव उनमें विद्यालय के प्रति ममत्वभावना का उदय स्वाभाविक रूप से हो जाता है और वे शिक्षा-व्यवस्था के प्रति प्रेम करने लगते हैं।

६. **कार्य-निपुणता :** केवल मौखिक उपदेश देने से ही हम बालक में कार्य-कुशलता उत्पन्न नहीं कर सकते। कार्य-कुशलता तो केवल अभ्यास के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। स्वशासन से विद्यार्थी स्वयं प्रत्येक कार्य को करता है, त्रुटियों को सुधारता है तथा पूर्ण रूप से कार्य-कुशलता प्राप्त कर लेता है। उपदेश देने से हम केवल सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। अत: स्वशासन कार्य-कुशलता उत्पन्न कराने का प्रमुख साधन है।

७. **नेतृत्व शक्ति का विकास :** हमें समाज के विविध क्षेत्रों में अपनी जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता का अनुभव होता है जो नेतृत्वशक्ति एवं कर्त्तव्य-बुद्धि से पूर्ण हों तथा निर्णय करने की उनमें अनुपम योग्यता हो। स्वशासन-व्यवस्था में प्रत्येक विद्यार्थी को कार्य करने का अवसर मिलता है और अभ्यास करते-करते उसमें सामाजिक नेतृत्व शक्ति स्वतः विकसित हो जाती है।

स्वशासन की स्थापना में ध्यान देने योग्य बातें

(क) स्वशासन की स्थापना के लिए आवश्यक है कि शिक्षक तथा

(४) निर्वाचन अध्यापक की देख-रेख में होना चाहिए और ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि प्रत्येक छात्र योग्य व्यक्ति के लिये स्वतन्त्रता पूर्वक मतदान कर सके। केवल कार्य-कर्त्ताओं का ही चुनाव करना चाहिये।

(५) सभी अथवा संस्था के समस्त अधिवेशन विद्यालय में ही होने चाहिए तथा आय-व्यव-व्यवस्था की पूरी देख-रेख करनी चाहिए। आडम्बर तथा अनावश्यक प्रदर्शन को कभी भी प्रश्रय नहीं देना चाहिये।

(६) समिति अथवा परिषद् में सभी को समान अवसर प्रदान करना चाहिये। तथा किसी एक छात्र को ही अधिक कार्य नहीं देने चाहिए।

(७) प्रधानाचार्य को परिषद् के समस्त कार्यों की देख-रेख करनी चाहिए तथा शिक्षकों और छात्रों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिये।

(८) स्वशासन-प्रणाली की सफलता के लिये विद्यालय के विभिन्न क्षेत्रों में पृथक् पृथक् समिति स्थापित करनी चाहिये। उनमें से कुछ के विषय में यहाँ चर्चा की जायगी।

अनुशासन समिति : विद्यालय की अनुशासन समिति का उद्देश्य विद्यालय में अनुशासन स्थापित करना होगा। इसकी सहायता से अनुशासन स्थिर रखने का कार्य सफल हो जायगा।

साहित्यिक परिषद् : विद्यालय की इस परिषद् का उद्देश्य बालकों में साहित्यिक रुचि की जागृति एवं अभिवृद्धि करना होना। इसके तत्वाधान में कवि-सम्मेलन, वाद,विवाद-प्रतियोगिता तथा अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता आदि का आयोजन किया जायगा :

सांस्कृतिक समिति : इस समिति का कार्य साहित्यिक परिषद् के कार्य के साथ चलेगा और इसके अन्तर्गत संगीत गोष्ठी जैसे उत्सवों के आयोजन का कार्य होगा।

इसी प्रकार क्रीड़ा समिति, रचनात्मक समिति आदि समितियों की स्थापना से भी पर्याप्त सफलता मिलेगी।

यदि हम बालकों को स्वशासन-प्रणाली के महत्त्व को समझा दें और उनमें नागरिकता के गुणों को उत्पन्न कर सकें तो स्वशासन विद्यालय के लिए

निर्णय देंगे जो सभी को मान्य होगा। प्रत्येक श्रेणी के एक ही प्रकार के सदस्यों की सम्मिलित समिति को 'सदन' कहा जायगा। प्रत्येक 'सदन' विद्यालय में अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करेगा।

डगलस के अनुसार : परिषद् में विद्यालय की प्रत्येक श्रेणी से उसी श्रेणी के छात्रों द्वारा दो छात्र निर्वाचित होने चाहिये। विद्यालय की सब कक्षाओं के छात्रों द्वारा तीन छात्र निर्वाचित होने चाहिए। विद्यालय के प्रधानाचार्य दो शिक्षकों को मनोनीत करेंगे और वे भी उक्त परिषद् में रहेंगे। इस प्रकार संगठित की गई विद्यार्थी परिषद् अपने प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सचिव, तथा कोषाध्यक्ष को निर्वाचित करेगी। परन्तु किसी अध्यापक को कोई पद न प्रदान किया जायगा। प्रधानाचार्य इस परिषद् के लिए एक परामर्शदाता अध्यापक भी मनोनीत कर उक्त परिषद् में सम्मिलित करेंगे। उक्त रूप से संगठित विद्यार्थी परिषद् विद्यालय के समस्त कार्यों की देख-रेख करेगी और उनके प्रति उत्तरदायी होगी।

राइबर्न तथा 'डगलस' के विचारों का हमने संक्षेप में वर्णन किया है। किन्तु हमें अपने विद्यालय तथा स्थानीय एवं सामाजिक आवश्यकताओं को दृष्टिकोण में रखकर विद्यार्थी परिषद् का संगठन करना चाहिए। अध्यापकों के परामर्श तथा निर्देश पूर्णरूप से छात्रों को कार्यान्वित करना चाहिये। यदि हमारा विद्यार्थी समाज और अध्यापक समाज परस्पर सहयोग से कार्य करे और अभिभावक भी पूर्ण सहयोग दें तो हम अपने शिक्षा के नवीन उद्देश्यों को प्राप्त करने में अवश्य सफल होंगे।

सारांश

हमारे विद्यालयों का उद्देश्य बालकों का सर्वांगीण विकास करना है। इसके लिये आवश्यक है कि विद्यार्थी स्वयं ही शिक्षालय के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझें और विद्यालय की अनुशासन-व्यवस्था के प्रति स्वशासन द्वारा, उत्तरदायी बनें। आधुनिक शैक्षिक विचारधारा में स्वशासन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है और स्वशासन को ही वास्तव में अनुशासन कहा गया है। इसके द्वारा विद्यार्थी नियमपालन की ओर प्रवृत्त होते हैं, तथा

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. विद्यालयों में स्वशासन के महत्त्व को समझाइये तथा स्वशासन के कौन-कौन लाभ हैं ? यह भी स्पष्ट कीजिए।

२. स्वशासन-प्रणाली की स्थापना में कौन-कौन बाधायें आती हैं ? इन बाधाओं का क्या निराकरण है ?

३. विद्यार्थी परिषद् का क्या महत्व है ? आदर्श विद्यार्थी परिषद् का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है ?

४. जनतन्त्र में छात्र परिषद् की उपयोगिता और आदर्श के विषय में अपने विचार प्रगट कीजिए।

२. परीक्षा ऐसी हो कि उससे बालक की बुद्धि गम्भीरता के विषय में वास्तविक जानकारी हो सके।

३. परीक्षा से बालक की सफलता, उसका अर्जित-ज्ञान तथा उसकी उन्नति का उचित ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

४. परीक्षा से अर्जित ज्ञान के प्रयोग तथा उपयोग करने की सामर्थ का भी पता चले।

५. परीक्षा का सम्बन्ध बालक के वर्तमान ज्ञान से ही न हो, वरन् वह बालक को भविष्य में प्राप्त होने वाली सामर्थ्य तथा आगे के पाठ्य विषय को समझने की योग्यता की ओर भी संकेत करे।

६. परीक्षा द्वारा बालक की रुचि का भी परिचय मिले।

७. परीक्षा द्वारा बालक को आगे की बातें सीखने का उत्साह मिले तथा रणा प्राप्त हो। वह बालक की दुर्बलताओं को ही बतलाकर उसे हताश करे।

व. यह बालक की विचार शक्ति को बढ़ाने वाली हो।

। इससे बालकों की कठिनाइयों, परेशानियों तथा शंकाओं का समाधान खे।

१०. परीक्षा से बालक की कार्य क्षमता के विषय में ज्ञात हो सके।

११. बालक की धारणा[1] और स्मरण-शक्ति[5] की वास्तविक परीक्षा हो सके।

१२. परीक्षा शिक्षक के अध्यापन-कार्य में सहायक हो सके, और जिससे बालक के वास्तविक ज्ञान के विषय में ठीक जानकारी प्राप्त करके अध्यापक उसी के अनुसार शिक्षा दे। इसके द्वारा अध्यापक पढ़ाने की उचित विधि का भी निर्णय कर सकता है।

तो वह हिन्दी, इतिहास आदि विषयों के प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार की भूमिका बाँध कर देगा कि उसको उस बालक से कहीं अच्छे नम्बर मिल सकते हैं जिसमें यह शक्ति नहीं है भले ही वह गणित, ज्योमिति आदि विषयों में अच्छा चलता हो।

६. प्रश्नों के उत्तर के प्राप्तांक बालक की योग्यता के ऊपर उतना निर्भर नहीं करते जितना कि परीक्षक की झक पर निर्भर करते हैं। यदि एक ही विद्यार्थी के उत्तर विभिन्न परीक्षकों को जाँचने के लिए दिये जांय तो उनमें विभिन्न अङ्क प्राप्त होंगे। यही नहीं एक ही परीक्षक किसी विद्यार्थी के उसी उत्तर पर विभिन्न समयों में विभिन्न अङ्क देता है।

७. यदि अनुमानित प्रश्न आ गये और परीक्षक की व्यक्तिगत झक भी बालक के पक्ष में ही गई तो वह अपने से अधिक बुद्धिमान बालक की अपेक्षा अच्छे अङ्क प्राप्त कर सकता है।

८. प्रश्नों के उत्तर किसी विशेष क्रम अथवा प्रकार के नहीं रहते। कोई विद्यार्थी किसी बात को अधिक महत्व देता है तो कोई दूसरी को। एक विद्यार्थी तर्क को अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है तो दूसरा स्मृति अथवा क्रमबद्धता को। इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में विभिन्न मानसिक क्रियाओं का समन्वय नहीं हो पाता।

९. इसमें परीक्षक का अंक देने का कोई निश्चित माप-दण्ड नहीं रहता। वह सामूहिक प्रभाव के अनुसार अंक देता है। अंक प्राप्त करने में परीक्षक में उत्पन्न भावनाओं, बालक के अच्छे हस्त लिखने[1], अच्छी अथवा सरल भाषा आदि बातों का बहुत प्रभाव पड़ता है।

१०. प्रश्नपत्र बनाना अध्यापक के लिए बहुत सरल कार्य रहता है परन्तु अंक मिलने का ढंग पूर्णतः अनुचित है।

वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के गुण :

इस प्रकार की परीक्षा के उपरोक्त दोषों के साथ ही साथ इसमें कुछ गुण भी हैं। इस प्रकार की परीक्षा द्वारा प्रत्येक बालक को किसी प्रश्न अथवा

1. Handwriting.

वर्तमान परीक्षा-प्रणालियों में सुधार के उपाय

हम ऊपर कह चुके हैं कि धनाभाव तथा अन्य परिस्थितियों के कारण हमारे देश में नवीन परीक्षा-प्रणालियों का प्रयोग नहीं किया जा रहा है। हमें यह देखना है कि वर्तमान परीक्षा प्रणाली में ऐसे कौन से सुधार कर दिये जाँय कि उस प्रणाली से अधिक से अधिक लाभ हो सके। निम्नलिखित उपायों से वर्तमान परीक्षा-प्रणाली में कुछ आवश्यक सुधार किये जा सकते हैं।

सर्वप्रथम हम मुदलियार कमीशन तथा द्वितीय नरेन्द्रदेव समिति द्वारा दिये गये परीक्षा में सुधार सम्बन्धी कुछ प्रमुख सुझावों की ओर सकेत करेंगे।

मुदलियार कमीशन के सुझाव[1] :

भारतीय सरकार द्वारा नियुक्त मुदलियार कमीशन ने परीक्षा-प्रणाली में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :—

१. वाह्य परीक्षाओं की संख्या कम कर देनी चाहिए। निबन्ध-परीक्षा में परीक्षक की व्यक्तिगत झक के प्रभाव को कम करना चाहिए। इसके लिए उपलब्धि-परीक्षाओं को स्थान देना चाहिए। निबन्ध-परीक्षा में प्रश्नों की प्रणाली में परिवर्तन कर देना चाहिए।

२. छात्र के सर्वांगीण विकास को समझने तथा उसके भविष्य के निर्धारण में विद्यालय को प्रत्येक छात्र के लेखा को अच्छी तरह रखना चाहिए। इस लेखा में समय-समय पर उसके द्वारा किए गए कार्य तथा विभिन्न क्षेत्रों तथा विषय में उसकी उन्नति का विवरण होना चाहिए।

३. वार्षिक मूल्यांकन में छात्र की आन्तरिक परीक्षाओं तथा विद्यालय द्वारा रखे हुए लेखे पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

४. वाह्य और आन्तरिक परीक्षाओं तथा विद्यालय के लेखे में अङ्क के स्थान पर छात्रों को सांकेतिक चिह्न देने चाहिए।

५. माध्यमिक-शिक्षा अवधि के अन्त में केवल एक ही सार्वजनिक परीक्षा होनी चाहिए।

1. The Report of Secondary Education Commission, October 1952, June 1953, pp. 153-54.

मन से परीक्षा का भय हटाने के लिये अध्यापक को चाहिये कि उनसे बिना किसी भय के जो कुछ आता हो उसे लिखने के लिये कह दें।

३. अध्यापकों को प्रश्नपत्र बनाने में विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि प्रश्नपत्र के द्वारा प्रचलित परीक्षा के कुछ दोषों का निराकरण किया जा सकता है।

(क) सर्वप्रथम तो प्रश्नपत्र में प्रत्येक अध्याय से कुछ न कुछ पूँछा जाय। इससे एक लाभ यह होगा कि बालकों को परीक्षा के प्रश्नों के विषय में अनुमान लगाने का प्रोत्साहन न मिलेगा।

(ख) अध्यापक को कठिन प्रश्नपत्र बनाने का ध्येय अपने सम्मुख न रखना चाहिये। प्रश्नपत्र में खोज-खोज कर कठिन प्रश्नों का रखना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। इससे बालकों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता, और वे हताश होने लगते हैं। प्रश्न तो ऐसे रखने चाहिये कि अधिक से अधिक बालक प्रश्नों के उत्तर में अधिक से अधिक लिख सकें।

(ग) प्रश्नपत्र के कुछ प्रश्न बालकों की योग्यता और रुचि के अनुसार अवश्य हों।

(घ) एक ही बार में बैठ कर पूरा प्रश्नपत्र बना डालना उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकार सरलता से बन जानेवाले प्रश्न ही प्रश्नपत्र में रक्खे जाते हैं।

(ङ) प्रश्न ऐसे हों कि बालकों की विचार-शक्ति को प्रोत्साहन मिल सके। उनसे ऐसे प्रश्न न पुछे जायँ जिनके उत्तर बिलकुल पुस्तक के अनुसार देने पड़ें। उन्हें अपने विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। ऐसे प्रश्न बालकों के व्यावहारिक ज्ञान के विकास में भी सहायता करेंगे।

जो परीक्षायें स्कूल के अध्यापकों द्वारा स्कूल में ही ली जाती हैं, वे आन्तरिक परीक्षायें कहलाती हैं। कुछ परीक्षायें शिक्षा-विभाग राज्य व केन्द्रीय सरकार द्वारा भी ली जाती हैं। ये परीक्षायें सार्वजनिक परीक्षा कहलाती है। दोनों प्रकार की ही परीक्षाओं के परीक्षकों को उपयुक्त बातों पर ध्यान देना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार के प्रश्नपत्र हुआ करते हैं उसी प्रकार की शिक्षा भी दी जाती है, अर्थात् शिक्षा-प्रणाली प्रश्न-पत्रों को ध्यान में रखते हुए हुआ करती हैं।

ही शब्दों में दिया जा सकेगा और ये उत्तर बालकों की ज्ञान-परीक्षा ही लेंगे। इन लोगों के विचार से यदि लेखन-शक्ति की परीक्षा ली भी जाय तो उसके लिए २० प्रतिशत से अधिक अंक न हों। इस प्रकार प्रश्नपत्र में कुछ ही प्रश्न न होकर पर्याप्त प्रश्न हों जिनके द्वारा बालकों की ज्ञान-परीक्षा ली जा सकती हैं। इस परीक्षा-प्रणाली के प्रश्न मनोवैज्ञानिक बुद्धि परीक्षा की प्रश्न प्रणाली के सदृश ही होंगे और उत्तर के अंक देने की विधि भी निश्चित रहेगी परन्तु दूसरे लोगों के विचारों के अनुसार बालकों में भाषा साहित्य आदि विषयों के विभिन्न सूत्रों को परस्पर सम्बद्ध अपने विचारों को व्यक्त करने की सामर्थ अथवा शक्ति होनी चाहिये और उपरोक्त प्रकार के प्रश्नों के उत्तर द्वारा इस शक्ति का विकास नहीं किया जा सकता। अतः प्रश्न-पत्र का इस प्रकार बनाया जाना ठीक नहीं है।

स्पष्ट है कि हम प्रश्न-पत्र के बनाने के दो प्रकार के विपरीत मतों को देखते हैं। अधिक अच्छा होता यदि प्रश्नपत्र का निर्माण इस प्रकार किया जाय कि उसमें दोनों मतों की अच्छाइयाँ आ जाँय। इसके लिये हमें दोनों मतों के मध्य का मार्ग ग्रहण करना पड़ेगा अर्थात् प्रश्न-पत्र ऐसा बनाया जाय जिससे बालकों की लेखन शक्ति की भी अवहेलना न हो सके, और लेखन शक्ति की परीक्षा उनके कारण अन्य बातों की उपेक्षा ही हो। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना है कि बालकों के प्राप्तांक परीक्षक महोदय की व्यक्तिगत झक के ही परिणाम न हो, और साथ ही बालक प्रश्नपत्र के प्रश्नों का अनुमान भी न लगा पावे। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रश्नपत्र में पर्याप्त और विभिन्न प्रकार के प्रश्न हों जिनका उत्तर बालकों की आवश्यकतानुसार तीन चार शब्दों से लगाकर तीन चार पृष्ठों तक में देना पड़े। इस प्रकार बालकों की लेखन शक्ति की भी अवहेलना न होगी और उनके विषय सम्बन्धी ज्ञान की वास्तविक परीक्षा भी हो सकेगी।

उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच के विषय में कुछ लोगों का मत है कि परीक्षक स्वयं पहले आदर्श उत्तर के विषय में सभी आवश्यक बातें अथवा मुख्य शीर्षक सोच लें और फिर उसी के अनुसार बालकों के उत्तर पर अंक दे। कुछ व्यक्ति बालकों के उत्तर में उनके विचारों, क्रम, शैली, विस्तार आदि को विशेष

वर्तमान परीक्षा के सुधार के उपाय :

परीक्षा स्वाभाविक वातावरण में ली जाय। परीक्षा शिक्षाक्रम का ही एक अंग हो।

परीक्षक को पाठ्यक्रम तथा पाठ्य-विषय का पूर्ण ज्ञान हो। प्रश्न-पत्र एक ही बैठक में बना दिया जाय। अधिक अच्छा हो यदि स्कूलों के अध्यापक ही परीक्षक नियुक्त हों।

उत्तर पुस्तकों की जाँच का प्रश्न अधिक कठिन है। प्रश्न-पत्र ऐसा बनाया जाय जिसमें बालक की लेखन-शक्ति की अवहेलना न हो। बालकों के प्राप्तांकों पर परीक्षक की झक का प्रभाव न पड़े और बालक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का अनुमान भी न कर सके। इसके लिये प्रश्नपत्र में पर्याप्त और विभिन्न प्रकार के प्रश्न हों।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के गुण और दोषों का विवेचन कीजिए?
२. परीक्षा के प्रमुख कार्य अथवा उद्देश्य कौन-कौन से हैं?
३. वर्तमान परीक्षा-प्रणाली में किन उपायों द्वारा सुधार किया जा सकता है?

२. अध्यापन के समय बातचीत करना।

३. स्कूल की वस्तुओं को जानबूझकर हानि पहुँचाना।

४. गृहकार्य करके न लाना।

५. अपने से छोटों को तंग करना।

६. झूठ बोलना।

७. अध्यापक के प्रति अशिष्ठता का व्यवहार।

८. विद्यालय से भाग जाना।

९. वस्तुएं चुराना।

१०. परीक्षा में नकल करना।

विनय-स्थापन के सिद्धान्त

जनतन्त्रीय समाज में विनय स्व-नियन्त्रित होनी चाहिये। यदि यह ऊपर से लादी गई तो यह वाह्य नियन्त्रण का रूप लेगी। स्व-नियन्त्रित विनय-स्थापन के लिए हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए :—

१. विनय का आधार अध्यापक और छात्र का परस्पर प्रेम होना चाहिये। भय का इस पर तनिक भी प्रभाव न आना चाहिये, क्योंकि भय पर स्थापित विनय झूठी होती है।

२. विद्यालय में छात्र ६-७ ही घन्टे रहता है। शेष समय वह घर पर अथवा समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ व्यतीत करता है। स्पष्ट है कि छात्र को विनयी बनाने का उत्तरदायित्व केवल विद्यालय पर ही नहीं है। इस सम्बन्ध में अभिभावक और समाज का भी उत्तरदायित्व है। अतः विनय-स्थापन में अभिभावकों का भी सहयोग प्राप्त करना चाहिए। अभिभावकों से बातचीत कर छात्रों की कठिनाइयों और समस्याओं को अच्छी तरह समझना चाहिए।

३. दण्ड के अधार पर विनय-स्थापन का प्रयास न किया जाय। दण्ड तभी दिया जाय जब उसके बिना काम न चले।

४. जनतन्त्रीय व्यवस्था की यह माँग है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पर नियन्त्रण रक्खे। जो अपने पर नियन्त्रण रख सकता है वही दूसरों पर प्रभाव डाल सकता है। विनय स्थापन में छात्रों को भी उत्तरदायी बना देना चाहिए।

(ङ) किसी के लिये मन में दुर्भावना न लाना और सदा सहिष्णुता, प्रेम और न्याय के रस में सना रहना।

विद्यालय में ऐसे वातावरण का सृजन करना चाहिये जिससे उपर्युक्त गुणों का विकास छात्रों में स्वतः हो जाय।

विनय स्थापन के साधन

ऊपर हम कई संकेत कर चुके हैं कि बालकों को विनयी बनाने के लिये हमें तदनुसार वातावरण का आयोजन करना चाहिये। इसके लिये केवल उपदेशों और भाषणों से ही काम न चलेगा। अतः विद्यालय का संगठन, आदर्श, तथा उसकी सब क्रियायें और व्यवस्थायें जनतन्त्रीय विचारधारा पर आधारित होनी चाहिये। स्पष्ट है कि विनय का सबसे बड़ा साधन वातावरण का वांछित नियन्त्रण है। इस नियन्त्रण में हमें सकारात्मक[1] साधनों की ओर विशेष ध्यान देना है। बहुत ही विशेष परिस्थितियों में ही निशेधात्मक[2] साधनों का अवलम्बन लिया जा सकता है। सकारात्मक और नकारात्मक साधनों के नाम आगे दिये जा रहे हैं :—

सकारात्मक साधन :

१. छात्रों का स्वशासन[3]।
२. अध्यापक-अभिभावक सहयोग[4]।
३. नैतिक शिक्षा।
४. स्कूल का स्तर और परम्परा[5]।
५. विद्यालय में अध्ययन के लिये पर्याप्त सुविधायें।
६. संगठित खेल-कूद।
७. विद्यालय की पाठ्यक्रम सहगामी-क्रियायें।
८. पारितोषिक।
९. विद्यालय का सामूहिक जीवन[6]।

---

1. Positive. 2. Negative. 3. Pupils' Self Government. 4. Parent-Teacher co-operation. 5. Tone and Tradition of the school. 6. Corporate Life of the school.

३. **छात्रों में आदर्श का अभाव :** आज हमारे समाज की दशा दयनीय हो रही है। अब लोग स्वार्थान्ध होकर साध्य से साधन को अधिक महत्त्व देने लगे हैं। सभी लोग अपना-अपना उल्लू सीधा करने में लगे हैं। सामाजिक मान्यताओं में बड़े वेग से परिवर्तन आ रहे हैं। फलतः व्यक्ति नैतिकता के स्तर को निश्चित करने में गलती कर बैठता है। यह है हमारे वैज्ञानिक युग की देन। इससे हमारे समाज की नींव हिल सी गई है। आज व्यक्ति अपने माल और जान की सुरक्षा में सन्देह करने लगा है। सरकारी अनुशासन की डोर कुटिल राजनितिज्ञों के पञ्जों में पड़ने के कारण ढीली हो गई है। जिनका कहीं कुछ जोर है वे आनन्द से हैं, और अन्य लोग पीछे ढकेले जा रहे हैं। इन सब कारणों से हमारे बालकों में आदर्श का अभाव हो गया है। फलत: उनमें विनय-हीनता बढ़ रही है।

४. **आर्थिक विषमतायें :** द्वितीय महायुद्ध के बाद हमारी आर्थिक विषमतायें विकटतर हो गई हैं। जनसंख्या बढ़ रही है। बेकारी का तो कुछ कहना ही नहीं। फलत: विद्यार्थीगण को सदा यह भय बना रहता है कि उनका भविष्य अन्धकार में है। इस अन्धकार के डर से वे अपना कर्त्तव्य निश्चित नहीं कर पाते और समय-समय पर उनमें विनयहीनता विकट रूप पकड़ लेती है।

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यार्थियों में पाई जानेवाली विनयहीनता का उत्तरदायित्व केवल विद्यालय पर ही न होकर, घर, सम्पूर्ण समाज तथा राज्य व सरकार पर है। अतः इसके समाधान में इन सभी का समुचित योग आवश्यक है। ऊपर जिन कारणों की ओर संकेत किया गया है उन्हीं के आधार पर विनयहीनता को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझावों की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है :—

१. अध्यापक में नेतृत्व-शक्ति के विकास के लिए उनके रहन-सहन के स्तर को ऊँचा किया जाय। इसके लिए उनके वेतन में समुचित वृद्धि करनी होगी। उन्हें वे सभी आवश्यक सुविधायें प्रदान करनी होंगी जिससे वे प्राइवेट ट्यूशन के लिये बाध्य न हों। इस प्रकार अध्यापकों को अपने विकास का अवसर मिलेगा और उनका चरित्र-बल बढ़ेगा। इससे उनमें नेतृत्व शक्ति आयेगी और वे छात्रों का उचित पथ-प्रदर्शन कर सकेंगे।

करना। विद्यालय में अध्ययन और अध्यापन की पर्याप्त सुविधाएँ। सामाजिक नियमों का पालन। विनय को पूरे जीवन से सम्बन्धित समझना।

विनय-स्थापन के साधन

अनुकूल वातावरण का आयोजन। विद्यालय का संगठन, आदर्श और सारी क्रियायें इसके अनुकूल। विनय के सकारात्मक और निषेधात्मक साधन। सकारात्मक साधनों पर ही प्रायः बल देना चाहिए।

हमारे विद्यालयों में विनयहीनता के कारण

१. अध्यापकों में नेतृत्व शक्ति का अभाव। २. छात्रों में आदर्श का अभाव। ३. आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था दोष पूर्ण। ४. आर्थिक विषमतायें।

उपर्युक्त कारणों को दूर करने से समस्या का समाधान हो सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. विद्यालय-संगठन में विनय का क्या महत्त्व है? वर्तमान परिस्थिति में विनय के स्थापन के लिए हमें किन-किन साधनों का सहारा लेना चाहिए?

२. विद्यालय में अविनय के कैसे रूप हुआ करते हैं। उनके उपचार के लिए आप क्या करेंगे?

३. विनय-स्थापन के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए। जनतन्त्रीय विनय का क्या अर्थ है?

४. हमारे विद्यालय में बढ़ते हुए अविनय के क्या कारण हैं? उनके समाधान की ओर संकेत कीजिए।

५. विद्यालय में विनय-स्थापन के लिए किन-किनका उत्तरदायित्व है और क्यों?

पुरस्कार प्रथा व्यक्ति के परिश्रम को महत्त्व प्रदान नहीं करती। यह भी कहा जाता है कि पुरस्कार न पाने वाले छात्र अकर्मण्य हो जाते हैं और उनका विकास रुक जाता है। इस समालोचना को दृष्टिकोण में रखकर पुरस्कार प्रदान करने के अवसर एवं पुरस्कार के आदर्श को निर्धारित किया जा सकता है।

पारितोषिक यथासम्भव सामुदायिक रूप में ही देने चाहिए किसी विशिष्ट परिस्थित में ही व्यक्तिगत रूप में इसे देना चाहिए। पुरस्कार देने में बालक के चारित्रिक पक्ष को अधिक महत्त्व देना चाहिए। बालक के दिन-प्रति-दिन के कार्य तथा चरित्र से सम्बन्धित पुरस्कार महत्त्वपूर्ण होते हैं।

दण्ड

प्रत्येक संस्था, समिति अथवा परिषद् तत्कालीन विचारधारा से अनुप्राणित रहती है। हमारे देश ने जनतन्त्रीय व्यवस्था को स्वीकार किया है। अतएव राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक आदि जीवन के विविध क्षेत्रों में जनतन्त्रात्मक विचार पद्धति का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जनतन्त्र में विद्यालय का उद्देश्य होता है कि वह बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करे और भय तथा दण्ड के आधार पर विनय स्थिर न रक्खें, अपितु विद्यालय का वातावरण ही ऐसा होना चाहिये कि बालक स्वतः ही विनयी बने। फ्रोबेल और मॉन्तेसरी ने दन्ड की तीव्र आलोचना की है। दण्ड देने से बालकों में प्रेम, साहस तथा तर्कशक्ति का ह्रास होता है, उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता तथा विविध मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं और उनका शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास रुक जाता है।

हमने ऊपर की पंक्तियों में दण्ड न देने के सिद्धान्त के पक्ष के विषय में तर्क प्रस्तुत किये हैं। दण्ड के कई भेद हैं इनकी ओर नीचे संकेत किया जा रहा है।

१. **शारीरिक दण्ड :** आजकल विद्यालयों में पर्याप्त रूप में शारीरिक दण्ड दिया जाता है। कान उमेटन, चपत मारना, घूंसा मारना, तथा बेंत से मारना आदि रूपों में इसका उपयोग होता है। शारीरिक दंड यथासम्भव नहीं देना चाहिए। जब सभी प्रकार के दन्ड का क्षेत्र समाप्त हो जाय और बिना

करने के पश्चात् बालक थकान का अनुभव करने लगते हैं। उसके बाद फिर अध्ययन के लिये उनकी रुचि नहीं होती। कभी-कभी इसका दुष्परिणाम तो यहाँ तक होता है कि बालक अध्ययन से घृणा करने लगता है और अध्यापक से भी वह चिढ़ने लगाता है।

६. **सामाजिक अस्वीकृति :** यदि बालक के किसी अपराध को उसके सहपाठी सामूहिक रूप से अच्छा नहीं कहते, तो निश्चय ही वह अपराध करना छोड़ देगा। सामाजिक वहिष्कार अपराध प्रकृति को छुड़ाने का अमूल्य साधन है।

७. **क्षमा-याचना :** यदि किसी छात्र ने कोई गम्भीर अपराध किया है तो सामूहिक क्षमा-याचना का दण्ड देना चाहिए, वैसे अध्यापन अथवा प्रधानाध्यापक के समक्ष व्यक्तिगत रूप से क्षमा-याचना का दण्ड देना ही उत्तम होगा।

८. **उत्तरदायित्व के कार्य से मुक्ति :** यदि कोई छात्र अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभाता अथवा उसमें उत्तरदायित्व के कार्य करने की क्षमता नहीं है, या उसने उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहते हुए भी कोई गम्भीर अपराध किया है तो उसे उत्तरदायी पद (जैसे, सभापति, मानीटरपद, मन्त्रिपद) से मुक्त करने का दण्ड देना चाहिए।

९. **अंक कम करना :** प्रायः देखा गया है कि विद्यालयों में अच्छे कार्य करने पर कुछ अंक अधिक दे दिए जाते हैं तथा अपराध करने पर कुछ अंक कम कर दिए जाते हैं। किसी कार्य को पुरा करने के लिए यदि अंक पहले से ही निर्धारित कर लिये गये हैं तो उस पर अंकीकरण का कार्य पृथक रूप से अवश्य होना चाहिये, किन्तु यदि किसी कार्य के लिये अंक पहले से निर्धारित नहीं किये गए हैं तो उस कार्य को पूरा न करने पर अथवा किसी अन्य अपराध के करने पर परीक्षा की उत्तर-पुस्तकों में अंक कम करना वाञ्छनीय नहीं है।

दण्ड-व्यवस्था के सिद्धान्त

दण्ड एक साधन है जो विद्यालय में अनुसाशन को स्थिर रखता है। अतएव दण्ड प्रतिशोध अथवा प्रतिहिंसा की भावना से नहीं देना चाहिए। अधोलिखित

विद्यालय में विनय स्थिर करने के लिए दंड की व्यवस्था की गई है। विद्यालय के बालक पूर्ण विनयी हों तथा विनयहीनता की वृद्धि न हो, इसके लिये कई औपचारिक प्रणालियों का प्रयोग किया जा सकता है। उनमें से कुछ प्रधान प्रणालियों की चर्चा नीचे की जा रही है :—

१. छात्रों के अभिभावकों के साथ पूर्ण सहयोग रखना चाहिये और छात्र के चरित्र, कार्य तथा व्यवहार के विषय में उन्हें निरन्तर सूचना देनी चाहिये।

२. बालक के साथ निकटतम सम्पर्क स्थापित करना चाहिये और उससे सहानुभूति पूर्वक व्यवहार करना चाहिये।

(३) छात्र के प्रत्येक क्षण की उपयोगिता का ध्यान होना चाहिये तथा उसे प्रत्येक क्षण कार्य में व्यस्त रखना चाहिये।

४. छात्र की प्रवृति, रुचि तथा कार्यों का अध्ययन करना चाहिए तथा उसे उसकी योग्यता व रुचि के अनुकूल उत्तरदायित्व का कार्य सौंपना चाहिए।

(५) प्रत्येक छात्र के व्यक्तिगत व्यवहार की ओर ध्यान देना चाहिये तथा उसके प्रत्येक अपराध के निश्चित कारण को ढूँढ़ना चाहिए।

दन्ड विद्यालय में विनय को स्थिर रखने के लिए साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। उसे हमें साध्य के रूप में नहीं मानना चाहिए। यदि हमारे विद्यालयों में साधन के रूप में उसका प्रयोग किया जाय और औपचारिक प्रणालियों को भी कार्यान्वित किया जाय, तो निश्चय ही हमें शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने में सफलता मिलेगी।

सारांश

मानव जीवन में अनुशासन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे शिक्षा-विशारदों ने विद्यालयों में विनय को सुदृढ़ करने के लिए दन्ड तथा पारितोषिक दोनों की आवश्यकता स्वीकार की है।

पुरष्कार : हमारे विद्यालयों में किसी प्रतियोगिता में प्रथम अथवा विशिष्ट स्थान प्राप्त करने पर खेलकूद, परीक्षा अथवा अन्य किसी कार्य में योग्यता प्रदर्शित करने पर बालकों को पुरष्कार देने की प्रथा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. विद्यालयों में विनय का क्या महत्त्व है ? पुरस्कार और दन्ड कहाँ तक विनय स्थिर रखने में सहायक हैं ?

२. आदर्श पुरस्कार के स्वरूप को निर्द्धारित कीजिए तथा विद्यालय-व्यवस्था में उसके महत्त्व को समझाइये।

३. विद्यालयों में दंड व्यवस्था के औचित्य को स्पष्ट करते हुए उसके भेदों का विवेचन कीजिए।

४. दन्ड-व्यवस्था के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

५. हमारे विद्यालयों में पारितोषिक और दन्ड के कौन-कौन रूप प्रचलित हैं ? उनके दोषों का विवेचन कीजिए।

स्थान की भूमि पर न तो दीमक का प्रभाव हो और न वह रेहे से ही प्रभावित हो। जमीन के ठीक न होने पर विद्यालय-भवन को बड़ी हानियों की सम्भावना रहती है।

विद्यालय के स्थान में कुएँ के जल की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि नगर में जल-कल की व्यवस्था है तो इस की आवश्यकता न पड़ेगी। विद्यालय के स्थान को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसके चारों ओर एक सीमा-दीवाल खिचवा दी जाय और चारों ओर छायादार वृक्ष लगवा लिये जांय।

प्रारम्भिक विद्यालय के लिए ५ एकड़ तथा पूर्व माध्यमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों के लिए १० एकड़ भूमि पर्याप्त होगी। यह नगर के विद्यालयों के लिये उपयुक्त व्यवस्था है; किन्तु जिन विद्यालयों में कृषि-शिक्षण की व्यवस्था है उनके लिये न्यूनातिन्यून १० एकड़ भूमि और चाहिये।

भवन

विद्यालय का भवन भव्य एवं आकर्षक होना चाहिये। अंग्रेजी वर्ण टी, ई, एल, एच, तथा यू[1] की आकृति के आधार पर निर्मित भवन देखने में आकर्षक एवं सुन्दर होते हैं। 'ई' की आकृति का भवन सर्वोत्तम माना जाता है। दोहरी 'ई' या दोहरे 'एच' की आकृति का भवन अच्छा समझा जाता है। 'ई' के आकार के भवन में सभा-भवन (हाल) मध्य में होता है। अतः प्रकाश और वायु सभी कमरों में पर्याप्त रूप में पहुँच जाती है। प्रशासन की दृष्टि से भी यह उत्तम है। अधिकांश रूप में भवन का मुख दक्षिण की ओर तथा बरामदे भवन के भीतर की ओर चारों ओर हों तो अच्छा मालूम होगा। खिड़कियों और रोशनदानों का प्रबन्ध अच्छा होना चाहिये। एक मंजिल का भवन अच्छा माना जाता है। भवन की ऊँचाई १६ या १७ फुट तथा कमरों की लम्बाई चौड़ाई २२ या २५ फुट हो, और वे स्वतन्त्र हों। खिड़कियाँ और रोशनदान काफी होने चाहिए। खिड़कियों की ऊँचाई फर्श से ३½ या ४ फुट रखी जा सकती है। सारांश यह है कि विद्यालय का भवन उपयोगिता, स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा वातावरण की दृष्टि से उत्तम होना चाहिये। समय-समय पर उसका जीर्णोद्धार एवं सफेदी का कार्य होना चाहिये।

---

1. T, E, L, H and U.

३. बेंन्चे ऐसी रक्खी हों कि वे दीवार से समकोण बनायें जिससे मेज पर ठीक से प्रकाश पड़े।

४. डेस्क पर बालक के लिए कम से कम १८ इन्च का स्थान होना चाहिए और डेस्क की पंक्तियों के बीच इतना स्थान हो कि आने-जाने में कठिनाई न हो।

५. कुर्सी और मेजें इस प्रकार रक्खी हों कि छात्रों के घुटने समकोण बनावें औन पैर जमीन पर आ जांय। बालक के घुटने और मेज का भीतरी किनारा एक रेखा में होने चाहिए। यदि कुर्सी और मेजें इन सब बातों को ध्यान में रख कर बनाई जांय तो छात्र सीधे बैठ सकेंगे और उनकी रीढ़ की हड्डी टेढ़ी न होगी।

६. मेज की सतह बालकों के सीने के समानान्तर होनी चाहिए जिससे लिखते और पढ़ते समय उन्हें झुकना न पड़े।

७. मेज का चौरस होना ठीक नहीं। मेज की सतह १५० डिग्री के कोण पर अन्दर की ओर झुकी हुई होनी चाहिए।

श्यामपट्ट

हमारे विद्यालयों में दो प्रकार के श्यामपट्टों का प्रयोग होता है। (१) दीवार पर बने हुए श्यापट्ट तथा (२) लकड़ी के तख्ते के बने हुये श्यापट्ट। अध्यापन की दृष्टि से लड़की के तख्ते के बने हुये श्यापट्ट अधिक उपयोगी होते हैं। कमरे से बाहर कक्षा लेने पर भी इनका उपयोग किया जा सकता है। इनको आवश्यकतानुसार प्रकाश की दृष्टि से घुमाया जा सकता है और दोनों ओर लिखा जा सकता है। दीवार के श्यामपट्ट पर लिखे हुए अंश को सभी छात्र पढ़ नहीं पाते, क्योंकि उस पर प्रकाश का प्रभाव समान रहता है, और नीचे लिखा हुआ अंश प्रायः नहीं पढ़ा जाता। हां कला की कक्षा में इसका प्रयोग किया जा सकता है; किन्तु अन्य विषयों की कक्षाओं में इसका प्रयोग सुविधाजनक नहीं है।

अलमारी

विद्यालय-भवन की दीवाल में प्रत्येक कक्षा के कमरे में कई अलमारियाँ होनी चाहिए। दीवाल की अलमारी सुविधाजनक होती है तथा अतिरिक्त

विज्ञान-भवन

विद्यालय में विज्ञान की समुचित शिक्षा प्रदान करने के लिए तथा प्रायोगिक कार्य करने के लिए लगभग ३० फुट × ४२ फुट के नाप का कमरा तथा व्याख्यानात्मक कार्य करने के लिए लगभग २५ फुट × ३० फुट के नाप का कमरा चाहिए। साथ ही, विज्ञान की सामग्री रखने के लिए प्रायोगिक कमरे के पास एक कमरा और होना चाहिये। प्रायोगिक कार्य कमरे में अध्यापक के लिये एक बड़ी मेज होनी चाहिये। छात्रों के लिये डेस्क तथा कुर्सी का प्रबन्ध ऐसी सीढ़ीदार भूमि पर करना चाहिये, जिससे प्रत्येक विद्यार्थी प्रायोगिक कार्य का निरीक्षण कर सके। इस कमरे में पर्याप्त प्रकाश की व्यवस्था होनी चाहिए। एक अच्छे श्यामपट्ट की भी आवश्यकता होगी : इस कमरे में नल से जल लेने की आवश्यकता पड़ती है। विद्यालय में विद्युत की व्यवस्था हो तो उत्तम है। विद्युत के स्थान पर स्प्रिट लैम्प भी कार्य दे सकता है। प्रायोगिक कमरे में छात्रों के लिये एक बड़ी मेज की व्यवस्था करनी चाहिए।

विज्ञान-भवन के महत्त्व को बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के चित्र, तथा विभिन्न प्रयोग-सम्बन्धी आदर्श-चित्र आदि की भी व्यवस्था की जाय। प्रयोग सम्बन्धी सहायक सामग्री रखने के लिए अलमारियाँ होनी चाहिए। प्राथमिक सहायता-सम्बन्धी उपचार की सामग्री भी सदैव तैयार रखनी चाहिए।

भूगोल-भवन

आज का युग विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक युग में भूगोल की शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। विद्यालय में यदि एक भूगोल का कमरा हो तो उत्तम है। भूगोल के कमरे में बहुत अधिक खिड़कियों की आवश्यकता नहीं है। भूगोल के शिक्षण के लिए दीवार का अधिक उपयोग किया जाता है। भूगोल के कमरे के निकट भूगोल भवन में धूप-घड़ी, विंड-वेन[1], रेन-गेज[2], चित्र, श्यामपट्ट, ग्लोब, प्रोजेक्शन के पर्दे की जगह तथा कम्पास आदि का प्रबन्ध उत्तम रीति से होना चाहिए। इस कमरे में मेजों की व्यवस्था होनी चाहिए, डेस्कों की नहीं। फिल्म

---

1. Vind-Vane. 2. Rain gauge.

डेस्क तथा कुर्सियाँ :

एकहरे डेस्क तथा कुर्सी अधिक उपयुक्त होती हैं। डेस्क तथा कुर्सियाँ छात्रों की अवस्था के अनुसार छोटी तथा बड़ी हों।

श्यामपट्ट :

दीवार पर बने हुये श्यामपट्ट तथा लकड़ी के तख्ते के बने हुए श्यामपट्ट विद्यालयों में प्रयुक्त होते हैं। लकड़ी के तख्ते के बने हुए श्यामपट्ट अधिक उपयोगी होते हैं।

अलमारी :

दीवार की अलमारी सुविधाजनक होती है।

इनके अतिरिक्त विद्यार्थियों के लिये कमरा, खेल का कमरा; अभिभावकों के लिए एक स्वतन्त्र कमरा; बालकों के लिये मध्याह्न में भोजन करने के लिये एक भोजन का कमरा तथा शिक्षकों के लिये एक पृथक् कमरा भी विद्यालय-भवन में होने चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. विद्यालय भवन में स्थान के महत्त्व को स्पष्ट रूप से समझाइये। कैसा स्थान विद्यालय-भवन के लिए उपयुक्त रहेगा ?

२. विद्यालय में किन-किन कमरों की आवश्यकता पड़ती है ? किसी पाठ्य-विषय के लिये विशेष कमरे रखने से क्या लाभ हैं ? किसी एक पाठ्य-बिषय के कमरे की सामग्री का वर्णन कीजिए।

३. विद्यालय-भवन में फर्नीचर का क्या महत्व है ? क्या विज्ञान, कला, भूगोल तथा हिन्दी पढ़ाने के लिये एक ही प्रकार के फर्नीचर की आवश्यकता होगी ? यदि नहीं तो क्यों ?

४. विद्यालय के लिये किस प्रकार का भवन उपयुक्त होगा ? उसमें कमरे बनवाने में किन-किन बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए ? स्पष्ट रूप से समझाइये।

५. "किसी विद्यालय के भवन-निर्माण के लिए शिक्षा-शास्त्री और इंजीनीयर दोनों की आवश्यकता है"—इस कथन की पुष्टि कीजिए।

ध्यान रखना चाहिए कि बालक व्यर्थ का खर्च न करने पाये। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि बालक अपने को परतन्त्र अनुभव करे। वस्तुतः बालक छात्रावास में वास्तविक स्वतन्त्रता का अनुभव करे तभी उसका उपयुक्त विकास हो सकेगा।

७. छात्रावास में पूर्ण जनतन्त्र रहता है। वहाँ किसी प्रकार की जाति-पाँति का भेद नहीं रहता। अमीर और गरीब प्रत्येक बात में समान समझे जाते हैं। इस प्रकार बालक छात्रावास में एक जनतन्त्र राज्य का आदर्श नागरिक बनना सीखता है।

छात्रालयाध्यक्ष और उसका उत्तरदायित्व[1]

छात्रावास की उपयुक्त व्यवस्था व संगठन का उत्तरदायित्व बहुत कुछ छात्रावास के अधीक्षक के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। छात्रालयाध्यक्ष को बहुत कुशल और अपने कार्यों के सम्पादन में योग्य होना चाहिए। उसमें आदर्श शिक्षक और माता-पिता व अभिभावकों के गुण हों और साथ ही वह एक अच्छा संगठनकर्त्ता भी हो। बालकों के वांछित विकास के लिए छात्रावास में उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना छात्रालयाध्यक्ष की योग्यता, कुशलता, धैर्य तथा बालकों के प्रति सहानुभूति आदि गुणों पर ही निर्भर करता है।

बालकों के प्रति छात्रालयाध्यक्ष का व्यवहार बालकों के माता-पिता की भाँति स्नेहपूर्ण और सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए। पिता की भाँति उसे बालक की प्रत्येक गति पर अपनी दृष्टि रखनी है और उसके कार्यों के औचित्य, अनौचित्य का विचार करना है। छात्रालय के अध्यक्ष को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए।

१. छात्रालयाध्यक्ष को यह प्रयत्न करना चाहिए कि बालक जनतन्त्र राज्य का एक आदर्श नागरिक हो सके और अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। छात्रालयाध्यक्ष को तानाशाह[2] नहीं होना है। छात्रावास के प्रबन्ध के लिए उसे बालकों की कई ऐसी समितियाँ बना लेनी चाहिए जिन्हें वह विभिन्न प्रकार

---

1. Hostel Superintendent and his responsibilities.
2. Dictator.

भोजन और उसका निरीक्षण :

भोजन का शरीर के विकास से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसीलिए ऐसे भोजन का प्रबन्ध करना चाहिये जो बालकों के शारीरिक विकास के लिये ठीक हो। कहना न होगा कि यह छात्रालयाध्यक्ष का ही कार्य है।

छात्रों की रहन-सहन

छात्रावास में कुछ अच्छे सेवक भी नियुक्त होने चाहिए। इन सेवकों की सहायता से छात्रावास में स्वच्छता का ध्यान रक्खा जाय और उपयुक्त प्रबन्ध किया जाय। छात्रावास में रक्खे जाने वाले सेवकगण स्वभाव के अच्छे और अपना उत्तरदायित्व अच्छी प्रकार से निभाने वाले हों। छात्रालयाध्यक्ष को चाहिए कि वह इन नौकरों को विभिन्न कार्य एक निश्चित समय पर करने का उत्तरदायित्व दे दे। छात्रालयाध्यक्ष को छात्रावास की स्वच्छता का विशेष ध्यान देना है, क्योंकि अस्वच्छता ही रोगों का मुख्य कारण है। अतः छात्रालयाध्यक्ष को चाहिए कि वह समय-समय पर कमरों, शौचालय, स्नानागार तथा नालियों आदि का निरीक्षण करे।

रोग और नियम

विद्यालय तथा छात्रावास के लिये एक छोटासा चिकित्सालय भी होना चाहिए। समय-समय पर संक्रामक रोगों से बचने से लिए छात्रावास में दवा छिड़कनी चाहिए। बालकों को रोग से दूर रखने के लिए आवश्यक टीके लगवा देना चाहिए अथवा अन्य उपायों का सहारा लेना चाहिए। प्रत्येक छात्रावास में दो या तीन कमरे ऐसे होने चाहिए जहाँ पर संक्रामक रोगग्रस्त बालक रक्खे जा सकें। छात्रावास में कुछ ऐसी आवश्यक औषधियाँ भी होनी चाहिए जो साधारण रोगों में प्राथमिक चिकित्सा के रूप में दी जा सकें।

छात्रावास का संगठन[1]

छात्रावास के अध्यक्ष को विद्यार्थियों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रखना चाहिये जिससे छात्रावास का वातावरण कृत्रिम न होने पावे और वहाँ सभी विद्यार्थी एक कुटुम्ब की भाँति रहें। इसके अन्तर्गत गृह-प्रणाली अथवा भवन-प्रणाली

---

1. Organization of the hostel.

पर्याप्त स्थान बच रहे। कमरे का फर्श पक्का होना चाहिये और वहाँ से पानी बहने का प्रबन्ध हो।

इसके अतिरिक्त छात्रावास में एक वाचनालय हाल, खेलने का मैदान तथा रसोई घर आदि होने चाहिए। शौचालय कुछ हट कर पीछे बना होना चाहिए। उसी के थोड़ी दूर पर स्नानागार हो। शौचालय आदि सभी स्थान स्वच्छ रहने चाहिए। छात्रावास के साथ बाग व फुलवारी आदि भी होनी चाहिए।

आन्तरिक व्यवस्था[1]

छात्रावास की आन्तरिक व्यवस्था बालकों अथवा बालकों की समितियों की सहायता से करनी चाहिए। इसके अन्तर्गत बालकों के रहन-सहन की व्यवस्था, स्वच्छता, तथा दैनिक कार्य-क्रम आदि विषय आते हैं।

प्रत्येक बालक के लिए शयनागार में निश्चित स्थान होना चाहिये और यह देखना चाहिए कि बालक अपने सोने के स्थान को परिवर्तित न कर सके। उसे अपने बिस्तरे को व्यवस्थित रखना चाहिये और कपड़े आदि ठीक से तहकर रखना चाहिये। सामान खरीदना, व्यायाम तथा खेल आदि का प्रबन्ध बालकों की सहायता से ही उनकी समितियों द्वारा होना चाहिए। इन समितियों में बालकों द्वारा निर्वाचित विद्यार्थी ही रहें।

छात्रावास के अध्यक्ष को चाहिये कि वह छात्रावास के लिए एक उपयुक्त समय-विभाग-चक्र का निर्माण करे और यह समय-विभाग-चक्र[2] सूचना-पट्ट[3] में लगा रहना चाहिये।

रजिस्टर।

छात्रावास की उचित व्यवस्था और सभी बातों का लेखा रखने के लिए कुछ रजिस्टर रखने की आवश्यकता पड़ती है। ये रजिस्टर छात्रावास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये रजिस्टर निम्नलिखित हैं:—

(१) **प्रवेश-रजिस्टर**: जिन विद्यार्थियों का छात्रावास में प्रवेश हो जाय उनके नाम, पूरा पता, प्रवेश-तिथि तथा उसके बारे में अन्य आवश्यक बातें इसमें अंकित होनी चाहिये।

---

2. Internal management. 2. Time table. 3. Notice Board.

सारांश

छात्रावास की आवश्यकता और उससे लाभ

इससे बालकों को उपयुक्त संरक्षण और वातावरण प्राप्त हो सकता है। सहयोगिता और आत्मनिर्भरता की भावना आती है। बालक कुटुम्ब की भाँति रहता है। उपयुक्त वातावरण मिलता है। बालक विनयी होते हैं। दृष्टिकोण उदार होता है। बालक अपना उत्तरदायित्व समझने लगता है। जनतन्त्र राज्य के आदर्श नागरिक बनने में सहायता मिलती है।

छात्रालयाध्यक्ष और उसका उत्तरदायित्व

उपयुक्त व्यवस्था और संगठन छात्रावास के अध्यक्ष पर निर्भर होता है। इस स्थान पर अनुभवी और योग्य शिक्षक हों। माता-पिता का सा व्यवहार करें। छात्रावास का वातावरण कृत्रिम न रहे। सबके साथ समान व्यवहार हो। बालकों की प्रगति की सूचना उनके अभिभावकों को मिलती जाय। छात्रावास का जीवन अधिक मँहगा न होने पाये। बालक स्वतन्त्रता का अनुभव करे।

भोजन और उसका निरीक्षण :

भोजन ऐसा दिया जाय जिसमें पर्याप्त मात्रा में सभी विटामिन, चर्बी, प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट्स आदि हों।

छात्रों का रहन-सहन : छात्रावास में स्वच्छता का ध्यान रक्खा जाय। रोगों से छात्रों को दूर रखने के लिए सभी आवश्यक उपायों का सहारा लेना चाहिये।

छात्रावास का संगठन : गृह-प्रणाली अथवा भवन-प्रणाली बहुत लाभदायक हो सकती है। छात्रावास का भवन बालकों की और छात्रालयाध्यक्ष के कार्यों की सुविधानुसार हो। उसमें पर्याप्त प्रकाश, शुद्ध वायु आदि का प्रबन्ध हो।

आन्तरिक व्यवस्था: बालकों का रहन-सहन ठीक हो। कोई भी वस्तु अस्त-व्यस्त न रहे। छात्रों के लिये उपयुक्त समय-विभाग-चक्र का निर्माण किया जाय। आवश्यक नियम सूचना-पट्ट में लिखे होने चाहिये।

७७

पुस्तकालय

बालकों की सर्वांगीण उन्नति के लिए आवश्यक है कि वे विद्यालय में जीवनोपयोगी विभिन्न प्रकार के अनुभवों का ज्ञान प्राप्त कर सकें। केवल परीक्षण द्वारा हर एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य के लिए असम्भव सा है, क्योंकि इसमें समय अधिक लगता है और मनुष्य की आयु इतनी बड़ी नहीं होती कि वह परीक्षण में इतना समय दे सके। अतः कम समय में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि पुस्तकों द्वारा पूर्वजों के अनुभवों की जानकारी प्राप्त की जाय। अतएव विद्यालय में सुसंगठित रूप में पुस्तकालय का होना बड़ा आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। इसकी उपयोगिता का वर्णन नीचे किया जाता है।

विद्यालय में पुस्तकालय की उपयोगिता

पर्याप्त ज्ञान-विकास के लिए बालकों को चाहिए कि अध्यापकों के प्रवचन तथा पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों का भी सहरा लें। अध्यापक को चाहिये कि पाठ्य-पुस्तक के अतिरिक्त अपने विषय से सम्बन्धित अन्य पुस्तकों का नाम भी बालकों को बता दे, जिससे वे उनका अध्ययन करके स्वतः ज्ञानवृद्धि करने का प्रयास करें। इससे बालकों में अपने सामान्य ज्ञान की वृद्धि के साथ ही साथ स्वाध्ययन की प्रवृत्ति उत्पन्न होगी। स्वाध्ययन द्वारा प्राप्त किया ज्ञान स्थायी होता है। अध्यापक को चाहिए कि बालकों में अनेक प्रकार की रुचियाँ उत्पन्न करे। इन रुचियों की पूर्ति के लिए केवल पाठ्य-पुस्तकें तथा अध्यापक के प्रवचन अपर्याप्त होंगे। पुस्तकालय से ही बालक की इन विभिन्न प्रकार की आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकेगी। अतः पुस्तकालय द्वारा विद्यार्थी अपने सामर्थ्य के अनुसार ज्ञान प्राप्त करके अपने मस्तिष्क को विकसित कर सकता है।

देना आवश्यक है। इनके उचित रूप में होने पर ही पुस्तकालय का उपयोग भली-भाँति किया जा सकता है।

पुस्तकालय शान्त तथा ऐसे स्थान पर हो जहाँ अधिक चहल-पहल न हो। इसे छोटी कक्षाओं के निकट नहीं होना चाहिए।

पुस्तकालय में वाचनालय अवश्य हो। वाचनालय का कक्ष इतना बड़ा हो कि विद्यालय के लगभग १५ प्रतिशत बालक वहाँ एक साथ बैठ कर पढ़ सकें। इसमें उचित प्रकाश, हवा तथा सज्जा[1] का प्रबन्ध होना चाहिए। पुस्तकें तथा अन्य प्रकाशन इस प्रकार रक्खे हों कि बालक उन्हें सुगमता से पा सकें। पुस्तकालय के अध्यक्ष में इतनी योग्यता हो कि वह बालकों की इच्छानुसार पुस्तकों के सम्बन्ध में उन्हें आवश्यक बातें बता सके।

बहुधा देखा गया है कि पुस्तकालय की ओर आजकल विद्यालयों में कम ध्यान दिया जाता है। पुस्तकों के चयन में बालकों की रुचि पर ध्यान नहीं दिया जाता। उन्हें पर्याप्त मात्रा में पुस्तकें पढ़ने को नहीं मिल पातीं। वाचनालय यदि होता भी है तो उसका वातावरण ऐसा होता है कि बालकों का ध्यान उधर आकृष्ट ही नहीं हो पाता। इसका मूल कारण यह है कि प्रायः विद्यालय का अध्यापक जो कि अन्य अध्यापकों की भाँति कक्षा में पढ़ाता है वही पुस्तकालयाध्यक्ष भी बना दिया जाता है। उसे इतना समय नहीं मिल पाता कि इस ओर पर्याप्त ध्यान दे सके। इस प्रकार विद्यालय का यह अंग अछूता रह जाता है। फलतः ऐसे पुस्तकालयों से बालकों को किंचित मात्र भी लाभ नहीं हो पाता। अतः विद्यालय के पुस्तकालयों में वांछित सुधार करना आवश्यक है।

सर्व प्रथम इसके प्रबन्ध के लिये अनुभवी एवं प्रशिक्षित व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो जिस अध्यापक को यह कार्य सौंपा जाय उसे शिक्षण-कार्य से मुक्त करके प्रबन्ध हेतु पर्याप्त समय देना चाहिए। विभिन्न प्रकार की पुस्तकों की जानकारी और उसमें रुचि लेना अध्यापक के लिए आवश्यक है। इस सम्बन्ध में कार्य-भार के अनुसार अध्यापक को इस

---

1. Furniture.

विद्यालय में बालकों को पढ़ी हुई पुस्तकों के सम्बन्ध में विचार विनिमय करने का अवसर देना चाहिए। अध्यापक को भी अधिकतम पुस्तकों के विषय में ज्ञान रखना चाहिये, जिससे वह बालकों के इस विचार विनिमय में सफल योग प्रदान कर सके। बालकों को चाहिये कि पढ़ी हुई पुस्तक की विशेषता और सारांश को अलग अपनी नोटबुक पर लिख लें। पुस्तक के प्रति अपने विचारों को भी उसी पुस्तिका पर लिख लेना चाहिये। इस प्रकार पुस्तक द्वारा अर्जित ज्ञान के भूलने की सम्भावना कम रहती है। अधिक पुस्तक पढ़ने वाले बालकों को पुरस्कार देने से उनकी उत्सुकता बढ़ाई जा सकती है।

पुस्तकों का संग्रह

विद्यालय में उपयोगी पुस्तकालय का होना जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्वपूर्ण पुस्तकालय में उचित पुस्तकों का होना है। किसी पुस्तकालय को अधिक संख्या में तथा बड़े-बड़े लेखकों की पुस्तकों के रखने से ही श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। पुस्तकालय की महत्ता बहुत कुछ उसकी पुस्तकों की उपयोगिता पर भी निर्भर है। पुस्तकालय में विद्यार्थियों की योग्यता तथा रुचि के अनुसार ही पुस्तकें होनी चाहिये। अध्यापकों को चाहिए कि वे पुस्तकों के विषय से परिचित हों। इनके विषय ऐसे हों जिन्हें विद्यार्थी स्वतः समझ सकें। इस प्रकार विभिन्न पुस्तकें पढ़ने के लिए वे उत्सुक हो सकेंगे। जो पुस्तकें बालकों के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध हों उनकी कई प्रतियों का होना आवश्यक है। प्रायः देखा जाता है कि अध्यापक अपनी परीक्षा से सम्बन्धित पुस्तकों को मंगवा कर पुस्तकालय में रख लेते हैं। इन पुस्तकों से विद्यार्थियों का कोई हित नहीं होता। ऐसी पुस्तकों को पुस्तकालय में स्थान नहीं मिलना चाहिए। इनके अतिरिक्त वे पुस्तकें जिनसे अध्यापक अपनी अध्यापन-कला को अधिक परिमार्जित कर सकें, पुस्तकालय में अवश्य होनी चाहिये। पुस्तकों के संकलन के लिए निम्नलिखित बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

१. पुस्तकालय की पुस्तकें बालकों की विभिन्न प्रकार की रुचियों तथा उनकी योग्यता के अनुसार हों। उनमें बालकों की विभिन्न रुचियों को विकसित करने की क्षमता हो। साथ ही साथ उनके अध्ययन से बालक में कुरुचि न आने पावे। पुस्तकें ऐसी हों जिनसे सदैव बालक का हित होता रहे। उनके

संग्रहालय भी होना चाहिए । वाचनालय एवं पुस्तकालय का बड़ा गहन सम्बन्ध है । वाचनालय का वातावरण शान्त तथा स्वच्छ होना चाहिए । बालकों को बैठकर पढ़ने के लिये पर्याप्त स्थान, प्रकाश तथा सामान होना चाहिये । वर्तमान समाचारों से बालकों को अवगत कराने के लिये विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का होना आवश्यक है । पाठशाला की पत्रिका भी वाचनालय में होनी चाहिए । उनके अध्ययन से बालकों को कविता, लेख, कहानी आदि लिखने की प्रेरणा मिलेगी । सुरुचि-पूर्ण पत्र पत्रिकाओं के अध्ययन से बालकों के चरित्र-निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलेगी ।

विद्यालय के संग्रहालय में ऐतिहासिक तथा अन्य विषयक वस्तुएं एकत्रित की जायें । इनमें सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ एवं चित्रों को संग्रहीत करना चाहिये ।

सारांश

पुस्तकों द्वारा अपने पैत्रिक अनुभवों से सरलतापूर्वक परिचित हुआ जा सकता है । विद्यालय के उद्देश्यों की पूर्ति अथवा बालकों की सर्वांगीण उन्नति के लिए पुस्तकालयों का उचित संगठन बड़ा ही महत्वपूर्ण है ।

विद्यालय में पुस्तकालयों का महत्त्व एवं उनसे लाभ :

पुस्तकालय से बालक के ज्ञान के क्षेत्र में वृद्धि होती है और उसका अर्जित ज्ञान दृढ़ होता जाता है । पुस्तकालय द्वारा बालकों की विभिन्न रुचियों की पूर्ति होती है । विद्यालय का वातावरण अधिक उपयोगी बन जाता है । इसके द्वारा कक्षा में शिक्षण की कमियों को बहुत कुछ पूरा किया जा सकता है । विद्यार्थियों में स्वाध्ययन की भावना उत्पन्न होती है ।

पुस्तकालय की व्यवस्था :

पुस्तकालय का अध्यक्ष किसी अनुभवी अथवा प्रशिक्षित व्यक्ति को होना चाहिए जोकि इस कार्य में रुचि रक्खे । पुस्तकालय तथा तत्सम्बन्धी वाचनालय की स्थिति, स्थान, सामान और वातावरण विद्यार्थियों के लिए उचित और हितकर हो । विभिन्न विषयों के अध्यापकों के सहयोग से पुस्तकालय का

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. विद्यालय में पुस्तकालय का क्या महत्व है तथा उससे विद्यार्थियों को क्या लाभ है ?

२. वर्तमान विद्यालयों के पुस्तकालयों के दोषों पर अपने विचार प्रगट कीजिये ।

३. विद्यालय के पुस्तकालयों की व्यवस्था तथा उनकी पुस्तकों के सङ्कलन सम्बन्धी आवश्यक बातों का वर्णन कीजिए ।

कार्य द्वारा बालक में स्वतः कार्य सम्पादन की भावना जागृत होती है। बालक के सम्पूर्ण विकास में सहायता मिलती है। वह स्वावलम्बन का पाठ सीखता है।

इन दो विरोधी विचारों के अतिरिक्त उपयोगी यह होगा कि बालकों को गृह-कार्य दिया जाय; परन्तु इतनी अधिक मात्रा में नहीं कि वह उनके अन्य कार्यों में बाधक हो। गृह-कार्य देते समय यह ध्यान देना चाहिए कि बालकों के लिये किसी भी परिस्थिति में वह हानिकारक न हो तथा उसके द्वारा वांछित उद्देश्य की पूर्ति हो।

गृह-कार्य के प्रमुख उद्देश्य

गृह-कार्य द्वारा प्रायः तीन प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति होती है।

इसके द्वारा प्राप्त किये हुए ज्ञान को हृदयंगम करने का अवसर मिलता है। पढ़े हुए विषय को यदि दोहराया न जाय तो कुछ दिनों तक वह असंगठित रूप में मष्तिस्क में रहेगा, और शीघ्र ही भूल जायगा। इसके द्वारा आगे के ज्ञान को प्राप्त करने की क्षमता भी लायी जाती है।

इसका दूसरा उद्देश्य विद्यार्थियों में स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न करना है। विद्यार्थियों में स्वतः कार्य करने की आदत आती है।

तीसरा उद्देश्य, कक्षाध्यापन-विधि के दोषों को कुछ सीमा तक कम करना है। कक्षाध्यापन-विधि द्वारा विभिन्न बालकों की योग्यता तथा शक्ति पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जा सकता। गृह-कार्य द्वारा प्रत्येक बालक अपनी शक्ति एवं योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न रूप में अध्यापक के समक्ष आता है। ऐसी दशा में अध्यापक उसे पर्याप्त सहायता देने में सफल हो सकता है।

गृह-कार्य का महत्व तथा उससे लाभ

विद्यालय तथा घर दोनों ही बालक की शिक्षा के लिए उत्तरदायी होते हैं। विद्यालय में बालक को अपने समस्त कार्यों को पूरा करने का पर्याप्त समय नहीं मिल पाता। प्राप्त किए हुए ज्ञान को यदि दोहरा कर हृदयंगम न किया जाय तो, वह कुछ काल तक अव्यवस्थित रूप में पड़ा रह कर ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, भूलता जाता है, अतः निम्नलिखित कारणों से बालकों को गृह-कार्य देना महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है।

गृह-कार्य देने में ध्यान देने योग्य बातें

बालकों की शक्ति, योग्यता, सामर्थ्य तथा परिस्थिति के अनुसार ही गृह-कार्य देना उनके लिए हितकर होगा। इस विषय में बालकों की रुचि को प्रधानता देनी चाहिए। रुचिकर कार्य को वे आनन्दपूर्वक करेंगे। इस प्रकार स्वाध्ययन की ओर वे उत्साहित होंगे। यदि उन्हें गृह-कार्य की उपयोगिता के विषय में भी बता दिया जाय तो उचित होगा। वे उसकी सार्थकता को समझ कर उसे पूरा करने के लिए प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

कक्षा के सभी छात्र समान स्तर के नहीं होते। सभी छात्रों को एक ही प्रकार का गृह-कार्य देना अनुचित होगा। गृह-कार्य देते समय विद्यार्थियों की वैयक्तिक भिन्नता, रुचि, योग्यता, शक्ति तथा सामर्थ्य पर ध्यान देना आवश्यक है। ऐसा न होने पर बालक गृह-कार्य के लाभों से वंचित रह जायगा और उसमें अध्ययन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जायेगी। तीव्र बुद्धि वाले बालकों की अपेक्षाकृत मन्द बुद्धि बालक को सरल तथा कम प्रश्न करने को दिये जाँय। यदि बालक की शक्ति और योग्यता के परे काम करने को दिया जायगा तो उसके करने में वह सफलता का अनुभव न करके हताश एवं निराश हो जायगा। इस प्रकार उसके विकास के कुंठित होने की आशंका है।

गृह-कार्य देते समय अध्यापक को बालक के घर की परिस्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। किसी भी दशा में इतना काम नहीं देना चाहिए जिसके कारण बालक को खेलने तथा घर के अन्य कार्य करने का समय न मिल सके। खेलने के समय के न मिलने पर उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। प्रत्येक बालक की परिस्थिति के अनुसार कार्य देना चाहिए। जिसे सुगमता से पर्याप्त अवसर गृह-कार्य के लिए मिल सकता हो उसे अपेक्षाकृत अन्य बालकों से अधिक कार्य देना चाहिए।

गृह-कार्य में कोई नवीन काम करने के लिए बालकों को नहीं देना चाहिए जो विषय अथवा अध्याय कक्षा में पढ़ाया गया हो उसे ही देना चाहिये जिससे उसे दोहरा कर भली-भाँति बालक हृदयंगम कर सके। अध्यापक को चाहिये कि बालकों को ऐसा कार्य दे कि उन्हें इस सम्बन्ध में अन्य पुस्तकों का भी अध्ययन

गृह-कार्य देने से अधिक महत्त्वपूर्ण उसका उचित निरीक्षण करना है। यदि गृह-कार्य का भली-भाँति अध्यापक द्वारा निरीक्षण नहीं किया जायगा तो बालक को अपनी प्रगति के बारे में जानकारी नहीं प्राप्त हो सकेगी। फलतः उसकी दृष्टि में गृह-कार्य महत्वहीन, अरुचिकर तथा भारस्वरूप हो जायगा। उसका उचित निरीक्षण और मूल्यांकन होने पर बालक की रुचि में वृद्धि होगी जोकि उसकी प्रगति में सहायक होगी।

विषयानुसार विभिन्न प्रकार के गृह-कार्यों का देना

गृह-कार्य के अन्तर्गत बालकों को केवल लिखने ही वाला काम देना आवश्यक नहीं है। किसी विषय के ज्ञान को स्थायित्व देने के लिए उसका दोहराना, प्रयोग में लाना तथा अभ्यास करना आवश्यक है। बालकों के ज्ञान तथा कौशल के विकास-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न पाठों के आधार पर भिन्न-भिन्न कार्य देना चाहिए। रसानुभूति[1] सम्बन्धी कार्यों का भी देना आवश्यक है। अतः उपर्युक्त बात को ध्यान में रखते हुए भाषा, विज्ञान, भूगोल, तथा गणित आदि विषयों के प्रयोगात्मक कार्यों को घर पर करने के लिए देना चाहिए। कौशल-सम्बन्धी; जैसे, चित्र-कला, मुद्रण-कला, काष्ठ-कला तथा पुस्तक-कला आदि विषयों के अभ्यास-सम्बन्धी कार्य देने चाहिए। रसानुभूति के लिए बालकों को चित्र बनाने, कविता पढ़ने तथा लिखने आदि के लिए उत्साहित करना चाहिए। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के पाठों के लिए भिन्न-भिन्न कार्यों को देना चाहिये।

अहितकर गृह-कार्य

उपर्युक्त बातों पर न ध्यान देकर दिया हुआ गृह-कार्य बालकों के लिए सर्वथा अनुपयोगी और अहितकर होगा। अनुपयुक्त दशाओं में दिये गये गृह-कार्य से लाभ के बदले हानि की सम्भावना अधिक रहती है। छोटे बच्चों को अपेक्षाकृत अधिक खेलने-कूदने का अवसर देना चाहिये। अतः उन्हें किसी भी प्रकार का गृह-कार्य देना समीचीन न होगा।

अधिकांश अध्यापक आजकल उपर्युक्त बातों की अवहेलना करके प्रायः असंतुलित एवम् अनुचित गृह-कार्य बालकों को दे देते हैं। इसका फल सदैव विपरीत होता है। बालक उस कार्य में रुचि रखने के बजाय उससे भयभीत रहता

गृह-कार्य में ध्यान देने योग्य कुछ बातें

गृह-कार्य बालकों की वैयक्तिक भिन्नता तथा परिस्थिति के अनुकूल हो। इसमें कोई नवीन चीज न दी जाय। इसके द्वारा बालकों को पुस्तकालय के प्रयोग की ओर उत्साहित किया जाय। यह परीक्षा में उत्तीर्ण कराने के दृष्टि-कोण से न दिया जाय। इसके द्वारा बालकों की तर्क तथा विचार शक्ति को विकसित होने का अवसर दिया जाय। इसका अधिक होना प्रत्येक दशा में अवांछनीय है। गृह-कार्य का निरीक्षण तथा मूल्यांकन उचित रूप में होना आवश्यक है। विषय तथा पाठों के अनुसार विभिन्न प्रकार के गृह-कार्य देने चाहिए।

अहितकर कार्य

अनुचित मात्रा में अथवा दन्ड के रूप में दिया हुआ गृह-कार्य सर्वथा अहितकर है। छुट्टियों के लिए विशेष रूप में दिया गया गृह-कार्य छुट्टी के महत्त्व को कम कर देता है तथा अनुचित है। छोटे बालकों को गृह-कार्य देना अनुपयोगी है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. गृह-कार्य के उद्देश्यों को दृष्टिगत करते हुए उसकी आवश्यकता एवम् महत्ता पर अपने विचार प्रकट कीजिए ?

२. बालकों को गृह-कार्य देते समय किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

चाहिए जिससे बालक में सामाजिक गुणों का विकास हो तथा उसके स्वास्थ्य की रक्षा एवं अभिवृद्धि भी हो। इन सब लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विद्यालय को एक स्वास्थ्य-योजना बनानी चाहिए। स्वास्थ्य-योजना में हम सर्वप्रथम स्वास्थ्य-रक्षा की प्रमुख बातों का उल्लेख करेंगे।

स्वास्थ्य-रक्षा

१. स्वच्छता :

विद्यालय के प्रत्येक स्थान की स्वच्छता आवश्यक है। विद्यालय के उद्यान, मैदान, क्रीड़ा-स्थल, बरामदों, कमरों और दीवालों आदि की नित्य प्रति सफाई होनी चाहिए। शौचालय और मूत्रालय में पर्याप्त स्वच्छता होनी चाहिये। नालियों की प्रतिदिन सफाई होनी चाहिये और उसमें कीटाणु-नाशक दवाइयाँ भी छिड़की जानी चाहिये।

२. प्रकाश और वायु की व्यवस्था :

विद्यालय की कक्षाओं में बालकों को पर्याप्त प्रकाश व वायु मिलनी चाहिये। विद्यालय में फर्नीचर की व्यवस्था ठीक होनी चाहिये और कक्षा का समक्ष विभाग ऐसा चाहिए जिससे बालक अत्यन्त थकान का अनुभव न करें।

३. स्वास्थ्य परीक्षा :

प्रत्येक बालक के स्वास्थ्य की नियमित परीक्षा कर किसी चिकित्सक के परामर्शानुसार समुचित चिकित्सा का प्रबन्ध होना चाहिये। इस विषय में अभिभावकों को, शिक्षकों को पूर्ण सहयोग देना चाहिये। यदि कोई छात्र संक्रामक रोग से पीड़ित पाया जाय तो उसे अन्य छात्रों से पृथक कर देना चाहिये तथा उसके उपचार का तुरन्त प्रबन्ध करा देना चाहिये।

बालकों की स्वास्थ्य परीक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है :—

(क) बालकों के प्रवेश समय से ही नियमित रूप से उनकी स्वास्थ्य-परीक्षा पूर्ण रूप से की जाय। यदि यह महीने में एक बार हो तो उत्तम, नहीं तो त्रैमासिक परीक्षा अवश्य होनी चाहिये। यदि कुछ बालकों में कोई रोग पाया जाय तो उस रोग की सूचना उनके अभिभावकों को अवश्य दी जाय। अभिभावकों का कर्त्तव्य है कि वे तुरन्त ही उसका उपचार करें।

से बालक शारीरिक शक्ति प्राप्त करते हैं। इनसे मस्तिष्क, आँख, पैर तथा हाथ आदि एक साथ कार्य करते हैं और उन्हें शक्ति प्राप्त होती है। खेल-कूद से बालक की आन्तरिक तथा वाह्य शक्तियों के विकास के साथ उसमें सामाजिक गुणों का भी विकास होता है। खेल-कूद से व्यक्ति सहयोग, विवेकशक्ति, स्वानुशासन, आज्ञापालन, सामाजिक हित की भावना, तथा कठिनाइयों पर विजय पाने का साहस, निर्णय करने की शक्ति आदि गुणों को उपार्जित करता है। वस्तुत: खेल के मैदान में ही छात्र के चरित्र का विकास होता है। अतएव आवश्यक है कि विद्यालयों में खेल का अच्छा प्रबन्ध किया जाय। खेल की व्यवस्था की ओर हम नीचे संकेत कर रहे हैं :—

क्रीड़ा-व्यवस्था :

प्रत्येक विद्यालय में खेल की व्यवस्था को समुचित रूप में संचलित करने के लिये एक अध्यापक होता है जिसे हम खेल-अधीक्षक अथवा क्रीड़ाध्यक्ष कह सकते हैं। वह प्रत्यक्ष रूप से विद्यालय की क्रीड़ा व्यवस्था के लिये उत्तरदायी होता है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से विद्यालय के समस्त शिक्षकों को खेलकी व्यवस्था में सहयोग देना पड़ता है। खेल कूद की उत्तम व्यवस्था के लिये यह आवश्यक है कि समस्त शिक्षक तथा अधीक्षक संगठित रूप से खेल का निरीक्षण करें और स्वयं भी खेल में भाग लें तभी हमारे बालक उत्तम गुण को प्राप्त कर सकेंगे।

क्रीड़ा-व्यवस्था में निम्नलिखित बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए:—

१. विद्यालय के छात्रों की अवस्था, योग्यता तथा इच्छा के आधार पर दल बनाना चाहिये, अन्यथा सब छात्रों को किसी विशिष्ट खेल के खेलने का भी अवसर नहीं मिल सकता। दल का नायक विद्यार्थियों द्वारा निर्वाचित होना चाहिए।

२. विद्यालय में खेल का नियमित समय-विभाग बनाना चाहिए। एक ही खेल को पूरे सप्ताह नहीं देना चाहिए। प्रतिदिन उसमें यदि परिवर्तन किया जाय तो उत्तम होगा।

३. प्राय: विद्यालयों में कुछ चुने हुए छात्रों को ही खेल का अवसर प्रदान किया जाता है और अन्य बालकों की उपेक्षा की जाती है। यह अनुचित

प्रारम्भ होने से पूर्व तथा जाड़े में एक-एक घण्टे के पश्चात् ड्रिल का अभ्यास कराया जा सकता है।

११. विद्यालय में वार्षिक क्रीड़ा-सप्ताह की भी व्यवस्था करना आवश्यक है। इसमें किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को प्रधान अतिथि के रूप में आमन्त्रित करना चाहिये। विभिन्न क्रीड़ा-कार्य की आयोजना से छात्र खेल के महत्त्व को समझेंगे तथा खेल के नियमों से भी परिचित हो जायेंगे। इस अवसर पर विभिन्न खेलों की प्रतियोगिताओं का आयोजन करना चाहिये। इस अवसर पर विजेताओं को पुरस्कृत किया जा सकता है।

स्वास्थ्य-शिक्षा के तत्व

विद्यालयों में स्वास्थ्य-शिक्षा-सम्बन्धी मुख्य बातों को इस प्रकार समझाना चाहिये कि बालक स्वास्थ्य के नियमों से भलीभाँति परिचित हो जाँय तथा स्वास्थ्य-शिक्षा के महत्त्व को समझें। हमें इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें छात्रों को समझानी चाहिये :—

१. बालक को समझाना चाहिये कि सूर्योदय से पूर्व उठने से कौन-कौन लाभ हैं, पढ़ने-लिखने तथा खेल में कितना समय देना चाहिये तथा कितने घण्टे सोना चाहिये।

२. छात्रों को समझाना चाहिये कि वे सन्तुलित आहार ग्रहण करें। फल, मिष्ठान तथा दुग्ध आदि पदार्थ कितनी मात्रा में किस प्रकार प्रयोग किये जाँय यह बतलाना आवश्यक है।

३. छात्रों को संक्रामक रोग से बचने के उपाय समझा देने चाहिये।

४. शरीर-रचना की सामान्य बातें छात्रों को बता देनी चाहिये जिससे वे शरीर के विभिन्न अंगों के विषय में जानकारी प्राप्त कर लें।

५. छात्रों को स्वच्छता के महत्त्व को भलीभाँति समझा देना चाहिए। नाखून साफ रखना, स्नान करना तथा कपड़े साफ रखना आदि के महत्व को उन्हें बतला देना चाहिये।

६. जल तथा वायु दोनों की शुद्धता की आवश्यकता को छात्रों को समझा देना चाहिये।

(अ) अध्यापक बालकों के साथ निष्पक्षतापूर्ण व्यवहार करें। वे सबके समान रूप से हितैषी बनें और बालकों के मस्तिष्क विकास का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण निरीक्षण करें।

(ब) शिक्षक बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिये स्वतन्त्र वातावरण प्रदान करें, किन्तु उच्छृंखलता को आश्रय न दें। बालकों को समाज-सेवा आदि कार्यों में भाग लेने के लिए उत्साहित करें जिससे उनमें विनय-प्रियता, संयोग, बन्धुत्व-भाव, मैत्री-प्रियता तथा न्याय-परायणता आदि गुणों का स्वतः विकास हो जाय।

(स) दुर्गुणों की ओर बालकों की प्रवृत्ति को रोकने के लिये अभिभावकों का पूर्ण सहयोग प्राप्त करें। अभिभावकों को परामर्श देना चाहिए कि वे अश्लील चल-चित्र बालकों को न दिखायें और धूम्र-पान आदि दुर्गुणों से उन्हें बचायें।

(द) ऋषि, महर्षि, महापुरुष तथा विद्वानों के जीवन-चरित्र के विषय में कभी-कभी बालकों के समक्ष भाषण की आयोजना होनी चाहिए जिससे वे उनके आदर्श को सामने रखकर अपना विकास करें।

समाज को भी शिक्षकों के साथ सहयोग करना चाहिये। बालक विद्यालय में केवल चार या पाँच घण्टे ही रहता है। उसका शेष समय समाज के वातावरण में ही व्यतीत होता है। अतः यह आवश्यक है कि समाज का वातावरण भी पवित्र एवं शुद्ध हो जिससे बालक अपना समुचित विकास कर सके।

सारांश

स्वास्थ्य-शिक्षा-योजना का महत्त्व :

हमारी शिक्षा का उद्देश्य बालकों का सर्वोतोन्मुखी विकास करना है। अतः विद्यालयों में स्वास्थ्य-शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

हमारा देश आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ नहीं है, अतः हमें अपने सीमित साधनों के द्वारा ही उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। बालकों के स्वास्थ्य रक्षा का उत्तरदायित्व समाज, शिक्षा तथा सरकार सभी के ऊपर है।

४. विद्यालय में किन-किन खेलों को स्थान देना चाहिये ? खेलों से कौन-कौन से लाभ हैं ? स्पष्ट कीजिये ।

५. क्रीड़ा व्यवस्था की उत्तमता के लिये किन बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये ? संक्षेप में लिखिए ।

६. बालक के मानसिक स्वास्थ्य का क्या अभिप्राय है ? इसके महत्त्व को समझाइये तथा मस्तिष्क-विकास-प्राप्ति के साधनों का उल्लेख कीजिए ।

होता है कि श्वांस द्वारा बाहर निकली हुई वायु में आक्सीजन का प्रायः अभाव रहता है, और कार्बनडाईअक्साइड की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है। उपर्युक्त तीनों पदार्थों के अतिरिक्त इस वायु में कार्बनमानोक्साइड तथा गन्धक-आक्साइड आदि शरीर की गैसें भी मिश्रित हो जाती है। इनमें वाष्प-कण अत्यधिक हो जाते है तथा प्राणिज-कण भी अधिक उत्पन्न हो जाते हैं। इन कणों की उत्पत्ति फेफड़े, चर्म तथा गन्दे कपड़ों से होती है।

अशुद्ध वायु के कुपरिणाम :

अशुद्ध वायु के कुपरिणामों से अवगत होने के लिए यदि हम एक छोटे से बन्द कमरे में थोड़ी देर तक रहें तो पहिले शरीर कुछ भारी होने लगेगा, जम्हाई आने लगेगी, आखें उनींदी हो जावेगी और क्रमशः वायु के कुपरिणामों से प्रभावित होकर दिल घबड़ाने लगेगा, मानसिक थकावट प्रतीत होने लगेगी, सांस तेज चलने लगेगा और बेचैनी बढ़ती जायगी। यदि इसी प्रकार के छोटे तथा अहवादार कमरे में कुछ दिनों तक रहना पड़े तो इनके कुपरिणामों से शरीर का विकास रुक जायगा। रक्त-शोधन क्रिया के रुक जाने के कारण अनेक प्रकार के चर्म-रोग तथा संक्रामक रोगों से मनुष्य ग्रसित रहेगा। भूख नहीं लगेगी; शरीर कुरूप हो जावेगा तथा पाचन-शक्ति में शिथिलता आ जावेगी।

उपर्युक्त कुप्रभावों के कारण :

इन कुप्रभावों के प्रमुख दो कारण है। एक का सम्बन्ध वायु में स्थित रसायनिक मिश्रण से है तथा दूसरे का वातावरण के भौतिक गुण से। स्वास्थ के लिए वह वायु अधिक लाभप्रद होती है जिसमें ऑक्सीजन की मात्रा अधिक और कार्बनडाईअक्साइड कम हो। बन्द अथवा अहवादार कमरे में प्रायः आक्सीजन की मात्रा कम और कार्बनडाईअक्साइड अधिक मात्रा में होती है। यही कारण है कि ऐसे कमरों में घुटन, बेचैनी, तथा शिथिलता आदि का भान होता है। परन्तु वैज्ञानिकों ने इन कुपरिणामों के प्रमुख कारणों में रसायनिक मिश्रण को अधिक महत्व न देकर वातावरण के भौतिक गुणों को मान्यता प्रदान की है।

वातावरण के भौतिक गुणों से सम्बन्धित इन कुप्रभावों के कारणों में (अ) तापमान का अत्यधिक ऊँचा होना; (ब) वायु में गति का अभाव; (स) वायु

वायु में संक्रामक रोग के कीटाणुओं की अधिकता होने पर स्वाभाविक है कि उनसे लोग ग्रसित हों। शरीर में कुछ ऐसे तत्व अवश्य होते हैं जो इनका मुकाबला करते हैं। परन्तु वायु द्वारा ये कीटाणु यदि अधिक मात्रा में शरीर के अन्दर प्रवेश कर जाते हैं और शारीरिक तत्व इनके सम्मुख निर्बल पड़ जाते हैं तो रोग उत्पन्न हो जाता है।

वायु प्रसरण अथवा व्यजन :

स्वाशोच्छ्वास द्वारा निकली हुई वायु में शरीर के पोषक तत्व नहीं रहते और वह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो जाती है। अतः विद्यालयों के कमरों में ऐसी वायु को बाहर निकालने में तथा बाहर की शुद्ध वायु जिसमें पोषक तत्व विद्यमान हों, उन्हें भीतर लाने का प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त स्वाशोच्छ्वास द्वारा निकली हुई वायु की अशुद्धि भी उस दशा में किसी सीमा तक सहन की जा सकती है, जबकि उसे गतिमय करके, उसमें विद्यमान नमी को सुखाने तथा उसे शीतल करने हेतु वायु प्रसरण अथवा उपयुक्त व्यजन का प्रबन्ध किया गया हो। इस प्रकार वायु के प्रवेश तथा निकास द्वारों का उपयुक्त प्रबन्ध करके विद्यालयों को संक्रामक रोगों से बचाकर उन्हें स्वस्थ्य बनाया जा सकता है।

वायु प्रसरण अथवा व्यजन की विधियाँ :

उपयुक्त व्यजन वही कहा जा सकता है जो समुचित रूप से हवा को गतिमय, और शीतल रख सके। यह तभी सम्भव है जब भीतर की गन्दी तथा अशुद्ध हवा को बाहर निकलने का, बाहर की स्वस्थ और पौष्टिक तत्वों वाली वायु को भीतर आने की समुचित व्यवस्था हो। यह व्यवस्था दो प्रकार से की जा सकती है। प्रथम प्राकृतिक और द्वितीय अप्राकृतिक रूप में। जब वायु के प्रकरणों को प्राकृतिक नियमों के अनुसार वायु प्रसरण के रूप में ग्रहण किया जाता है तो उसे प्राकृतिक और जब उसे विशेष यन्त्रों की सहायता से वायु प्रसरण के रूप में ग्रहण किया जाय तो अप्राकृतिक व्यजन-विधि कहेंगे।

प्राकृतिक व्यजन विधि :

अप्राकृतिक व्यजन विधि की अपेक्षा प्राकृतिक व्यजन विधि अधिक उपयुक्त और लाभदायक होती है। प्राकृतिक व्यजन विधि का निर्माण वायु के निम्न-

प्रवेश करती है। इस प्रकार हवा की दो लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। एक लहर कम भार वाली वायु की जो हलकी होने के कारण ऊपर रहती है, दूसरी अधिक भार वाली हवा की जो नीचे रहती है। यदि कमरे में पर्याप्त मात्रा में रोशनदान और खिड़कियाँ हों तो यह हलके भार वाली गरम और दूषित वायु रोशनदानों द्वारा बाहर निकलती रहेगी और बाहर से कमरे में स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद वायु आती रहेगी। अतः विद्यालय के कमरों में रोशनदानों तथा खिड़कियों का प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।

प्राकृतिक व्यजन के साधन :

प्राकृतिक व्यजन उपर्युक्त जिन तीन शक्तियों पर निर्भर है, इस विधि में प्रायः इन तीनों का प्रयोग एक साथ किया जाता है। इसके अनुसार प्राकृतिक व्यजन के साधनों को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) चिमनियाँ, (२) दीवार या छत में वायु निष्कासन मार्ग, (३) वायु प्रवेश हेतु खिड़कियाँ या दरवाजे, (४) वायु प्रवेश हेतु फर्श के समीपवर्ती वायु मार्ग।

१. चिमनियाँ :

हवा गरम होने पर उसकी आर्द्रता नष्ट हो जाती है और और भार कम हो जाता है। भार कम होने पर वह ऊपर उठने की कोशिश करती है। ऊपर उसे चिमनी द्वारा निकलने का मार्ग मिल जाता है। इस प्रकार गरम वायु के निकलने से जो स्थान रिक्त होता है, उसकी पूर्ति हेतु बाहर की शुद्ध वायु कमरे में प्रवेश करती रहती है।

२. दीवार या छत में वायु-निकासन-मार्ग :

चिमनियों की भांति ऐसे कमरों की छतों में जिनके ऊपर कोई कमरा न हो विभिन्न प्रकार के वायु-निष्कासन-मार्ग बनाये जा सकते हैं। मकिनेल[1] के वायु-मार्ग आदि ऐसे मार्ग हैं जिनके द्वारा अशुद्ध वायु के बाहर जाने और शुद्ध वायु के भीतर प्रवेश करने की साथ ही साथ व्यवस्था की जा सकती है। इनमें दो नलिकायें होती हैं। बीच की नलिका से अशुद्ध वायु और कम भार वाली

1. Mackinell.

हानि की अधिक सम्भावना रहती है, क्योंकि शुद्ध वायु की मात्रा को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता और न वह साफ. की जा सकती है। पंखों से अन.वश्यक शोर होता है जो वातावरण की शान्ति भंग करता है। बाहर की आर्द्र और शुद्ध वायु नीचे से आती है जिससे सर्दी और सीलन उत्पन्न हो सकती है। इस सीलन से सर्दी, जुकाम, खांसी तथा अनेक प्रकार के हृदय रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

वायु को धक्का देकर प्रवेश कराने की क्रिया[1] :

इस विधि में यन्त्र के सहारे बाहर से शुद्ध तथा ताजी वायु को कमरे में प्रवेश कराया जाता है। कमरे की अशुद्ध वायु खिड़कियों और रोशनदानों द्वारा बाहर से निकलती रहती है। इस प्रक्रिया में यह ध्यान रखना चाहिए कि खिड़कियाँ और रोशनदान उसी ओर अधिक हों जिस ओर से अधिक वायु के आने की सम्भावना हो। इस विधि का सबसे अधिक लाभ यह है कि वातावरण के अनुसार वायु के तापक्रम तथा आर्द्रता में परिवर्तन किया जा सकता है।

अप्राकृतिक व्यजन विधि की अनुपयुक्तता :

यद्यपि व्यजन की इस अप्राकृतिक प्रणाली को वर्तमान काल में बड़ा महत्त्व प्राप्त है परन्तु विद्यालय और उसके वातावरण एवम् परिस्थितियों के दृष्टिकोण से यह सर्वथा अनुपयुक्त है। इससे विद्यालय का खर्च बढ़ जाता है जिसका प्रभाव बालकों के शुल्क पर पड़ कर शिक्षा को अधिक मंहगी बना देगा। इसमें प्रयुक्त किये जाने वाले यन्त्रों तथा पंखों की आवाज से विद्यालय की निस्तब्धता भंग होती है जो शिक्षा की दृष्टि से बड़ी ही हानिकारक है। इस प्रणाली द्वारा तापमान और आर्द्रता की निस्तब्धता पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इन यन्त्रों द्वारा हवा को गरम किया जाता है। ऐसा करना प्रकृति के विरुद्ध और हानिकारक है। स्वास्थ्य विज्ञान में बालकों को खिड़कियों के खुले रखने की शिक्षा दी जाती है, परन्तु इस विधि में उनका बन्द रहना आवश्यक है। इस प्रकार शिक्षा के आदर्श का हनन होता है जिसका कुप्रभाव बालकों पर पड़ना स्वाभाविक है। अप्राकृतिक व्यजन-प्रणाली के प्रचलन हेतु की गई व्यवस्था

1. Plenum Method or Propulsion Process.

की क्रिया सूर्य प्रकाश पर ही निर्भर है, और यह बालक के शारीरिक विकास के अत्यन्त उपयोगी अङ्ग हैं। अतएव विद्यार्थियों के लिए खेल का खुला मैदान, ऊँचे-ऊँचे कमरे जिनमें रोशनदान की समुचित व्यवस्था हो, का उपलब्ध होना अत्यन्त आवश्यक है जिससे उन्हें आवश्यक प्रकाश मिलता रहे और उनका समुचित शारीरिक विकास होता रहे।

सारांश

हवा का महत्व :

हवा के बिना जीवित रहना असम्भव है। इससे शरीर का तापमान नियन्त्रित रहता है। रक्त शोधन होता रहता है।

वायु के तत्व तथा उनका मिश्रण :

शुद्ध वायु में नाइट्रोजन ७९, आक्सीजन २०.९६. कार्बनडाईआक्साइड ·०४ प्रतिशत होते हैं और अशुद्ध वायु में इनकी मात्रा क्रमशः .७९, .१६ तथा ४.४ रहती है। इसके अतिरिक्त शुद्ध वायु में एमोनिया, ओजोन, प्राणित तथा अप्राणित स्थगित कण, वाष्प कण एवं कीटाणु भी होते हैं। अशुद्ध वायु में उपयुक्त तत्वों के अतिरिक्त कार्बन मोनोक्साइड तथा गन्धक आक्साइड आदि शरीर की गैसें भी मिश्रित हो जाती हैं।

अशुद्ध वायु के कुपरिणाम :

अशुद्ध वायु में रहने पर मानसिक थकावट प्रतीत होती है।

उपर्युक्त कुप्रभावों के कारण :

इनके प्रमुख दो कारण हैं। एक का सम्बन्ध वायु में स्थित रसायनिक मिश्रण से तथा दूसरे का वातावरण के भौतिक गुण से है।

वायु-प्रसरण अथवा व्यजन :

श्वासोच्छ्वास की वायु में शरीर के पोषक पदार्थ नहीं होते। यदि उनके बाहर निकलने तथा बाहर से ताजी वायु को भीतर लाने की व्यवस्था न हुई तो वह वायु शरीर के विकास में हानि पहुँचावेगी। अतः बाहर की शुद्ध वायु के लाने तथा भीतर की अशुद्ध वायु को निकालने के लिए आवश्यक प्रबन्ध होना अनिवार्य है।

प्रकाश

वायु की भाँति प्रकाश के बिना भी जीवित रहना असम्भव है। प्रकाश का तात्पर्य सूर्य के प्रकाश से है। इससे चर्म रोग के कीटाणु मर जाते हैं। शरीर को कैल्शियम, फासफोरस तथा आयोडीन आदि पोषक तत्व प्राप्त होते हैं। क्षय रोग, सूखा रोग, कोढ़ तथा गठिया आदि के लिए यह चिकित्सा का कार्य करता है। उचित प्रकाश न मिलने पर बालकों को एनीमिया हो जाने का भय रहता है। अतएव स्कूल के पास खुला मैदान होना चाहिए। बालकों को मैदान तथा प्रकाश में खेलने-कूदने का उपयुक्त अवसर अवश्य प्रदान किया जाय जिससे सूरज का प्रकाश पाकर उनका रक्त संचार समुचित रूप में हो सके।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. जीवन में वायु का क्या महत्त्व है ?
२. वायु के तत्वों का विवेचन कीजिए ?
३. अशुद्ध वायु के कुपरिणामों पर प्रकाश डालते हुए विद्यालय में इसके समुचित प्रबन्ध पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
४. प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक व्यजन-क्रियाओं पर तुलनात्मक निबन्ध लिखिए।
५. जीवन में प्रकाश की क्या उपयोगिता है ? विद्यालय में इसकी समुचित व्यवस्था किस प्रकार की जा सकती है ?

शारीरिक व्यायाम के प्रभाव का एक पहलू शारीरिक तथा दूसरा शिक्षात्मक होता है। पहिले शारीरिक प्रभावों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

व्यायाम का शारीरिक प्रभाव :

व्यायाम के शारीरिक प्रभावों के पुष्टिकर[1], सुधारात्मक[2] तथा विकासात्मक[3], तीन स्वरूप निश्चित किये जा सकते हैं।

व्यायाम का पुष्टिकर प्रभाव :

मांस-पेशियों को सुगठित और पुष्ट बनाने के लिए आक्सीजन[4] और ग्लाइकोजन[5] की बहुत आवश्यकता होती है। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि कार्बनडाईआक्साइड उचित मात्रा में शरीर से निकलता रहे। शारीरिक व्यायाम करने से हृदय की गति तीव्र हो जाती है। फलतः रक्त-प्रवाह की क्रिया में अधिक वेग आ जाता है। वेग के कारण शरीर के अवयवों को आक्सीजन तथा ग्लाइकोजन अधिक मात्रा में प्राप्त होता है और शरीर की गन्दगी कार्बनडाइआक्साइड के रूप में शीघ्रता से बाहर निकलने लगती है। कार्बनडाइआक्साइड से शीघ्रतापूर्वक बाहर निकलने के कारण श्वास की गति में तीव्रता आती है जो कि वक्ष में उभार उत्पन्न करके उसे सशक्त बना देती है; और किसी प्रकार के वक्ष-रोग से पीड़ित होने की सम्भावना नहीं रहती। इस प्रकार व्यायाम द्वारा शरीर निरन्तर पुष्ट और शक्तिशाली होता रहता है। परन्तु इसका नियमित रूप में होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शारीरिक व्यायाम वात-संस्थान को शक्तिशाली बनाता है, पाचन-शक्ति को पुष्ट करता है तथा गुर्दे एवं मलत्याग पर नियन्त्रण रखते हुए शरीर के हानिकारक अथवा अनुपयोगी पदार्थों को बाहर निकालने में सहायक होता है।

व्यायाम का सुधारात्मक प्रभाव :

समुचित आसनों तथा नियमित व्यायाम द्वारा शरीर की विकृतियों को दूर किया जा सकता है। किसी मांसपेशी के दुर्बल हो जाने अथवा उसकी दुर्बलता की पूर्ति में दूसरी मांसपेशी के अनुचित रूप में बढ़ जाने के कारण

---

1. Nutritive. 2. Corrective 3. Developmental. 4. Oxygen. 5. Glycogen.

व्यायाम की पद्धति सरल से कठिन का अनुसरण करती है। प्रारम्भ में ऐसे व्यायाम करने चाहिए जो सरलतापूर्वक हो सकते हों। धीरे-धीरे उनके कठिन रूपों का अभ्यास करना चाहिये। शारीरिक व्यायाम में आयु को सदैव दृष्टि में रखना चाहिए। एक प्रकार का व्यायाम जो १६ साल के बालक के लिए लाभकारी है वह ८ साल के बच्चे के लिये हानिकारक होगा। अतः आयु और शक्ति के अनुसार ही बच्चों को व्यायाम कराना चाहिए। छोटे बच्चों को १५ या २० मिनट से अधिक व्यायाम कराना हानिकर सिद्ध हो सकता है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के व्यायाम बच्चों से न कराये जांय जिनसे उनके हृदय पर किसी प्रकार के कुप्रभाव की सम्भावना हो। ऐसे बच्चों के लिए जिनका शरीर रोगी हो अथवा दिल की कमजोरी या गठिया आदि से पीड़ित हो उन्हें शारीरिक व्यायाम में अन्य बालकों के समान भाग लेने के लिए अनुमति नहीं देनी चाहिये। परिस्थिति विशेष में ऐसे बच्चों को चिकित्सकीय परीक्षण अवश्य करा लेना चाहिए।

हमारे देश की शिक्षा-संस्थाओं में व्यायाम के स्थान पर बहुधा ड्रिल[1] का प्रयोग किया जाता है। परन्तु छोटी आयु के विद्यार्थियों के लिए ड्रिल लाभप्रद होने के स्थान पर हानिकारक अधिक है। इसमें शक्ति क्षीण होती है। फलतः बालक शीघ्र थक जाता है। उसमें फिर तत्काल किसी प्रकार के मानसिक अथवा शारीरिक श्रम करने की क्षमता नहीं रह जाती। दो घण्टे तक खेलते रहने के बाद बालक में किसी भी प्रकार के मानसिक और शारीरिक श्रम करने की इच्छा और शक्ति बनी रहेगी। परन्तु आधे घन्टे की ड्रिल करने पर उसे अत्यधिक श्रम की क्षीणता और थकावट की अनुभूति होने लगेगी।

थकान अथवा शिथिलता

अधिक कार्य करने से शक्ति की क्षीणता के कारण मनुष्य श्रान्त, क्लान्त होकर शिथिलता का अनुभव करने लगता है। ऐसी अवस्था में उसे कार्य से अरुचि उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य की यह स्थिति प्रायः प्रत्येक कार्य करने के

---

1. Drill.

शिथिलता के कारण बालक के भाव तथा अंगों की समुचित कार्य-प्रणाली में परिवर्तन आ जाता है। जैसे थका हुआ बालक यदि खड़ा होगा तो उसकी यह क्रिया भी बड़ी ऊलजलूलसी होगी। उसका एक कंधा झुका हुआ रहेगा। चेहरा मुरझाया सा होगा। पैर पीछे की ओर झुके हुए रहेंगे। आँख अलसायी होंगी। पिंडलियाँ झुकी होंगी। हाथ ढीले होंगे। रह रहकर जम्हाई आयेगी। चित्त व्याकुल होगा तथा किसी कार्य को तीव्रता के साथ सुचारु रूप में करने की क्षमता उसमें नहीं रह जायगी। यह थकावट यदि कई दिन तक बराबर बनी रही तो बालक की प्रवृत्ति उत्तेजनात्मक हो जाती है। उसमें चिड़-चिड़ापन आ जाता है। नींद नहीं आती। पाचन-क्रिया में शिथिलता आ जाने के कारण भूख नहीं लगती। इस प्रकार स्वास्थ्य पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। अधिक थके होने के कारण छोटे बच्चे रात को सोते समय चौंकते अधिक हैं।

असाधारण थकान :

कभी-कभी कुछ कारणों से कम काम करने पर भी अधिक थकान का अनुभव होने लगता है। ये कारण हैं शारीरिक तन्तुओं की व्यतिक्रमता। इनकी अव्यवस्था स्नायुवों तथा मांसपेशियों को अनुचित रूप में शिथिल बना देती है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१. विशेष ज्ञान-तन्तुओं के दोषपूर्ण होने, पौष्टिक भोजन के न मिलने अथवा गठिया या एडिनायड्‌स का रोग होने से शरीर का अयोग्य होना।

२. पौष्टिक पदार्थों की कमी अथवा मांसपेशियों के समुचित प्रयोग न होने के कारण उनका शक्तिहीन होना।

३. शारीरिक थकान के पश्चात् तत्काल मानसिक कार्य करना।

४. उचित मात्रा में रक्त को आक्सीजन न प्राप्त होना, जिससे रक्त में लाल कणों की कमी हो जाती है और स्नायु-केन्द्रों तथा तन्तुओं को पर्याप्त आक्सीजन नहीं मिल पाती।

५. निद्रा की अपूर्णता। यह स्थिति प्रायः किसी भय अथवा महत्वाकांक्षा के कारण उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी मनोरंजन अथवा विशेष आयोजन भी इसके कारण हो जाते हैं।

समय-तलिका के अतिरिक्त स्कूल-भवन की स्थिति, उसकी बनावट, कमरों की माप पर भी यथेष्ट ध्यान देना आवश्यक है। विद्यालय को यथासम्भव खुले मैदान में जहाँ स्वच्छ वायु मिल सके चहल-पहल से दूर एकान्त स्थान पर होना चाहिए। भवन के कमरों में प्रकाश तथा वायु के आने का समुचित प्रबन्ध हो। कमरों की दीवलें काफी ऊँची हों जिससे अधिक गर्मी सर्दी का प्रभाव बच्चों पर न पड़ सके। भवन किसी भी दृष्टि से स्वास्थ्य के लिए हानिकर न सिद्ध हो।

भवन की बनावट के साथ-साथ विद्यार्थियों के बैठने के लिए उपयुक्त सज्जा[1] का होना भी आवश्यक है, और उन्हें उठने-बैठने, चलने-फिरने तथा पढ़ने-लिखने के उचित ढग की शिक्षा दी जाय। इसके अतिरिक्त अध्यापकों को चाहिए कि वे विद्यार्थियों के घर के वातावरण से भी परिचित होकर उसकी अनुपयुक्तता से उन्हें अवगत करें। शरीर का रुग्ण होना तथा किसी विशेष कारण से उद्वेगात्मक अस्थिरता अथवा उत्तेजना का पैदा होना भी थकावट का कारण बन सकता है।

थकान का उपचार :

कार्य के पश्चात् स्वाभाविक रूप में आई हुई थकान तो थोड़े से आराम करने पर ही दूर हो जाती है। परन्तु असाधारण थकावट जो वातावरण के दूषित होने, शारीरिक अंगों की व्यतिक्रमता अथवा विद्यालय के समय-तालिका के दोषपूर्ण होने अथवा अन्य किसी कारणवश उत्पन्न हो जाती है, उसके निराकरण हेतु गहरी निद्रा की आवश्यकता होती है। साथ ही साथ मानसिक थकावट को दूर करने हेतु शारीरिक सक्रियता अर्थात् खेल-कूद एवं समुचित व्यायाम बहुत लाभप्रद सिद्ध होता है। व्यायाम द्वारा रक्त-प्रवाह में तीव्रता आती है और रक्त के साथ शरीर के दूषित पदार्थ तन्तुओं द्वारा तेजी के साथ बाहर निकल जाते हैं। गरम पानी से मलकर नहाने से भी उपरोक्त क्रिया का आशय चर्म छिद्रों द्वारा पूर्ण हो जाता है और इस प्रकार थकावट दूर हो जाती है।

---

1. Furniture.

इस प्रकार थकावट के कुप्रभावों का निराकरण हो जाता है। नींद द्वारा मानसिक थकान शीघ्र एवं समुचित रूप में दूर हो जाती है, क्योंकि सोते समय मस्तिष्क में कम रक्त जाता है जिससे उसकी सक्रियता कम हो जाती है और उसे यथेष्ट आराम मिलता है। हृदय और श्वांस की गति भी धीमी पड़ जाती है और शरीर के प्रत्येक अंग पर्याप्त रूप में अपनी खोई शक्ति को प्राप्त करने का अवसर पा जाते हैं। थकान को दूर करने में खेल-कूद, मनोरञ्जन तथा व्यायाम भी सहायक होते हैं; परन्तु सुनिद्रा का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। अतः अच्छी और उचित नींद आने के लिए उपयुक्त परिस्थिति और उसकी उपयुक्त मात्रा से परिचित होना आवश्यक है।

निद्रा तथा उसके लिए उपयुक्त वातावरण और मात्रा :

लगातार कार्यरत रहने के कारण मानसिक तथा शारीरिक शक्तियाँ थक जाती हैं अथवा उनकी कार्य-क्षमता में ह्रास हो जाता है। इस खोई हुई शक्ति के पुनर्प्राप्ति का सुगमतम साधन निद्रा है। सोते समय श्वांस की गति तथा हृदय की धड़कन की गति में शिथिलता आ जाने के कारण शरीर के सभी अवयवों को विश्राम मिलता है। रक्त-प्रवाह चर्म में तीव्र और मस्तिष्क में धीमा पड़ जाता है। इसके विपरीत सुनिद्रा न आने के कारण बालकों की मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों में क्षीणता आ जाती है, और बालक चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। अत: बालकों की सुनिद्रा के लिए शान्त वातावरण, ताज़ी हवा, कोमल तथा हल्का विस्तर तथा उनके सोने का नियमित रूप से एक निश्चित समय होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अच्छी नींद के लिए ६० फ० तक के वायु का तापमान अधिक उपयुक्त होता है। सात वर्ष तक के बच्चों के लिए दोपहर को भोजन के उपरान्त ४० मिनट तक सोना आवश्यक है। अतः शिशु-पाठशालाओं में इसके लिए उपयुक्त प्रबन्ध करना आवश्यक है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न आयु के बालकों के लिए भिन्न-भिन्न मात्रा में सोने का अवसर मिलना आवश्यक है। जैसे, ४ से ८ वर्ष की आयु वाले बच्चे के लिए १२ घन्टे; ८ से १२ वर्ष वाले के लिए ११ घन्टे; १२ से १४ वर्ष वाले के लिए १० तथा १४ से १६ वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए ९ घन्टे सोना आवश्यक है।

थकान अथवा शिथिलता :

अधिक कार्य करने से शक्ति की क्षीणता के कारण मनुष्य श्रान्त, क्लान्त, तथा शिथिल पड़ जाता है। इसी अवस्था को थकान की अवस्था कहते हैं। थकावट के मुख्य कारण निम्नलिखित अंगों की शक्ति-क्षीणता है।

१. संकुचन क्रिया द्वारा संवेग को कार्यरत करनेवाली मांसपेशियाँ।
२. संवेग अथवा प्रेरणा को मांस पेशियों तक पहुँचानेवाले स्नायु।
३. कार्य की प्रेरणा अथवा संवेग शीलता उत्पन्न करनेवाले रीढ़ स्तम्भ और मस्तिष्क।

असाधारण थकान :

आसाधारण थकावट के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं।

१. किसी रोग अथवा पोष्टिक पदार्थ की कमी के कारण शरीर का रोगी होना।
२. मांसपेशियों का शक्तिहीन होना।
३. शारीरिक थकान के बाद तुरन्त मानसिक कार्य करना।
४. उचित मात्रा में आक्सीजन न मिलने से रक्त में लाल कणों की कमी होना।
५. निद्रा की अपूर्णता।
६. पाचन-क्रिया का दूषित होना।
७. स्कूल की स्थिति, वातावरण तथा समय-तालिका और शिक्षण-सिद्धान्त का दूषित होना आदि।

विद्यालय में थकान और उसका निवारण :

विद्यालय की समय-तालिका में पूर्वाह्न के घन्टों में अपेक्षाकृत अपराह्न के घन्टों के कठिन विषयों की शिक्षा देनी चाहिए। विद्यालय भवन की स्थिति, वातावरण तथा बनावट स्वास्थ्य के लिए हानिकर न हो। बालकों में उद्वेगात्मक अस्थिरता अथवा उत्तेजना उत्पन्न न होने दिया जाय।

थकान के उपचार.

गहरी निद्रा, मानसिक थकावट के पश्चात् समुचित शारीरिक क्रियाशीलता एवं

८२

भोजन उसके तत्व और पौष्टिकता

भोजन की आवश्यकता

भोजन की गणना जीवन-रक्षक वस्तुओं में की जाती है। भोजन के बिना जीवित रहना असम्भव है। भोजन पर ही शरीर की समस्त मांसपेशियों की क्रियाशीलता निर्भर करती है। रक्त संचालक, श्वासोच्छवास तथा समस्त मानसिक और शारीरिक शक्तियों में क्रियाशीलता लाने के लिए, भोजन शरीर को आवश्यक ताप प्रदान करता है। शरीर में होने वाले टूट-फूट तथा विकृताओं की क्षति की पूर्ति निरन्तर भोजन द्वारा होती रहती है। इसके अतिरिक्त शरीर को पुष्ट और यथेष्ट रूप में विकसित करने का कार्य भी भोजन द्वारा ही सम्पादित होता है। इस प्रकार लगभग शरीर की समस्त कार्यशीलता भोजन पर ही निर्भर है। ये क्रियायें विभिन्न प्रकार की तथा विभिन्न रूप में होती हैं। इससे पता चलता है कि इन विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के संचालन हेतु भोजन में भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्वों का निर्माण होता है।

रसायनिक निर्माण के अनुसार भोजन के तत्व :

शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर क्रियाशीलता लाने हेतु भोजन में रासायनिक पदार्थ मिले रहते हैं :—(अ) प्रोटीन[1] (ब) वसा[2] (स) कार्बोहाईड्रट[3] (द) लवण[4] तथा (य) जल।

इनके अतिरिक्त भोजन में विटामिन तथा रेशेदार पदार्थ भी सम्मिलित किए जाते हैं जो कि शरीर के मेटाबालिज्म[5] का नियामक होता है। इन पदार्थों के भिन्न-भिन्न गुण होते हैं और ये भोजन की विभिन्न वस्तुओं द्वारा प्राप्त किये जाते हैं।

---

1. Protein. 2. Fat. 3. Carbohydrate. 4. Mineral Salt. 5. Metabolism.

सब्जियाँ हैं। इनसे क्रमशः अल्बुमिव[1], मिग्रासिन[2], ग्लूटेन[3], कैसिन[4] और लेजुमिन[5] के रूप में प्रोटीन प्राप्त होता है।

वसा :

वसा का निर्माण आक्सीजन, कार्बन तथा हाइड्रोजन के मिश्रण से होता है। इसमें ग्लिसरिन और चर्बीदार ऐसिड मिली होती है। चर्बी पर एल्डली का प्रभाव पड़ने से ग्लिसरिन[6] पैदा होती है और इस क्रिया को स्पानीफिकेशन[7] कहते हैं। इसी प्रकार चर्बी जब घोल मिश्रित सूक्ष्म कणों के रूप में आती है, तो उस प्रक्रिया को एम्लसीफिकेशन[8] कहा जाता है।

वसा का उपयोग :

वसा द्वारा शरीर को गरमी तथा शक्ति मिलती है। जब शरीर में अधिक मात्रा से वसा पहुँच जाती है तो यह चर्म के नीचे के तन्तुओं में चर्बी के रूप में जम कर शरीर को बाहरी आघातों से सुरक्षित करती तथा शरीर को सुडौल और सुगठित बनाती है। इससे शरीर में चिकनाई उत्पन्न होती है जिससे शरीर का अलब्युमिन कम खर्च होता है।

वसावाले भोज्य पदार्थ :

यह आमिष और वनास्पतिक दोनों प्रकार के पदार्थों से मिल सकती है। इसमें विटेमिन "ए" और "डी" मिले होते हैं। वसा प्रदान करनेवाले प्रमुख भोज्य पदार्थ घी, मक्खन, पनीर, सूअर की चर्बी, सरसों, तिल्ली तथा नारियल के तेल आदि हैं।

कार्बोहाइड्रेट :

जिस अनुपात से जल में हाइड्रोजन और आक्सीजन मिले रहते हैं उसी अनुपात से इसमें भी रहते हैं। इनके अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट में कार्बन भी मिला होता है।

कार्बोहाइड्रेट का उपयोग :

इसका प्रमुख कार्य मांसपेशियों को अपेक्षित गरमी तथा शक्ति प्रदान करके

---

1. Albumin. 2. Myosin. 3. Gluten. 4. Casein. 5. Legumin. 6. Glycerine. 7. Sponification. 8. Emulsification.

आयोडीन[1] :

इसकी अनुपस्थिति में या कमी के कारण मानसिक विकास रुक जाता है तथा गन्डमाला[2] हो जाता है। यह थाइरोइयड गिल्टियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। आयोडीन प्याज, मछली के जिगर, तेल तथा किसी-किसी स्थान के पानी में भी मिल सकता है।

फासफोरस[3] :

फासफेट्स की कमी के कारण अस्थियों का विकास रुक जाता है। स्नायविक संस्थान में खराबी उत्पन्न हो जाती है और रक्त-संचार उचित रूप में नहीं हो पाता। दाँत कमजोर हो जाते हैं। यह दूध, गेहूँ, पनीर, मेवा, गोश्त, और अन्डे से प्राप्त किया जा सकता है।

लोहा[4] :

आक्सीजन ले जाने का कार्य रक्त द्वारा सम्पादित होता है, और रक्त को इस सक्रियता की शक्ति रक्त के वर्णांक-तत्व[5] द्वारा मिलती है। लोहा इसी रक्त वर्णांक तत्व का एक मुख्य अंश है। पित्त[6] के लिए भी लोहा बड़ा लाभदायक है। हरी सब्जियाँ और जिगर में कुछ ताँबे का अंश भी होता है। यही कारण है कि यह लोहे के उपयोग के लिए बड़ी ही लाभप्रद हैं। इनके अतिरिक्त लोहा अन्डा, गाजर और लाल गोश्त से भी प्राप्त होता है।

सामान्य लवण[7] :

इससे भोजन स्वादिष्ट हो जाता है तथा शरीर स्वस्थ रहता है। पाचन-शक्ति को इससे महत्वपूर्ण योग प्राप्त होता है। यह जानवरों के मांस और दूध में पाया जाता है।

रेशेदार तत्व[8] :

इसके द्वारा आँतों की मांसपेशियों को निष्काम हेतु तत्व प्राप्त होते हैं। फलतः कब्ज की शिकायत नहीं होती। रेशेदार तत्व फलों, हरी सब्जियों, अंजीर, चुकन्दर, रोटी तथा गोश्त द्वारा प्राप्त होते हैं।

---

1. Iodine. 2. Goitre. 3. Phosphates. 4. Iron 5. Hoemoglobin. 6. Bile. 7. Sodium Chloride. 8. Roughage.

तेल में अधिक होता है। इसके अतिरिक्त चुकन्दर, टमाटर और गाजर में भी इसकी प्रचुरता रहती है। भोज्य पदार्थों को देर तक पकाने अथवा प्रकाश में खुला रखने से यह विटामिन् नष्ट हो जाता है।

विटामिन "बी" :

विटेमिन 'बी' के नौ प्रकार होते हैं। इनके नाम क्रमशः 'बी' १, 'बी' २, 'बी' ३, आदि हैं। इनमें से "बी"१, "बी"२ तथा "बी"७, व्यावहारिक दृष्टि-कोण से प्रमुख एवं महत्वपूर्ण हैं।

विटामिन "बी" :

विटामिन "बी"१, द्वारा शरीर की मांसपेशियाँ सबल होती हैं और शरीर विकसित होता है। इसके अभाव के कारण पेचिश का रोग हो जाता है। हाथों-पांवों में सूजन आ जाती है। कार्य करने से अनिच्छा हो जाती है। शरीर पीला पड़ जाता है। हाथ-पांव निर्बल हो जाते हैं। मांसपेशियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। बेरी-बेरी का रोग हो जाता है और स्नायुओं में सूजन आ जाती है। इसका अभाव वमन तथा बेचैनी का भी कारण बन जाता है। यद्यपि चावल में यह विटामिन पर्याप्त मात्रा में होता है परन्तु सामान्यतया बेरी बेरी की उत्पत्ति का कारण भी चावल ही बनता है। इसका कारण यह है कि लोग पालिश किये हुए चावल का प्रयोग करते हैं और पालिश किए हुए चावल में उसके अंकुर और मुलायम भूसी द्वारा यह विटामिन निकल जाता है। यह विटामिन अण्डे की जर्दी, तरकारियों, गेहूँ, सेम, मटर, खमीर तथा खमीर की बनी चीजों और पौधों के बीज द्वारा प्राप्त होती है। यह विटामिन शरीर में आवश्यकता से अधिक जमा नहीं की जा सकती। अतः इसे कार्बोहाईड्रेट के अनुपात में ही ग्रहण करना श्रेयस्कर होगा। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अधिक कार्य करनेवाले बालक को अन्य बालकों की अपेक्षा-कृत इसकी अधिक आवश्यकता होती है।

विटामिन "बी" २, या जी :

विटेमिन 'बी'२, द्वारा भोजन की रक्षा होती है। इसकी अनुपस्थिति अथवा कमी के कारण चमड़ों में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। बुढ़ापा शीघ्र आ जाता है।

दालों और खट्टे फलों तथा नींबू, सन्तरा, अंगूर, सेब एवं आंवला आदि से प्राप्त होता है।

विटामिन "डी" :

यह अस्थियों को पुष्ट बनाता और शरीर को विकसित करता है। इसे सूखा रोग नाशक[1] भी कहते हैं। बच्चों के सूखा रोग तथा अस्थि-कोमलता[2] रोग में यह औषधि का कार्य करता है। इन रोगों में अस्थियाँ कोमल और दुर्बल हो जाती हैं। थोड़ा से दबाव पड़ने पर भी वे झुक कर टेढ़ी हो जाती हैं।

विटामिन "डी" वाले भोज्य पदार्थ :

यह दूध, अण्डे, मछली के तेल तथा मक्खन आदि से प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त सूरज के प्रकाश से यह शरीर में उत्पन्न किया जा सकता है। शरीर में चर्म के भीतरी सतह में चर्बी होती है। जिसमें यरगोस्ट्रल[3] नाम का एक पदार्थ होता है। सूरज की पराकासनी[4] किरणों के पड़ने पर उपर्युक्त पदार्थ पिघल कर विटामिन "डी" का रूप धारण कर लेता है। यह विटामिन शरीर में सुरक्षित किया जा सकता है तथा साधारण गर्मी से यह नष्ट नहीं होता।

विटामिन "ई" :

विटामिन "ई" द्वारा प्रजनन शक्ति की रक्षा होती है। इसकी अनुपस्थिति में प्रायः गर्भपात हो जाता है। कभी-कभी भ्रूण की गर्भाशय में ही मृत्यु हो जाती है। इसकी कमी से बान्ध्यता भी आ सकती है। इसी से इसे वन्ध्यता[5]-विरोधी विटेमिन भी कहते हैं।

विटामिन "ई" वाले भोज्य पदार्थ :

यह विटामिन पत्तेदार हरी सब्जियों तथा गेहूँ के अंकुर से अधिक मात्रा में मिल सकता है। इसके अतिरिक्त अण्डे, गोश्त, दूध तथा मक्खन में भी थोड़ी मात्रा में पाया जाता है। यह साधारण ताप से नष्ट नहीं होता।

---

1. Anti-Rachitic. 2. Osteomalacia. 3. Ergosterol. 4. Ultra Violet Rays. 5. Anti-Sterility.

भोजन की रोचकता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। यदि भोजन रुचिकर न होगा तो वह आवश्यक मात्रा में ग्रहण नहीं किया जा सकेगा तथा ठीक से पच भी नहीं पावेगा। भोजन को रुचिकर बनाने में बहुत कुछ उसके परोसने का ढंग भी सहायक होता है। अच्छी तरह से आकर्षक ढङ्ग से परोसा हुआ भोजन सदैव रुचिकर होगा। भोजन को रुचिकर बनाने के लिए भोज्य पदार्थों में परिवर्तन करते रहना भी आवश्यक है। एक ही प्रकार के भोजन से मन ऊब जाता है और भोजन स्वादिष्ट नहीं लगता। स्वादिष्ट भोजन खाने पर पाचक रसों का स्राव उचित मात्रा में होता है और भोजन भली भाँति पच जाता है।

कभी-कभी सतर्कता की कमी के कारण भोजन गन्दा तथा विषैला हो जाया करता है। उसे स्वच्छतापूर्वक न बनाने तथा खुला रखने से मक्खियों तथा वायु आदि के साथ धूल, गंदगी और रोगों के कीटाणु आदि मिलकर भोजन को दूषित बना देते है। अधिक देर से रक्खा हुआ भोजन भी विषैला हो जाता है। अतः इस विषय में भी विशेष रूप से सतर्क रहना आवश्यक है। भोज्य पदार्थों के चयन के समय उनके ताप दायक मूल्यांकन पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए एक सामान्य स्वास्थ्य के व्यक्ति का दैनिक आनुपातिक भोज्य पदार्थ साधारणतः इस प्रकार का होना चाहिए : रोटी १५ औंस, दूध १६ औंस, मक्खन १ औंस, गोश्त ६ औंस, अन्य २ औंस, फल ४ औंस, शक्कर डेढ़ औंस, आलू और अन्य तरकारियाँ ४० औंस तथा तरल पदार्थ ३ पाइन्ट।

इस प्रकार उपयुक्त मात्रा में किया गया भोजन सामान्य व्यक्ति के लिए सर्वथा स्वास्थ्यवर्द्धक, होगा, इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियों में इस मात्रा में आवश्यक परिवर्तन भी करना उचित होगा। यह मात्रा परिश्रम, आयु अथवा लिंग के अनुसार परिवर्तित कर देनी चाहिए।

परिश्रम के अनुसार भोजन :

मानसिक अथवा हल्का परिश्रम करने वाले व्यक्ति को शारीरिक परिश्रम करने वाले की अपेक्षा कम भोजन की आवश्यकता होती है। मानसिक परिश्रम

की उतनी उत्पत्ति भी नहीं करनी पड़ती। अतः स्त्रियों के भोजन की मात्रा पुरुषों के भोजन की मात्रा से कम होनी चाहिए।

बालकों के पोषण की[1] अपूर्णता :

बालकों के अपूर्ण अथवा दोष पूर्ण पोषण के प्रमुख दो कारण हैं। एक का सम्बन्ध सामान्य परिस्थितियों तथा वातावरण से और दूसरे का बालक के पथ्य से है। प्रथम कारण के अन्तर्गत दूषित वातावरण, कार्य भार की अधिकता, निद्रा की कमी, शरीर की अस्वस्थता तथा घर या विद्यालय में बालक की उपेक्षा का समावेश किया जा सकता है। दूसरे का सम्बन्ध पथ्य की उपयुक्तता से है।

१. दूषित वातावरण :

वातावरण के अस्वास्थ्यप्रद होने में सबसे बड़ा कारण प्रकाश और ताजी वायु की कमी होती है। यदि बच्चे को स्कूल तथा घर में पर्याप्त प्रकाश, ताजी वायु तथा व्यायाम का उपयुक्त अवसर न प्राप्त हो सकेगा तो उसका पोषण सर्वथा अपूर्ण और दोषयुक्त रहेगा।

२. कार्यभार की अधिकता :

कार्यभार का असंतुलित होना भी दोषपूर्ण पोषण का महान कारण है। यदि बालक को उसकी शक्ति के अनुपात से अधिक कार्य करना पड़ेगा अथवा आवश्यक कार्य-क्षमता उत्पन्न करने योग्य वांछित मात्रा में भोजन नहीं मिल सकेगा तो उसके पोषण पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। ऐसी स्थिति प्रायः देहात के स्कूलों के बालकों के समक्ष उपस्थित हो जाती है। स्कूलों के दूर स्थित होने के कारण चलने में जो उनकी शक्ति का क्षय होता है वही उनके भोजन की कमी का कारण बन जाता है।

३. निद्रा की कमी :

किसी प्रकार बालक की निद्रा में अपूर्णता आ जाने के कारण यथा सोने के लिए उपयुक्त ताजी वायु, खुला स्थान, शान्त वातावरण न मिलने पर उसका पोषण भली भाँति नहीं हो पाता। कभी-कभी उत्सव, त्योहार तथा अन्य

---

1. Malnutrition.

गरिष्ट, अपचनीय अथवा अनुचित[1] भोजन :

भोजन की ऐसी वस्तुयें जो देर में पचती हों, स्वास्थ्य के लिए सर्वथा हानि-कारक होती है। यदि लगातार ऐसे अपचनीय भोजन बालक को मिलते रहें तो उसका पोषण तथा शारीरिक विकास कदापि नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त गन्दे तथा अरुचिकर भोजन भी अपूर्ण पोषण के कारण बनते हैं।

अनियमित[2] तथा कुसमय का भोजन :

शरीर के समस्त अवयवों को आवश्यक आराम देना भी आवश्यक है। यदि उनसे आराम के समय काम लिया जायगा तथा काम के समय आराम दिया जायगा तो उनमें स्वभावतया दोष आजायेगा। यदि समय-कुसमय अनियमित रूप से भोजन किया जायगा तो पाचन-शक्ति के कार्यक्रम में व्यतिक्रमता आ जाने के कारण दोष उत्पन्न हो जावेगा और वह व्यतिक्रमता अपच, कब्ज तथा बदहजमी पैदा कर देगी जोकि बालक के पोषण में बाधक होगी।

अपूर्ण पोषण के लक्षण और स्वास्थ्य पर उसका प्रभाव

जिस बच्चे का पोषण उचित तथा उपयुक्त रूप में नहीं हुआ रहता वह सामान्य तथा दुबला-पतला, वजन में कम और छोटे कद का होता है; वह सदैव सुस्त, तथा मरियल ऐसा बना रहता है। चेहरा पीला, आँखें अलसाई, मांस-पेशियां ढीली, त्वचा झुर्रियों से युक्त और बालक सदैव थका ऐसा रहता है। ऐसे बच्चों को दांत देर में निकलते हैं और जल्द खराब हो जाते हैं तथा इन्हें सूखा रोग भी हो सकता है। वे सदा व्यग्र और भयभीत बने रहते हैं। इन्हें पूर्ण रूपेण गहरी नींद भी नहीं आती और वे खांसी जुकाम आदि विभिन्न संक्रामक रोगों से परेशान रहते हैं।

अपूर्ण पोषित बालक का उपचार :

सर्वप्रथम अध्यापकों को चाहिए कि बालकों की अपूर्णता का पता लगाने के लिए उनकी डाक्टरी परीक्षा करावें। तदुपरान्त परीक्षण के आधार पर बालक के विकास हेतु आवश्यक व्यवस्था करें। शारीरिक दोषों एवं रोगों के

1. Improper Food. 2. At improper intervals.

नष्ट हो जाते हैं। ये विभिन्न रूप में शरीर को प्रभावित करते हैं। इनकी कमी बीमारी का कारण बनती है। इनकी मात्रा विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों में भिन्न-भिन्न रूप में होती है। विटेमिन "बी" के नौ प्रकार होते है। जिनमें से सामान्यतया, प्रयोग में आने वाले और व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण केवल "बी१", "बी२", तथा "बी७" हैं।

मनुष्य की खुराक

मनुष्य का स्वास्थ्य उचित भोजन पर निर्भर है। यदि आवश्यक रासायनिक पदार्थ और विटेमिन भोजन द्वारा मिलते रहें तो मनुष्य अस्वस्थ नहीं हो सकता। ऐसा भोजन सदैव लाभप्रद होगा जिसमें शरीर के पोषक तत्व उचित मात्रा में विद्यमान होंगे। शरीर की आवश्यकता के अनुसार ही भोजन का चयन करना चाहिए। यह आवश्यकता लिंग भेद, जलवायु, व्यवसाय तथा आयु की भिन्नता के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में होती है। अतः इस भेद को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

बालकों के पोषण की अपूर्णता :

बालकों के अपूर्ण तथा दोषयुक्त पोषण के प्रमुख दो कारण हैं। एक का सम्बन्ध वातावरण तथा परिस्थितियों से है और दूसरे का बालक के पथ्य से।

दूषित वातावरण, कार्यभार की अधिकता, निद्रा की कमी, शरीर की अस्वस्थता तथा घर या विद्यालय में बालक की उपेक्षा, अपूर्ण पोषण के परिस्थिति और वातावरण सम्बन्धी कारण हैं।

भोजन का अपर्याप्त, अनुपयुक्त, अपचनीय अथवा गरिष्ट होना तथा इसका अनियमित रूप से समय कुसमय में ग्रहण करना, अपूर्ण पोषण के पथ्य सम्बन्धी कारण हैं।

अपूर्ण पोषण के लक्षण और स्वास्थ्य पर इसका प्रभाव :

बालक का वज़न कम हो जाता है, सुस्ती आ जाती है, चेहरा मुरझाया हुआ और पीला हो जाता है। मांसपेशियाँ अशक्त और शिथिल हो जाती हैं।

८३

संक्रामक रोग

विद्यालय में संक्रामक रोग

छुआ-छूत से फैलने वाले रोगों को संक्रामक रोग कहा जाता है। विद्यालय में विभिन्न स्थानों तथा भिन्न-भिन्न परिवारों के बालक एक साथ पढ़ने-लिखते तथा खेलते-कूदते है। उनका आपस में निकटतम सम्पर्क रहता है। इस प्रकार यदि कोई बालक ऐसे रोगों से ग्रसित होगा तो अन्य बालकों पर इसका कुप्रभाव अवश्य पड़ेगा तथा रोगियों की संख्या बढ़ती जावेगी और बालकों की उपस्थिति कम होती रहेगी। इसका प्रभाव उनकी शिक्षा और अध्ययन पर बहुत बुरा पड़ेगा। अतएव इस विषय मे विद्यालय को सदैव सतर्क रहने की आवश्यकता है। जिस बालक में इन रोगों के लक्षण दिखाई पड़ें उन्हें तत्काल दूसरों से पृथक् कर देना ही श्रेयस्कर होगा। संक्रमण प्रत्यक्ष एवम् परोक्ष दो रूपों में होता है। जब संक्रमण प्रत्यक्ष रूप में होता है तो उसे स्पर्शाक्रामक[1] या संसर्गज रोग और जब अप्रत्यक्ष रूप से होता है तो संक्रामक[2] रोग कहते हैं।

ये रोग प्रायः कीटाणुओं द्वारा फैलते है। इन रोगों के कीटाणुओं को केवल सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा ही देखे जा सकते हैं जोकि निम्नलिखित विधियों से एक व्यक्ति के शरीर से निकल कर दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर जाते है और इस प्रकार ये रोग फैलते जाते हैं। इनकी संख्या में वृद्धि बहुत शीघ्रता से और जनसंख्या की वृद्धि के नियमानुसार होती है। इनके संक्रमण एवं प्रसार की निम्नलिखित प्रमुख विधियाँ हैं।

संक्रमण विधियाँ

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष संक्रमण के विषय में ऊपर बताया जा चुका है। इनके दोनों रूपों से सम्बन्धित संक्रमण अथवा प्रसार की प्रमुख सात विधियाँ

---

1. Contagious Disease. 2. Infectious Disease.

आदि प्रमुख हैं। ये रोगी मनुष्य का खून चूसते समय रोग के कीटाणुओं को भी साथ ले लेते हैं और जब स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में डंक मारते हैं तो वे कीटाणु शरीर में खून के साथ प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार रोग का प्रसरण होता रहता है। इस प्रकार फैलनेवाले रोगों में मलेरिया, प्लेग, काला आज़ार तथा पीला बुखार आदि प्रमुख हैं।

चर्म-संघर्षण से कीटाणुओं के प्रवेश द्वारा :

चर्म संघर्षण से फैलनेवाले विशेष रोग अन्थेरक्स[1] और टिटनेस[2] हैं। यद्यपि चर्म कटीणुओं की वृद्धि नहीं होने देता, परन्तु कभी-कभी चर्म में घर्षण होने पर जब कीटाणु शरीर में पहुँच जाते हैं तो वहाँ वे बढ़कर अधिक हो जाते हैं और शरीर को रोगी बना देते हैं।

रोग संवाहक द्वारा :

संवाहक उन्हें कहते हैं जो रोग के कीटाणुओं को लेकर उनसे स्वयं नहीं प्रभावित होते, अपितु दूसरों को देकर उसे रोगी बना देते हैं। ऐसे व्यक्तियों में कीटाणुओं के आ जाने पर कोई परिवर्तन नहीं होता। वे पूर्ण स्वस्थ रहते हैं और रोग के कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ते, परन्तु उनमें रोग के कीटाणु विद्यमान रहते हैं। वे कीटाणु अवसर पाने पर दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करके रोग फैला देते हैं। ये रोग-संवाहक बड़े ही भयानक होते हैं, क्योंकि रोग के लक्षणों के न प्रकट होने के कारण उनसे बचना बड़ा कठिन है। इस प्रकार से फैलने वाले रोग डिप्थीरिया, मोतीझरा, खूनी पेचिस और हैजा आदि हैं।

जननेन्द्रिय अथवा योनि मार्ग द्वारा :

जननेन्द्रिय अथवा योनि-मार्ग द्वारा फैलनेवाली बीमारियाँ गरमी तथा सुजाक हैं।

विभिन्न प्रकार के संक्रामक रोगों के साधारण गुण

विभिन्न प्रकार के संक्रामक रोगों के जीवाणु भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और उनका प्रभाव शरीर पर विभिन्न रूप में पड़ता है। यदि शरीर में हैजे के

1. Anthrax. 2. Tetanus.

प्रमुख कारण कीटाणुओं का परस्पर-संघर्ष है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रोग के अच्छा हो जाने के पश्चात् शीघ्र ही पुनः वही रोग हो जाता है। इसे रोग का पुनः आक्रमण[1] कहा जा सकता है। इसका प्रमुख कारण रोगी की कमजोरी तथा लापरवाही हुआ करती है।

यद्यपि संक्रामक रोगों के अपने-अपने विभिन्न लक्षण और प्रकार होते हैं, परन्तु कुछ ऐसे लक्षण भी है जिनमें पर्याप्त समानता पायी जाती है।

लक्षण :

शरीर में विष उत्पन्न हो जाने पर शरीर की ताप उत्पादक तथा निष्कासक दोनों क्रियाओं में व्यतिक्रमता आ जाती है और वे अव्यवस्थित हो जाने के कारण अपना कार्य समुचित ढङ्ग से नहीं कर पातीं। फलतः ताप अधिक बढ़ जाता है और व्यक्ति को ज्वर आ जाता है।

इन रोगों से ग्रसित होने पर सर्वप्रथम व्यक्ति अपने को अस्वस्थ अनुभव करने लगता है। प्रायः सिर में दर्द और गले में खराबी उत्पन्न हो जाती है।

ऐसी स्थिति में रोगी का तापमान तो बढ़ जाता है फिर भी उसको ठंडक मालूम होती है और कभी-कभी सारे बदन में कंपकपी पैदा हो जाती है।

चर्म की सक्रियता नष्ट हो जाती है। चर्म स्वेद-ग्रन्थियों तथा अन्य अवयवों में एकत्रित व्यर्थ पदार्थ को शरीर के बाहर नहीं निकाल पाता। चमड़े पर इसी कारण से लाल-लाल और छोटे-छोटे दाने[2] निकल आते हैं।

रोकथाम :

संक्रामक रोग के रोगी की दवा करने से अधिक बल उसकी रोक-थाम पर देना चाहिए जिससे उसके फैलने का भय न रहे।

संक्रामक रोगों के फैलने पर तत्काल डाक्टर को सूचित[3] करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पास पड़ोस के अन्य व्यक्तियों को भी सूचित कर देना आवश्यक है जिससे वे सतर्क हो सकें।

संक्रामक रोग के रोगी को अन्य व्यक्तियों से अलग[4] रखना चाहिए। इस प्रकार उसके संक्रमण का भय कम हो जाता है।

---

1. Relapse. 2. Rash. 3. Notification. 4. Isolation.

फोरमेलिन : फोरमेलिन में बड़ी तीव्र विसंक्रामक शक्ति होती है । इसका प्रयोग रोगी के कमरे आदि को शुद्ध करने के लिए किया जाता है ।

पोटाश : इसके द्वारा पानी में विद्यामान हैजे के कीटाणुओं को मारा जाता है ।

क्लोरिन से रोगी के कमरे आदि की सफाई और धुलाई की जाती है। सल्फर डाईआक्साइड की गन्धी बड़ी तेज तथा उत्तेजक होती है । इससे भी कमरे आदि शुद्ध किये जाते हैं । इसके अतिरिक्त आग तथा सूरज के प्रकाश में कीटाणुओं को जलाकर नष्ट कर देना अधिक उपयुक्त होता है ।

सारांश

विद्यालय में संक्रामक रोग :

ये रोग छुआ-छूत से फैलते हैं । इनके कीटाणु सूक्ष्म दर्शक यन्त्रों द्वारा देखे जा सकते हैं । विद्यालय में बहुत से बालक एक साथ उठने-बैठने, पढ़ते तथा खेलते कूदते हैं । अतः इन रोगों से अधिक सतर्क रहना चाहिए ।

संक्रमण विधियाँ : ये सात हैं :

१. वायु द्वारा प्रसार, २. भोजन और जल द्वारा, ३. सम्पर्क द्वारा, ४. कीट पतंगों द्वारा, ५. चर्म संघर्षण से कीटाणुओं के प्रवेश द्वारा, ६. रोग संवाहकों द्वारा, ७. जननेन्द्रियों अथवा योनि मार्ग द्वारा ।

विभिन्न प्रकार के संक्रामक रोगों के सामान्य गुण :

विभिन्न प्रकार के संक्रामक रोगों के भिन्न-भिन्न कीटाणु होते हैं । जिस रोग का कीटाणु शरीर में प्रवेश करेगा वही रोग उत्पन्न होगा । इन रोगों की अवधि भी भिन्न-भिन्न होती है । इस प्रकार का रोग एक व्यक्ति को प्रायः एक ही बार होता है । केवल डिफ्थीरिया और एन्फुलेन्जा इसके अपवाद हैं । कीटाणु प्रवेश करने के पश्चात् सर्वप्रथम अपनी संख्या बढ़ाते हैं ।

लक्षण :

शरीर का ताप बढ़ जाता है । ताप बढ़ने पर भी ठंड लगती है । सिर दर्द करता है, तथा गले में खराबी आ जाती है । चर्म की सक्रियता नष्ट हो जाती है ।

८४

संक्रमण से फैलने वाले प्रमुख रोग

पिछले अध्याय में हम संक्रमण तथा उसके सामान्य लक्षणों और विधियों आदि के विषय में विचार कर चुके है। अब हमें देखना यह है कि संक्रमण से उत्पन्न होने वाले वे कौन रोग हैं जिनसे सामान्यतया विद्यार्थी ग्रसित होते रहते हैं। ऐसे रोगों के विषय में जानकारी प्राप्त करके उनसे विद्यार्थियों को बचाया जा सकता है। कभी-कभी इन संक्रामक रोगों के कारण विद्यालय की एक दो कक्षा ही नहीं, अपितु सभी कक्षाओं के विद्यार्थी ग्रसित हो जाते हैं और इन रोगों का संक्रमण क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में विद्यार्थियों के शारीरिक विकास के साथ ही साथ उनके बौद्धिक विकास का मार्ग भी अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे प्रमुख संक्रामक रोग जो प्राय: विद्यालयों में फैल जाते हैं निम्नलिखित है।

१. खसरा, २. जर्मन खसरा, ३. चेचक, ४. बड़ी चेचक, ५. कर्ण फेर, ६. रक्त ज्वर, ७. कुकुर खाँसी, ८. कन्ठ रोहणी, ९. निद्रा रोग, १०. बाल पक्षाघात, ११. मस्तिष्क, सुषुम्ना की झिल्ली का सूजना तथा १२. क्षय रोग आदि प्रमुख संक्रामक रोग हैं। इस अध्याय में इन्हीं संक्रामक रोगों के लक्षण, संक्रमण विधि, परिचर्या और उपचार पर विचार किया जायगा।

खसरा[1]

इसका सम्प्राप्तिकाल ७ से १४ दिन तक का होता है। छोटी आयु के बच्चों में इसका संक्रमण बड़ी तीव्र गति से होता है। प्राय: इससे मृत्यु नहीं होती। यही कारण है कि लोग इस रोग से सामान्यतया असावधान रहते हैं, परन्तु यदा-कदा कुपथ्य का कुप्रभाव इसे मृत्यु का कारण भी बना देता है।

---

1. Measles.

जर्मन खसरा

इसे खसरे का लघु रूप कहा जा सकता है। सम्प्राप्ति अवधि एक सप्ताह से लगभग तीन सप्ताह तक की हो सकती है।

संक्रमण तथा लक्षण :

इसके कीटाणु थूक के कणों[1] द्वारा फैलते हैं। रोगी को गरमी अधिक प्रतीत होती है। गले में पीड़ा होती है। चेहरा लाल हो जाता है और वमन होने लगता है। दो तीन दिन में दाने निकल आते हैं। इसके दाने भी खसरे जैसे ही होते हैं। जर्मन खसरे में जुकाम या खांसी नहीं आती। गर्दन के पीछे और जांघ की लसिकाग्रन्थियां[2] उभर आती हैं। ऐसी स्थिति में क्षय रोग की छूत उत्पन्न होने का बड़ा भय रहता है।

उपचार तथा परिचर्या :

ऐसी स्थिति में रोगी को क्षय-रोग-सम्बन्धी संक्रमण से सतर्कता पूर्वक बचाना चाहिए। बच्चों को रोगी के अच्छा हो जाने के तीन सप्ताह तक उसके सम्पर्क से दूर रखना चाहिए।

चेचक[3]

इसे छोटी माता भी कहते हैं। छोटी आयु के बच्चों को इस रोग के कीटाणुओं का विष शीघ्र प्रभावित कर लेता है। इसका संक्रमण काल तीन मास तथा संप्राप्ति काल १२ से १९ दिन का होता है।

संक्रमण तथा लक्षण :

इसका संक्रमण प्रत्यक्ष एवं निकट सम्पर्क द्वारा होता है। कीटाणु थूक के कणों और दाने की पपड़ी द्वारा रोग फैलाते हैं।

रोगी को सर्वप्रथम हलका ज्वर आता है। तत्पश्चात् ददोड़ों की भांति दाने निकल आते हैं। ये दाने बाद में फफोले जैसे हो जाते हैं। इनके भीतर पानी झलकने लगता है। तीन-चार दिन में दाने मुरझा जाते हैं और इन पर पपड़ी पड़ जाती है जो अपने आप सूख कर कुछ दिनों में गिर जाती है।

---

1. Droplets. 2. Lymphatic Glands. 3. Chicken pox.

दिन के बाद दाने सूखने लगते हैं और फिर उनकी खुरन्टें छूट-छूट कर निकल जाती हैं।

उपचार तथा परिचर्या :

इसके रोगी की छूत स्वस्थ मनुष्य को तब तक लग सकती है जब तक कि रोगी की समस्त खुरन्टें सूख कर न छूट जायें। कभी-कभी इसमें ५, ६ सप्ताह का समय लग जाता है। ऐसी स्थिति में संक्रमण से बचाना बहुत आवश्यक है। इस रोग का टीका ही इसका एक मात्र निराकरण है। टीका प्रतिवर्ष विद्यालय के सभी बालकों को लगना चाहिए। टीका लगे हुए बालक पर यदि इसका आक्रमण भी होगा तो उसका प्रभाव बहुत साधारण होगा। यदि किसी बालक में रोग के प्रारम्भिक लक्षण दृष्टिगोचर हों तो उसे तत्काल अवकाश दे देना चाहिये और तब तक उसे स्कूल न आने दिया जाय जब तक कि संक्रमण की अवधि समाप्त न हो जाय। जिस घर में इसका प्रकोप हो उस घर के लड़कों को विद्यालय में नहीं आने देना चाहिये।

कर्ण फेर[1]

इस रोग के कीटाणु पैरोटिड[2], कान के सामने वाली गिल्टी और कभी-कभी जिह्वा[3] और हन्वधर गिल्टियों[4] को भी प्रभावित कर देते हैं। ग्रन्थियों के पास के अंग में सूजन हो जाती है और रोगी को थूक तथा भोजन निगलने में कष्ट होता है। इसका सम्प्राप्ति काल २ से ३ सप्ताह तक का होता है।

संक्रमण तथा लक्षण :

रोगी के संक्रमण ग्रस्त होने के ४ सप्ताह बाद कभी-कभी रोग के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। इसकी छूत थूक के कणों, तथा निकट सम्पर्क से लगती है। रोग के कीटाणु प्रायः लार में होते हैं।

इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं जबड़े के कोण पर और कान के नीचे सूजन, तनाव और पीड़ा का होना। शरीर का यह अंग रोग ग्रसित होने पर बड़ा कोमल हो जाता है और यह कोमलता गर्दन तक फैला सकती है। सूजन है

1. Mumps. 2. Parotid. 3. Sublinqual gland. 4. Submaxillary glands.

रोगी बच्चे को कम से कम दो माह का अवकाश दे देना चाहिए। यदि स्कूल में इस रोग के प्रसार की सम्भावना हो तो साधारण जुकाम से पीड़ित बालकों को भी अवकाश दे देना उचित होगा। जिस घर में यह रोग हो उस घर के बच्चों को भी स्कूल से अवकाश देना ही उपयुक्त होगा। घरवालों को चाहिए कि ऐसी स्थिति में बच्चों को संक्रमण के अनुसार कम से कम तीन और अधिक से अधिक ६ सप्ताह के लिए किसी दूसरे स्थान पर भेज दें।

करोहिणी[1]

इसमें पांच वर्ष की आयु तक के बच्चे प्रायः ग्रसित होते हैं। यह अत्यन्त भयानक और प्राण घातक संक्रामक रोग है। इसका सम्प्राप्ति काल केवल तीन दिन का होता है।

संक्रमण तथा लक्षण :

इस रोग के संवहन का कार्य भी हवा ही करती है। कीटाणु हवा द्वारा एक दूसरे व्यक्ति पर आक्रमण कर देते हैं। रोगी के सामने बैठ कर बात करने, उसके सम्पर्क में रहने तथा उसकी प्रयोग वाली वस्तुओं को इस्तेमाल करने से ये कीटाणु अन्दर प्रवेश कर कण्ठनली, वायु-नली, गले और नाक पर अपना प्रभाव डालते हैं। रोगी की छींक और खांसी से इसका अधिक प्रसार होता है।

इस रोग के प्रारम्भ में तालू पर भूरी झिल्ली पड़ जाती है। लसिका गिल्टियों के बढ़ जाने से गले में सूजन आ जाती है। कभी-कभी झिल्ली द्वारा श्वास-क्रिया भी प्रभावित हो जाती है तो उसमें अवरोध उत्पन्न हो जाता है। विभिन्न अंगों में लकवा मार जाता है। यहाँ तक कि इसका प्रभाव हृदय की मांस-पेशियों पर भी पड़ जाता है और ऐसी स्थिति में मृत्यु हो जाती है।

उपचार और सतर्कता :

कीटाणुओं का वायु-नली में प्रवेश करना बड़ा घातक हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में वायु-नली का ऑपरेशन करने तथा श्वास-क्रिया को सुगमतापूर्वक बनाये रखने के लिये एक नली को भीतर प्रवेश करवाना आवश्यक है। इस

1. Diptheria.

रोग से बचाव :

रोगी के सम्पर्क से बचना ही सबसे उत्तम साधन है। बच्चों को रोगी के सम्पर्क से बचाये रखने के लिए सभी सम्भावित साधनों को प्रयोग में लाना आवश्यक है।

बाल पक्षाघात[1]

पाँच वर्ष तक की आयु वाले बच्चे प्रायः इससे ग्रसित होते हैं। इसके कीटाणु सुषुम्ना में वक्ष और कटि-प्रदेश के भूरे तत्वों, पूर्व अंग को ग्रसित करके केन्द्र त्यागी सूत्रों में से कुछ को नष्ट कर देते हैं। फलतः उनसे सम्बन्धित मांस-पेशियाँ निर्जीव सी हो जाती हैं। इसका सम्प्राप्ति-काल १० दिन तक का होता है।

संक्रमण तथा लक्षण :

रोगी की नाक और गले की श्लेषमा तथा थूक-कणों एवं मल-मूत्र द्वारा इसका प्रसार होता है। इसका प्रारम्भिक लक्षण गले की सूजन और जुकाम है। रोगी की गर्दन और कमर में तनाव तथा पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी थोड़े समय के लिये मांसपेशियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं और बाद में यह शक्तिहीनता स्थायी रूप ग्रहण कर लेता है। फलतः रोगी अपंगु हो जाता है अथवा उसके अंग विकृत हो जाते हैं।

बचाव के उपाय :

रोगी के सम्पर्क में न आना ही इससे बचने का एकमात्र साधन है। विद्यालयों में प्रायः इस आयु के बालक कम रहते हैं। अतः अभिभावकों को इससे अधिक सतर्क रहना चाहिए।

मस्तिष्क और सुषुम्ना की झिल्ली का सूजना[2]

इस रोग में मस्तिष्क और सुषुम्ना की झिल्ली सूज आती है। यह रोग प्रायः ५ वर्ष तक के बच्चों को होता है और इसकी सम्प्राप्तिकाल २ से ५ दिन तक का रहता है।

---

1. Infantile Paralysis. 2. Cerebro Spinal Fever Meningites.

१. श्वासोच्छ्वास-सम्बन्धी : यह बिल्कुल जुकाम की भाँति होता है। इसमें निमोनिया हो जाने का अधिक भय रहता है।

२. स्नायविक : इसमें सिर तथा कमर में अधिक पीड़ा होती है तथा रोगी को नींद नहीं आती और मानसिक बेचैनी बढ़ जाती है।

३. पाक-स्थली-सम्बन्धी : इसमें अपच पैदा हो जाता है और रोगी वमन तथा पेचिश से बहुत निर्बल हो जाता है। रोग मुक्त हो जाने पर भी अपच की शिकायत कुछ दिनों तक बनी रहती है।

क्षय रोग[1]

यह बड़ा भयङ्कर संक्रामक रोग है। रावर्ट कोच के १८८२ के अनुसन्धान के फलस्वरूप पता चला है कि इसके कीटाणु दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनका प्रकोप मनुष्यों पर होता है और दूसरे वे हैं जिनसे पशु ग्रसित होते हैं। ये कीटाणु शरीर के किसी भी अंग को प्रभावित कर सकते हैं। परन्तु विशेषतया इनका आक्रमण फेफड़े पर ही होता है। अंग विशेष पर आक्रमण करने के कारण कभी-कभी व्यक्ति का एक अंग ही रोगी रहता है। इसे हम निम्नलिखित दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

१. फुफ्फुसीय[2] २. अनुफुफ्फुसीय[3]

फुफ्फुसीय बच्चों को नहीं होता। इसे तपेदिक या राज्यक्षमा भी कहते हैं। इसके होने के पूर्व निर्धारित[4] तथा निश्चयात्मक[5] दो कारण हो सकते हैं।

शरीर में क्षय रोग के कीटाणुओं के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ जिन कारणों से उत्पन्न होती हैं उन्हें पूर्व निर्धारित कारण कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न करने में निम्नलिखित परिस्थितियाँ एवं वातावरण का हाथ रहता है :—

(अ) वंश परम्परा : जैसे यदि पिता को यह रोग होगा तो सम्भव है पुत्र भी इसका रोगी होगा।

---

1. Tuberculosis. 2. Pulmonary. 3. Non-Pulmonary.
4. Predisposing. 5. Determining.

जैसा कि बताया जा चुका है क्षय रोग के कीटाणु शरीर के किसी भाग पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं, परन्तु अस्थियाँ और उनके जोड़ों, लसिका-ग्रन्थियों, मस्तिष्क, सुषुम्ना झिल्ली एवं आँत की उपरी झिल्ली पर इनका प्रभाव अधिक पड़ता है। लसिका ग्रन्थियों में विशेषतया कण्ठनलिका से लसिका ग्रहण करने वाली गर्दन की ग्रन्थियाँ अधिक रोग-ग्रसित होती हैं। इनमें सूजन आ जाती है और बाद में ये फूट जाती है जिनसे मवाद बहने लगता है।

रोग ग्रसित होने वाले जोड़ और अस्थियों के अंग में घुटने, टखने तथा रीढ़ खम्भे सम्मिलित हैं। इनमें पहिले पीड़ा होती है और मवाद पड़ जाती है। फलतः ये जोड़ निष्क्रिय हो जाते हैं।

उपचार :

ग्रन्थियों से सम्बन्धित रोग के उपचार में सेनोटोरियम का वातावरण तथा पराकाशनी रश्मियाँ[1] विशेष महत्त्व रखती हैं। अस्थियों और जोड़ सम्बन्धी रोग में सूर्य-उपचार महत्त्वपूर्ण है। शल्य-शास्त्र सम्बन्धी अस्पतालों और विशेष प्रकार के सेनोटेरियम में इनका उपचार कराना चाहिए। रोग ग्रसित बालकों के लिए सेनोटेरियम में ही पढ़ने की व्यवस्था उपयुक्त होगी। सामान्य स्कूलों में इनकी शिक्षा देना संक्रमण का साधन बन जाता है। रोग की प्रारम्भिक स्थिति में तो बालक सामान्य विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने योग्य रह भी सकता है। परन्तु इसके बाद की स्थिति में अंगों में विकृतियों के आ जाने से इस योग्य वह नहीं रह सकेगा कि शिक्षा ग्रहण कर सके।

सारांश

संक्रमण से फैलने वाले रोगों का प्रभाव विद्यालयों पर बहुत बुरा पड़ता है। विद्यालय में एक साथ बहुत से विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। ये विभिन्न परिवारों तथा स्थानों से आते हैं। यदि विद्यालय में कोई संक्रामक रोग फैल जाता

1. Ultra-violet Rays.

२. खसरा तथा जर्मन खसरा में क्या अन्तर है ?

३. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए।

 १. डिक टेस्ट, २. परांकाशनी रश्मियाँ, २. जिह्वा और हन्व-घर गिल्टियाँ।

४. क्षय रोग के पूर्व निर्धारित एवं निश्चयात्मक कारणों पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

५. संक्रामक रोग की रोकथाम में विद्यालय कहाँ तक उत्तरदायी है।

३. जटिल अस्थि-भङ्ग[1] :

विषम अस्थिभंग की अपेक्षा सरल अस्थि भंग साधारण होती है, परन्तु यदि सतर्कतापूर्वक उपचार न किया गया तो इसका भी रूप बड़ा ही गम्भीर हो जाता है। क्योंकि इस प्रकार की टूटी हुई हड्डी अपने समीपवर्ती शरीर के भीतर भाग को आहत कर देती है।

४. कच्ची टूट[2] :

इस प्रकार प्रायः छोटे बच्चों की हड्डियाँ टूटती हैं, क्योंकि उनकी हड्डियाँ बड़ी कोमल होती हैं। आघात पड़ने पर वे टूटती नहीं प्रायः झुक कर टेढ़ी हो जाती है।

५. बहु खन्ड अस्थि-भङ्ग[3] :

आघात की गम्भीरता के फलस्वरूप यदा-कदा हड्डियों के कई टुकड़े हो जाते हैं। इसे बहु खन्डी अस्थि भंग कहते हैं।

अस्थि भङ्ग के लक्षण :

हड्डियों के टूट जाने पर टूटी हुई हड्डी वाले अंग में सूजन आ जाती है। पीड़ा होती है। सम्बन्धित अंग शक्तिहीन हो जाता है। वह अपने स्वाभाविक रूप में संचालित नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि टूटा हुआ अंग टूट की प्रकार और गम्भीरता के अनुसार हिल-डुल भी नहीं पाता। ऐसे अंग को हिलाने-डुलाने पर जब टूटी हुई हड्डी के सिरे आपस में रगड़ खाते हैं तो किर-किराहट की ध्वनि उत्पन्न होती है।

अस्थि भङ्ग के उपचार :

हड्डी की टूट का उपचार तत्कालीन उसी स्थान पर करना चाहिए जहाँ घटना घटी हो। जब तक टूट के अङ्ग पर पट्टी आदि बाँध कर उसे स्थिर न कर दिया जाए दुर्घटनाग्रस्त बालक तथा अङ्ग को हिलाना-डुलाना हानिकारक सिद्ध होगा। टूटी हुई हड्डी को जोड़ने के लिए पटरी रख कर चौड़ी पट्टी से इस प्रकार बाँध देना चाहिए जिससे वह हिल-डुल न सके। यदि दुर्घटना ग्रस्त बालक

1. Complicated fracture. 2. Green Stick Fracture.
3. Comminuted fracture.

इसे ही मोच कहते हैं। कभी-कभी ये तन्तु केवल खिंच कर ही रह जाते हैं, टूटते नहीं।

लक्षण :

हड्डियों के स्थान-च्युत होने की भाँति इसमें भी पीड़ा अधिक होती है और अंग में सूजन आ जाती है। चमड़े का रङ्ग परिवर्तित हो जाता है तथा सम्बन्धित अंग निष्क्रिय हो जाता है।

उपचार के नियम :

जिस अङ्ग में मोच आयी हो उस पर तुरन्त कसकर पट्टी बाँध देना चाहिए। पट्टी को ठंडे पानी से भिगो देना चाहिए जिससे वह अङ्ग को और जकड़ ले। मोच आये हुए अंग को पूर्णतया आराम देना चाहिए। पीड़ा को कम करने के लिए शीतल जल की पट्टी तथा अफीम का प्रयोग किया जा सकता है। यदि ठंडे पानी से पीड़ा कम न हो तो गरम पानी की मालिश करनी चाहिए।

झुलस जाना अथवा जलना[1]

यह घटना प्रायः विद्यालय के रसोई घर या विज्ञान-शाला में घटती है। भाप अथवा गरम तरल पदार्थ से पीड़ित होने को झुलसना तथा आग की लपट, गरम धातु के टुकड़े, बिजली की धार, अम्ल, तथा क्षार से पीड़ित होने को जलना कहते हैं। ये दोनों स्थितियाँ बड़ी ही दुखदाई होती हैं और इनका प्रभाव शरीर पर एकसा ही पड़ता है।

लक्षण :

चमड़े पर तत्काल फफोले पड़ जाते हैं अथवा लाल हो जाता है। चर्म-तन्तु नष्ट हो जाते हैं। असह्य पीड़ा होती है। कभी-कभी जले हुए अंग का कपड़ा चमड़े से चिमट जाता है। जलने पर जब फफोले पड़ जावें तो समझना चाहिए कि यह जलन अधिक गम्भीर है। फफोले पड़ने पर चमड़ा, चर्म में स्थित स्नायुओं के सिरे और कभी-कभी मांस भी नष्ट हो जाता है। ऐसी जलन गम्भीर अवश्य होती है, परन्तु इसमें पीड़ा कम होती है। इसका कारण है चर्म स्नायुओं के सिरों का नष्ट हो जाना। ये संदेश-वाहन का कार्य नहीं कर पाते। अधिक

---

1. Scalds and Burns.

तब तक करनी चाहिए जब तक कि आग की लपटें बुझ न जावें। इस प्रकार से जले हुए व्यक्ति को फर्श पर सावधानी से लिटा देना चाहिए। अध्यापकों को चाहिए कि सभी बालकों को इससे अवगत कर दें।

रक्त-स्राव[1]

रक्त-नलिकाओं के अनुसार रक्त-स्राव तीन रूप में होता है। केशिका, शिरा या धमनी-किसी भी नलिका के कट जाने पर रक्त बहने लगता है। केशिका के कटने के कारण होने वाला स्राव साधारण; शिरा के कटने पर गम्भीर तथा धमनी द्वारा होने वाले रक्त स्राव असाधारण और बड़ा ही गम्भीर होता है।

केशिका द्वारा रक्त-स्राव[2] :

केशिका के कट जाने पर, धीरे-धीरे साधारण रूप में खून बहने लगता है।

उपचार :

जहाँ से रक्त बह रहा हो उस अंग पर ठण्डे पानी की पट्टी बाँध देनी चाहिए और उस अंग को ठन्डे पानी में थोड़ी देर तक डुबाये रखना चाहिये।

शिरा से रक्त-स्राव[3] :

यह शिराओं द्वारा संचालित होता है। इसके बहने की गति तीव्र और रक्त का रंग कुछ नीलापन लिये हुए गहरा लाल होता है। यह हृदय की विपरीत दिशा की ओर से बहता है।

उपचार :

सर्वप्रथम घायल अंग को नीचा कर देना चाहिए। घाव पर ठण्डे पानी की पट्टी बाँधनी चाहिए तथा घायल अंग के उस स्थान पर जो दिल के परे हो टूर्नीकेन्ट[4] बाँधना चाहिए। इस प्रकार रक्त-स्राव बन्द किया जा सकता है।

धमनी द्वारा रक्त-स्राव[5] :

यह सबसे गम्भीर होता है। इसमें रक्त दिल के पास वाले भाग की ओर से निकलता है। रक्त उछलता हुआ तीव्र गति से बहता है। इसके उछाल की गति दिल के धड़कन की गति का अनुसरण करती है।

---

1. Bleeding. 2. Capillery Bleeding. 3. Venous Bleeding. 4. Tourniquent. 5. Arterial Bleeding.

स्थानों द्वारा रक्त प्रवाह को नियन्त्रित करके उसे निकालना चाहिए। घाव पर प्रायः रक्त का थक्का जमा जाता है। इस थक्के को हटाना चाहिए। घाव के पास की गन्दगी को स्वच्छ गरम जल से धो देना चाहिए। घाव की ओर से अगल-बगल की तरफ धोना ठीक होगा। घाव की ओर को धोने से चर्म की गन्दगी का घाव में प्रवेश करने का भय रहेगा। धोने के पश्चात् घाव पर टिंचर अथवा स्प्रिट में स्वच्छ कपड़ा भिगोकर रख देना चाहिए जिससे कीटाणु न प्रवेश कर सकें। पैड तथा शुद्ध जालीदार कपड़े की पट्टी बाँध देनी चाहिए। बड़े तथा टूट वाले घावों की सफाई में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है। अतः यदि सम्भव हो तो इसकी सफाई डाक्टर द्वारा ही करवायी जाय।

कभी-कभी साधारण चोटों के लग जाने से चर्म के नीचे की सूक्ष्म रक्त-वाहिनियाँ टूट जाती हैं। इससे शरीर का वह अंग नीला पड़ जाता है। सूजन आ जाती है तथा दर्द भी होने लगता है। इसके उपचारार्थ बर्फ के पानी में कपड़ा भिगोकर आहत अंग पर रखना लाभदायक है। गरम पानी की सिकाई से भी आराम मिल सकता है।

कीड़ों का डंकन तथा काटना[1]

कीड़ों के डंक मारने तथा काटने से न तो कोई बड़ा घाव होता है और न रक्त ही अधिक बहता है, परन्तु इसके द्वारा शरीर में विष फैल जाता है।

उपचार :

कभी-कभी डंक मारनेवाले कीड़ों के डंक शरीर में ही टूट जाते है। भिड़ तथा मधु-मक्खियों के दंशन में ऐसा प्रायः होता है। टूटे हुए डंक को सावधानी के साथ निकाल लेना चाहिए। घाव से थोड़ी देर तक रक्त बहने देना चाहिए। विषैला रक्त निकल जाने के पश्चात् घाव को गरम पानी तथा साबून से धोकर लाल दवा[2] लगानी चाहिए।

विष बाहर निकालने के लिए घाव पर मुँह रख कर खून चूस लेना चाहिए, और चूसा हुआ खून तत्काल बाहर थूक देना चाहिए। ऐसा करने के

---

1. Insect Slings and Bites. 2. Mercury Iouiae.

उपचार :

ऐसी स्थिति में कान में तेल डालने पर कीड़ा अथवा तिनका आदि या तो निकल जायगा या और ऊपर आ जायगा। इसके अतिरिक्त कान में किसी चीज़ या यन्त्र को डाल कर उसे निकालना उचित नहीं, क्योंकि कान का पर्दा बड़ा कोमल होता है, हल्की चोट से भी फूट जाता है। अतः डाक्टर को दिखाना ही श्रेयस्कर होगा।

गले में विजातीय पदार्थ :

कभी-कभी छोटे बच्चे गले में पैसा या खेलने की वस्तुएँ आदि डाल लेते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी साँस रुकने लगती है। चेहरा नीला पड़ जाता है। वे चेतना शून्य होने लगते हैं।

उपचार :

ऐसी परिस्थिति में तत्काल उपचार करने की आवश्यकता होती है। सर्व-प्रथम यदि बच्चा छोटा है तो उल्टा करके टांग देना चाहिए, इससे सरलतापूर्वक पदार्थ के निकलने की सम्भावना रहती है। गले में जहाँ तक जा सके, उँगली डाल कर वस्तु को बाहर निकालना चाहिएं। पीठ पर कन्धों के बीच में जोर से धक्का देने अर्थात् थपथपाने पर भी ऐसे पदार्थ निकल आते हैं। अधिक दम घुटने पर कृत्रिम श्वास का प्रयोग करना चाहिए।

नाक में विजातीय पदार्थ :

बच्चे स्वभावतया नाक में तिनके आदि डालते रहते हैं। कभी-कभी ये टूट कर नाक में ही रह जाते हैं। ऐसी परिस्थति में नाक में पीड़ा होती है तथा पदार्थ के आकार के अनुसार कभी-कभी सांस का आना जाना भी रुक जाता है।

उपचार :

ऐसी परिस्थिति में सर्वप्रथम नाक से साँस लेना बन्द करा देना चाहिए। नाक के दूसरे छेद को बन्द करके जोर से छींकना चाहिए। सुघंनी आदि ऐसी चीजों का प्रयोग करना चाहिए जिससे छींकें आवें। फिर भी स्थिति न सुधरे तो डाक्टर को दिखाना चाहिए।

यदि रोगी गम्भीर रक्त-स्राव के कारण बेहोश हुआ हो तो रक्त-स्राव के बन्द कर लेने के पश्चात् ही उसे होश में लाना उचित होगा। ऐसी परिस्थिति में किसी प्रकार का उत्तेजक घोल या पदार्थ रोगी को नहीं देना देना चाहिए। अन्य कारणों से आयी बहोशी के बाद उड़ने वाले नमक का घोल, काफी, गरम दूध, चाय गोश्त का शोरबा आदि पिलाया जा सकता है।

आघात[1] :

सदमे या आघात के पहुँचने पर नाड़ी-जाल-क्रम शिथिल पड़ जाता है। मांसपेशियाँ और स्नायु निर्जीव से हो जाते हैं। रक्त का दबाव कम हो जाने के कारण रोगी को ठंड लगने लगती है। श्वासोच्छ्वास उथली हो जाती है तथा नाड़ी शिथिल हो जाती है।

उपचार :

ऐसी स्थिति में रोगी कभी-कभी सचेत भी रहता है। सचेत रहने पर उसे गरम पेय, काफी, चाय, तथा गरम दूध, आदि देना चाहिए। अचेतन अवस्था में गरम पानी वाली रबड़ की थैली तथा कम्बल के प्रयोग से गरमी पहुँचानी चाहिए।

मस्तिष्क विकम्पन[2]

यह सिर पर गहरी चोट या धक्का लगने के कारण विकम्पन होता है; तो ऐसी स्थिति में रोगी का चेहरा पीला पड़ जाता है। साँस उथली हो जाती है। शरीर ठन्डा हो जाता है और कभी-कभी होश आने पर रोगी वमन करता है।

उपचार :

ऐसी परिस्थिति में बड़ी सावधानी से काम करना चाहिए, क्योंकि यह स्थिति बड़ी ही गम्भीर होती है। यथासम्भव तत्काल डाक्टर को बुलाना चाहिए और उन्हीं के द्वारा उपचार होना चाहिए। रोगी को बेहोश होने वाले

---

1. Shock 2. Concussion.

रहना चाहिये। गले में उँगली डाल कर भी वमन कराना चाहिए। वमन किये गये पदार्थ को डाक्टर के परीक्षणार्थ रखना आवश्यक है।

कुछ विष ऐसे होते हैं जिसमें नींद अधिक आती है। ऐसी स्थिति में रोगी को किसी न किसी तरह जगाये रखना चाहिए। इसके लिए गरम पेय, काफी, तथा चाय आदि पिलाना चाहिए। सांस रुक जाने पर कृत्रिम सांस देनी चाहिए। फासफोरस वाले विष के अतिरिक्त अन्य विषों की प्रतिकारक औषधियों के सेवन के पश्चात रोगी को दूध, अन्डा तथा घी आदि चिकने पदार्थ खाने को देना चाहिए।

लू और गरमी[1]

सूर्य के तेज प्रकाश अर्थात् कड़ी धूप के देर तक लगने पर लू लग जाती है। लू लगने पर व्यक्ति का ताप अत्यधिक बढ़ जाता है। रोगी बेचैन हो जाता है। प्यास अधिक लगती है, श्वास की गति तीव्र हो जाती है। यहाँ तक कि रोगी हाँफने लगता है। बेहोशी भी आ जाती है। यही लक्षण गर्मी लगने पर भी दृष्टिगोचर होते हैं; परन्तु गर्मी धूप के अतिरिक्त भी किसी प्रकार की तीव्र गर्मी के कारण लग सकती है।

उपचार :

लू तथा गर्मी में शरीर का ताप बढ़ जाता है। अत: इसके उपचार के अन्तर्गत ताप को कम करने की विधियों को अपनाया जाता है। गर्मी शान्त करने हेतु सर्वप्रथम रोगी को धूप में से ले जाकर छायादार स्थान पर लिटा देना चाहिए। रोगी के वस्त्रों को उतार देना चाहिए। गर्दन तथा सिर पर बर्फ मलनी चाहिए या बर्फ की टोपी रखनी चाहिए। रोगी को प्यास अधिक लगती है। उसे पीने के लिए ठंडा पानी देना चाहिए। गम्भीर स्थिति में डाक्टर को तत्काल बुलाना चाहिए।

पानी में डूबना[2]

कुछ देर तक पानी में डूबा रहने पर व्यक्ति की सांस रुक जाती है और वह चेतनाशून्य हो जाता है। देर तक डूबे रहने से शरीर का ताप बिल्कुल कम

---

1. Sun stroke and Heat stroke. 2. Drowning.

इनके उपचार में रोगी का उपचार घटना स्थल पर ही तत्काल करना चाहिए। हिलने-डुलने से स्थिति के अधिक गम्भीर हो जाने की सम्भावना रहती है। रोगी को सान्त्वना देनी चाहिए। सर्वप्रथम रक्त-स्राव को रोक कर संक्रमण से बचाने हेतु घाव पर पट्टी बांध देनी चाहिए। यदि टूटी हड्डी का पता न चले तो बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है।

झुलस जाना अथवा जलना

भाप तथा गरम तरल पदार्थ से पीड़ित होने को झुलसना तथा आग की लपट, गरम धातु से टुकड़े, बिजली की धार, अम्ल तथा क्षार से पीड़ित होने को जलना कहते हैं।

उपचार :

जलते समय बुझाने के लिए उसे फर्श पर लिटाकर तब तक लुढ़काना चाहिए जब तक आग बुझ न जाय। कम्बल से लपेट देना चाहिए। सम्भाल कर कपड़े उतार लेना चाहिए।

रक्त-स्राव

यह केशिका, धमनी, शिराओं और नाक से प्रायः होता है। धमनी द्वारा होने वाला रक्त स्राव बड़ा गम्भीर होता है।

उपचार :

रक्त स्राव में ठंडे पानी को पट्टी, टूर्नीकेट, फिटकरी के घोल का प्रयोग करना चाहिए।

घाव अथवा चोट

उपचार :

सर्वप्रथम रक्त-स्राव बन्द करके घाव पर पट्टी बांध कर संक्रमण से बचाना चाहिए। घाव में घुसी हुई चीज को रक्त प्रवाह को दबाव स्थान के सहारे नियन्त्रित करके निकालना चाहिए। घाव सफाई से धोकर स्प्रिट या टिंचर लगाना चाहिए।

रोगी का पानी उल्टा करके बाहर निकाल कर कृत्रिम श्वास जारी करनी चाहिए। आवश्यक ताप प्रदान करना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. विद्यालय में प्राथमिक चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान प्रदान करने का क्या महत्त्व है ?
२. अस्थि-भङ्ग के प्रकार तथा उनके प्राथमिक उपचार का वर्णन कीजिए।
३. रक्त-स्राव किन-किन दशाओं में होता है ? उपचारात्मक विधियों पर प्रकाश डालिए।
४. व्यक्ति किन-किन परिस्थितियों में साधारणतया चेतनारहित हो जाता है ? उपचार की विधियाँ क्या हैं ?
५. विजातीय पदार्थों द्वारा व्यक्ति कैसे पीड़ित होता है। उपचार क्या हैं ?